पुस्तक – वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

[illegible] १९८४-१९८५

IVth paper.

हिन्दू सामाजिक संस्थाएँ

शिवस्वरूप सहाय, एम० ए०, बी एड०
अध्यक्ष : प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, टाउन डिग्री कालेज, बलिया

किताब महल (होलसेल डिविज़न) प्राइवेट लिमिटेड
रजि० ऑफिस, ५६-ए ज़ीरो रोड, इलाहाबाद
कलकत्ता * बम्बई * दिल्ली * जयपुर * हैदराबाद * पटना

श्रद्धेय

पिता जी

श्री राजेश्वरीप्रसाद

एवं

श्रद्धामयी

माताजी

श्रीमती रामलली देवी

को

सादर समर्पण

जिनके प्रयास से मेरे जीवन को यह गति मिली

संस्करणः प्रथम १८८३ शकाब्द

प्रकाशक : किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

मुद्रक : प्रेम प्रेस, कटरा इलाहाबाद

आवरण मुद्रक : ईगल आफसेट प्रिंटर्स, १५ थार्नहिल रोड, इलाहाबा

सूची

अध्याय १

हिन्दू धर्म के स्रोत

हिन्दू धर्म के स्रोतों को निश्चित करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि हिन्दू और धर्म शब्द का क्या अभिप्राय है? जब तक इसके वास्तविक अर्थ से हम परिचित नहीं होते तब तक धर्म के स्रोतों का निर्धारण बड़ा ही जटिल है। हिन्दू शब्द का प्रयोग हम दैनिक व्यवहार में करते हैं। उन्हीं लोगों को हम हिन्दू कहते हैं जो भारत के रहने वाले, चाहे जिस किसी भी जाति के, हों और भारत के अन्दर विकसित किसी न किसी धर्म का अनुसरण करते हों। इस प्रकार यह शब्द अपनी परिधि में बड़ा ही व्यापक अर्थ रखता है। भारतीय धर्मों के किसी एक वर्ग का मानने वाला चाहे वह पहले विदेशी ही क्यों न रहा हो पर यदि वह भारत का नागरिक बन गया है और उसके संपूर्ण जीवन का क्रिया-व्यापार भारतीय परम्पराओं में आबद्ध हो गया है तो वह हिन्दू शब्द से संबोधित किया जाता है। इसीलिए चिर पुरातन में बख्त्री, यवन, सीथियन, पार्थियन आदि जितने भी विदेशी आक्रमणकारी भारत आकर यहाँ बस गए उनके नाम के आगे अंग्रेजी इतिहासकारों नें 'इण्डो' शब्द जोड़ दिया। आक्रमण के कुछ ही काल बाद उनका परिवार पूर्ण भारतीय बन गया तथा उन्हें हिन्दू नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। उनका अलग व्यक्तित्व समाप्त हो गया। इस संदर्भ में अनेक बार 'धर्म' शब्द को दुहराया गया है। इसलिए धर्म का अर्थ समझना भी आवश्यक है। हमारा यहाँ धर्म की व्याख्या से उद्देश्य है भारतीय धर्म से।

कुछ विचारकों के लिए वास्तव में यह बड़ा ही अप्रिय लगता होगा कि जब धर्म विश्व सत्य है तो फिर इसमें भारतीय, चीनी, जापानी आदि विभेद क्यों है? वास्तव में धर्म का स्वरूप विश्व स्वरूप है, परन्तु उस विश्व स्वरूप को कहीं उदार वृत्ति से आँका गया, कहीं विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से और कहीं अंधविश्वास से। इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिए धर्म के साथ जाति अथवा स्थान का विशेषण जोड़ दिया गया है यथा—इसाई धर्म, हिन्दू धर्म आदि। 'धर्म' की व्युतपत्ति 'धृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'रक्षा करना तथा धारण करना'[1]। यह हुआ शाब्दिक अर्थ। परन्तु जब हम व्यवहारिक अर्थ लेते हैं तो हम देखते हैं कि जितनी भी धार्मिक क्रियाएँ हमारे जीवन में चाहे जिस किसी भी प्रकार कीं हों वह धर्म की ही परिधि में परिगणित की जाती

१. हिस्ट्री आफ हिन्दू धर्म शास्त्र काणे (भाग १) पृ० १–४.

है। परन्तु इसके साथ ही जो कुछ भी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि जीवन में औचित्य होता है उसे भी धर्म की ही परिधि में परिगणित किया जाता है। इस प्रकार जो कुछ भी धर्म शब्द के अनुरूप होकर उसकी परिधि में आता है वह तो धर्म कहलाता ही है परन्तु उसके साथ वह सम्पूर्ण क्रियाएँ जो इसके बाह्य पक्ष, कर्मकाण्ड, के द्वारा क्रियात्मक रूप से आत्मशुद्धि करती हैं वह भी धर्म ही कहलाती हैं। यह धर्म के दो पहलू हैं अथवा दो अर्थ हैं : संकुचित अर्थ और व्यापक अर्थ। धार्मिक क्रियाएँ इसके संकुचित अर्थ की द्योतक हैं और जीवन-व्यापार की व्यावहारिक क्रियाएँ व्यापक पक्ष की। इसीलिए स्मृतिकारों और दूसरे धर्मशास्त्रकारों ने भी इसका दो स्वरूप बताया है : श्रौत एवं स्मार्त। श्रौत धर्म से अभिप्राय श्रुति में वर्णित धर्म से है। चूँकि श्रुति में धर्म का प्रयोग इसके संकुचित अर्थ, कर्मकाण्ड, में ही हुआ है अतएव इसमें हम धर्म के संकुचित अर्थ से परिचित होते हैं। पर स्मृतियों में वर्णित विषय जीवन के विविध अंगों और पहलुओं से सम्बन्धित हैं, अतएव स्मृतियों में वर्णित धर्म जिसे स्मार्त धर्म कहा जाता है उससे हमारा अभिप्राय है जीवन के विविध क्षेत्रीय धर्म से अथवा औचित्य से। इसी दूसरे पक्ष का अध्ययन हम समाज के सम्बन्ध में करते हैं क्योंकि पहला पक्ष तो पूर्ण व्यक्तिगत है।

'धर्म' के दूसरे पक्ष के अध्ययन का स्रोत क्या है इसी की व्याख्या समाज के पूर्व आवश्यक है, क्योंकि बिना साधनों को निश्चित किए एवं उनकी सापेक्षिक महत्ता का निर्णय किए समाज की व्याख्या में किस साधन को और कब प्राथमिकता दें नहीं कहा जा सकता।

प्रकार

जब विभिन्न धर्म ग्रंथों के आधार पर इसका प्रकार निश्चित करते हैं तो यही ज्ञात होता है कि अलग-अलग धर्म ग्रंथ अलग-अलग तथा समय के अनुसार विस्तृत प्रकारों का विवेचन करते हैं। इससे यह अनुभव होता है कि जैसे समय बीतता गया लोगों का विवेक विकसित होता गया और इसी से प्रकारों में भी क्रमशः वृद्धि होती गई तथा इस सम्बन्ध की नवीन रचनाएँ साहित्यिक जगत में आती गईं।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र में वर्णित सभी साधनों में वेद की ही प्रधानता दी गई है। आपस्तम्ब ने कहा कि '**धर्मज्ञ समयः प्रमाण वेदाश्च**'[1]। इसके बाद गौतम धर्मसूत्र में कई स्रोतों का वर्णन मिलता है। गौतम के अनुसार वेद, स्मृति एवं शील यह तीनों ही धर्म के प्रमाण हैं।[2] याज्ञवल्क्य ने इनकी संख्या और भी विस्तृत कर दिया। उन्होंने श्रुति, स्मृति, सदाचार, प्रियमात्मन एवं सम्यक संकल्प इन्हीं पाँच को प्रमुख

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र

२. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्—गौतम धर्मसूत्र।

रूप से धर्म का स्रोत माना। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने पुराणों को भी इसी तालिका में सम्मिलित कर लिया।[1] मीमांसा, निबन्ध और न्याय के ग्रंथ जो पीछे लिखे गए उनमें भी सामाजिक धर्म का कुछ विवरण प्राप्त है। अतएव इसे भी हम साधन रूप में स्वीकार कर सकते हैं। समाज का विवेक साधारण व्यक्तियों के हाथ में न होकर श्रेष्ठ पुरुषों के हाथ में होता है जिन्हें हम युगपुरुष कह सकते हैं। इसका कारण यह है परिस्थितियों के बदलने पर उन्हीं की क्रियाएँ युग प्रमाण मानी जाती हैं। जनता उसी का अनुकरण करती है। अतएव श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण भी समाज के लिए धर्म माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव की वर्तमान सभा जिस प्रकार तात्कालिक परिस्थितियों पर आज निर्णय देती है उसी प्रकार प्राचीन काल में परिषदें होती थीं जो धर्म के सम्बन्ध में नवीन परिस्थितियों में निर्णय देती थीं। अतएव इसे भी स्रोतों की कोटि में सम्मिलित किया जा सकता है।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन के आधार पर धर्म के स्रोतों में क्रम से श्रुति, स्मृति, सदाचार, प्रियमात्मक, सम्यक संकल्प, पुराण, मीमांसा, निबंध और न्याय, श्रेष्ठ पुरुष का आचरण तथा परिषद को स्वीकार किया जा सकता है।

स्रोतों का अध्ययन

१. श्रुति—इसी को ही सभी स्मृतिकार, धर्म सूत्र तथा शास्त्रकार, मीमांसा निबन्ध एवं न्यायकार, पौराणिक आदि वास्तविक स्रोत मानते हैं। अपने प्रमाण के लिए इसे ही आदर्श बनाते हैं तथा इसकी ओर पूर्ण श्रद्धा एवं निष्ठा रखते हैं। इसके अनुशासनों को समुचित आदर का स्थान देते हुए अपने निर्णयों को व्यक्त करते हैं। इसीलिए पीछे के कुछ शास्त्रों को महत्ता प्रदान करने के लिए उनके रचयिताओं ने उनके नाम के पीछे 'वेद' शब्द जोड़ दिया। इसी से धनुष चलाने के शास्त्र को धनुर्वेद तथा चिकित्सा करने वाले शास्त्र को आयुर्वेद की संज्ञा दी गई है। सामान्य व्यक्ति में भी वेद के प्रति इसी आस्था का भाव बना है। इसका स्पष्ट उदाहरण है कुन्ती का नियोग करना। कुन्ती नियोग प्रथा के विरुद्ध थी तथा पाण्डु निर्वीर्य ही थे। वह संतान के अभाव में नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न कराना चाहते थे, अतएव कुन्ती को इसके लिए यह कहने मात्र से ही उन्होंने अपने विचारों के अनुरूप बना दिया कि 'वेद के अनुसार पति की इच्छा का पालन करना ही पत्नी का धर्म है। चूंकि मैं यह चाहता हूँ अतएव तुम इसे करो।'[2] इसका परिणाम यह हुआ कि कुन्ती ने नियोग द्वारा क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न किया।

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति, १,१३।

२. भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यंवाऽधर्म्यमेव वायद्ब्रूयात्तत्तथाकुर्यादिति वेदविदो विदुः॥ १,१२

इसीलिए वेद में वर्णित बहुत सी प्रथाएँ चिर अतीत से वर्तमान काल तक अपने उसी रूप में समाज में विद्यमान हैं यथा : और से पुत्र को महत्ता, गांधर्व एवं आसुर विवाह, दाय का बँटवारा बहनों में न होना आदि। धर्मशास्त्रों के वर्णित विषय में भी बहुत से विषय और उनका निर्णय भी ठीक वही है जो श्रुति में प्राप्य हैं। फिर भी पीछे के ग्रंथों में विभिन्न ऐसे विषय यथा : वर्ण, आश्रम, प्रायश्चित, पंचमहायज्ञ, संस्कार, ऋण आदि का वर्णन है जिनका उल्लेख श्रुति में बिल्कुल ही नहीं है।

श्रुतियों में वर्णित विषयों के इतर जो कुछ भी दूसरे शास्त्रों में वर्णित है उसका प्रमुख कारण यह है कि श्रुति का अधिकार यद्यपि सर्वोपरि है फिर भी जो कुछ दूसरे शास्त्रों में वर्णित है वह भी श्रुति की मान्यता को स्वीकार करते हुए। इसके अतिरिक्त श्रुति की परिधि में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद में वर्णित विषयों को भी स्थान दिया गया। वैदिक ऋचाओं के साथ वैदिक साहित्य में वर्णित कथा तथा व्याख्या को भी वही मान्यता दी गई जो श्रुति को। आपस्तम्ब ने तो यहाँ तक कहा है कि वैदिक मन्त्रों का प्रयोग प्रामाणिकता के लिए स्मृतिकारों को उद्धृत करने की कोई आवश्यकता नहीं।[१] जैमिनी ने मीमांसा में कहा कि वैदिक साहित्य की व्याख्या के आधार पर ही अधिनियम बनाया जा सकता है। इसीलिए तैत्तरीय संहिता में वर्णित मनु के पुत्रों के बीच का बँटवारे की कथा को पीछे अधिनिय के रूप में स्वीकार कर लिया गया कि पिता के जीवित रहते पुत्रों में बँटवारा हो सकता है। इसी प्रकार नचिकेता की कथा के आधार पर पिता के अधिकार को स्वीकार किया गया। पुनः यास्क ने निरुक्त में कहा कि वैदिक ऋचायें अनेकों थीं जिनमें से सब वेद में संकलित नहीं की जा सकीं। यदि किसी स्मृति का कोई अधिनियम वेद में अपना साक्ष न रखे तो यह मान कर उसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि यह भी वैदिक साहित्य के ही आधार पर है। यह बहुत बड़ी छूट यास्क ने दी। कुमारिल ने इसे और सरल बनाने के लिए कहा कि, वैदिक साहित्य के उद्धरणों के अभाव में केवल उसका प्रारूप मात्र उल्लिखित करना ही पर्याप्त है।[२]

इसीलिए हम देखते हैं कि मनुस्मृति में केवल एक स्थान पर ही वैदिक ऋचायें उद्धृत हैं तथा सूत्र साहित्य में भी बहुत ही कम स्थलों पर वेद के उद्धरण अंकित हैं निबन्धकार यद्यपि पुराण, स्मृति, महाकाव्यों का अंश उद्धृत करते हैं फिर भी श्रुति की महत्ता को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सदा श्रुति को अत्यधिक महत्ता तो प्रदान की गई फिर भी उसके वाक्यों की प्रभुता सदा नहीं मानी गयी इसके प्रभुता के अभाव का कारण है कि वैदिक भाषा पीछे जनसमुदाय के लि

१. अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुराचार्याः। २,१४,१३।

२. यास्क का निरुक्त—१, ७।

अग्राह्य हो चुकी थी तथा पुरानी वैदिक परम्पराएँ और यज्ञ युग धारा में विलीन हो चुकी थीं। इसके बाद पुनः धर्म के क्षेत्र में स्मृति की प्रभुता को स्वीकार किया गया।

२. स्मृति—मनु ने श्रुति तथा स्मृति की महत्ता को समान ही माना है। गौतम ने भी यही कहा है कि 'वेदो धर्ममूलं तद्विदांश्च स्मृतिशीले'। यद्यपि हरदत्त ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि, स्मृति से अभिप्राय है मनुस्मृति से। परन्तु उनकी यह व्याख्या उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि स्मृति और शील इन शब्दों का प्रयोग स्रोत के रूप में किया है किसी स्मृति ग्रंथ के लिए नहीं। स्मृति से अभिप्राय है उन विचारों से जो मनुष्य की स्मरण शक्ति में पड़े हों तथा शील से अभिप्राय है विनय-पूर्ण व्यवहार से। फिर भी आपस्तम्ब ने अपने धर्म-सूत्र के प्रारम्भ में ही कहा है 'धर्मज्ञ समयः प्रमाणं वेदाश्च।'

छठीं शताब्दी ई० पू० के पहले सामाजिक धर्म वेद एवं वैदिक-कालीन व्यवहार और परम्पराओं पर आधारित था। आपस्तम्ब धर्म सूत्र के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि इसके अधिनियम समयचारिका धर्म के आधार पर आधारित हैं।[1] समयचारिका धर्म से अभिप्राय है सामाजिक परम्परा से। सामाजिक परम्परा का महत्व इसलिए था कि धर्मशास्त्रों का महत्व इसके पूर्व नहीं था।

पीछे स्मृति में पड़ी परम्परागत व्यवहारों का संकलन विभिन्न ऋषियों द्वारा किया गया। अतएव स्मृति की इन परम्पराओं के पुस्तकीकृत स्वरूप का नाम स्मृति रखा गया। पीछे चल कर स्मृति का क्षेत्र और भी व्यापक हो गया। इसके अन्दर विभिन्न धार्मिक ग्रंथ गीता, महाभारत, विष्णु सहस्रनाम की भी गणना की जाने लगी। शंकराचार्य ने इन सभी ग्रन्थों को स्मृति ही माना है। गृह्य सूत्रों को इसीलिए इसमें परिगणित नहीं किया गया कि यह संस्कारों का वर्णन उनके धार्मिक पक्ष से करते हैं न कि सामाजिक-धार्मिक पक्ष से।

यद्यपि स्मृति की भाषा सरल थी, नियम समयानुसार थे, नवीन परिस्थितियों का इनमें ध्यान रखा गया था फिर भी श्रुति की महत्ता इसकी अपेक्षा अत्यधिक स्वीकार की गई। परन्तु पीछे वृहस्पति ने कहा कि श्रुति और स्मृति मनुष्य के दो नेत्र हैं यदि एक को महत्ता दी जाय तो वह आदमी काना हो जायगा।[2] अत्रि ने तो यहाँ तक कहा कि यदि कोई वेद में ही पूर्ण पारंगत हो तथा स्मृति को घृणा की दृष्टि से देखता हो एक्कीस बार पशु योनि में उसका जन्म होगा। वृहस्पति और अत्रि के कथन से इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दोनों की महत्ता अब समान स्वीकार की गई।

---

१. अथातः सामयाचारिकान्धर्मान् व्याख्यास्यामः। १,१,१।

२. श्रुतिस्मृती हि विप्राणां चक्षुषी परमे मते।
काणस्तत्रैकया हीनो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः॥

पीछे चल कर श्रुति की महत्ता के ऊपर स्मृति की महत्ता को स्वीकार कर लिया गया। दत्तक परम्परा का वेदों में जहाँ विरोध है वहीं स्मृतियों में इसे मान्यता दी गई है। इसी प्रकार पञ्च महायज्ञ श्रुतियों की रचना के समय की अपेक्षा स्मृतियों के रचना काल में व्यापक हो गया। वेदों के अनुसार स्वाध्याय का प्रचलन तूफान में, अतिथियों के आने पर, पूर्णिमा के दिन होना चाहिए क्योंकि इन दिनों में सस्वर पाठ करने की मनाही थी। परन्तु स्मृतियों ने स्वाध्याय को भी इन दिनों के लिए बन्द करा दिया। शब्दों के सम्बन्ध में श्रुति का यह स्पष्ट नियम था कि वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते परन्तु उपनिषदों ने शूद्रों के ऊपर से यह बंधन हटा दिया एवं उन्हें मोक्ष प्राप्त करने की मान्यता दे दी। यह सभी प्रमाण सिद्ध करते हैं कि श्रुति की परम्पराओं पर स्मृतियों की विरोधी परम्पराओं का अधिकार हो गया। स्मृतियों की इस महत्ता का कारण जहाँ वेद की भाषा और वैदिक परम्पराओं को बताया गया है वहीं हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि वैदिक काल से स्मृति काल के बीच में व्यवहारों के बदलने से, परिस्थिति के बदलने से, विभिन्न आर्थिक कारणों से, नवीन विचारों से स्मृति को श्रुति की अपेक्षा प्राथमिकता मिली।

पर यह बड़ी विचित्र बात है कि बहुत बड़ी संख्या में स्मृतियों की रचना हुई। यह क्रम भी एक लम्बी अवधि तक चलता रहा। इसका कारण यह था कि अलग-अलग स्थान और समय की अलग-अलग परिस्थितियाँ थीं, इसलिए अलग-अलग क्षेत्र के लिए यह लिखी गई। दूसरे आर्थिक परम्परा में भी परिवर्तन होने से स्मृतियों की रचना हुई यथा याज्ञवल्क्य ने मिताक्षरा को जन्म दिया। तीसरे जैसे-जैसे परम्पराएँ बदलती गईं स्मृतियों की संख्या बढ़ती गई क्योंकि पुरानी परम्परा की पोषक स्मृति के स्थान पर नवीन परम्परा की पोषक स्मृति की रचना की गई।

अतएव अलग-अलग समय के लिए अलग-अलग स्मृतियाँ प्रमाण रहीं। इस सम्बन्ध में पाराशर स्मृति में कहा गया है कि मनुस्मृति कृत काल के लिए, गौतम त्रेता के लिए, शंखलिखित द्वापर के लिए तथा पाराशर कलि के लिए प्रमाण है।

३. पुराण—केवल याज्ञवल्क ने पुराण को धर्म का श्रोत स्वीकार किया है। दूसरे विचारक इसे कथा साहित्य ही मानते हैं धर्म साहित्य नहीं, क्योंकि पुराण, इतिहास एवं नरशंसिगाथा को एक कोटि में रखा गया है। इसीलिए इसका उल्लेख गौड़ रूप से किया गया है। इसमें श्रुति और स्मृति में वर्णित विषयों का विवरण बहुत ही कम वर्णित हैं। किन्हीं पुराणों में यथा अग्नि आदि पुराण में कहीं कभी वर्ण, आश्रम, राजधर्म आदि का वर्णन विभिन्न विषयों के संदर्भ में मिलता है। परन्तु विशेष रूप से व्रत, शान्ति, प्रायश्चित आदि का उल्लेख इसमें किया गया है। शान्तिमयूख में वर्णित सत्तावन शान्तियों में से पचपन शान्तियाँ पुराणों से ही उद्धृत हैं। इसी प्रकार शंकर भट्ट के व्रतार्क में एक सौ तेरह व्रतों का उल्लेख है जिनमें एक सौ दस पुराणों से ही लिया गया है। इसी के साथ ही कुछ

ऐसी प्रथाओं का उल्लेख भी पुराणों में है जो पहले प्रचलित थीं पर काल प्रवाह के कारण कलिवर्जित बताई गईं। इस प्रकार की प्रथाओं में विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह तथा नियोग आदि का उल्लेख किया जा सकता है। लागास्की के अनुसार पुराण, श्रुति तथा स्मृति के अधीन है। नरसिंह प्रसाद के अनुसार जहाँ स्मृति एवं पुराणों में मतभेद हो वहाँ मध्यवर्ती मार्ग अपनाना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के विरोध का स्थल बहुत ही कम है क्योंकि पुराण को धर्म के स्रोत के रूप में कोई प्राथमिकता नहीं दी गई है।

४. **भाष्य तथा निबन्ध**—इनका उद्भव आठवीं शताब्दी में हुआ। मानवीय कृति होने के कारण इनको विशेष महत्ता नहीं दी गई। यह श्रुति तथा स्मृति के विरोध में कुछ भी कहने के अधिकारी नहीं थे। यद्यपि वह जानते थे कि कौन-कौन सी प्रथाएँ श्रुति एवं स्मृति के विरोध में प्रचलित हैं, फिर भी इनमें इतना साहस नहीं था कि मुक्त कण्ठ से कह सकें कि अमुक प्रथा युग बहिष्कृत है। अतएव इन्होंने अपने मत को व्यक्त करने का एक नवीन माध्यम निकाला। इसके लिए इन्होंने तीन प्रकार के कौशलों को अपनाया। सर्वप्रथम इन्होंने स्मृतियों का श्लोकों के अर्थ को पूर्व व्याख्याकारों के विरुद्ध अपने विचार के अनुरूप तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्धित किया, विस्तृत किया तथा संकुचित किया। दूसरे स्मृति के अधिनियम स्वयं परस्पर विरोधी थे और परिवर्तनशील थे। इनमें से जिस पक्ष का यह समर्थन करना चाहते थे उसके लिए अनुरूप व्याख्या देकर उसका समर्थन करते थे। अन्त में शब्दों के अर्थ की व्याख्या अपने अनुरूप करके यह किसी भी स्मृति के श्लोक का अर्थ परिवर्तित कर लेते थे। इस सम्बन्ध में हम उदाहरण रूप में नारद के इस कथन को, कि विधवा को सम्पत्ति का उत्तराधिकार नहीं है, विवेचन के लिए ले सकते हैं। पर मित्रमिश्र ने इसकी व्याख्या करते हुए यह कहा कि भार्या शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं कहा है केवल स्त्री शब्द ही प्रयुक्त है, अतएव उनका अभिप्राय वेश्याओं को उत्तराधिकार से वंचित करना है न कि सामान्य स्त्रियों को। कल्लूक के अनुसार यह केवल दुःचरित्रा के लिए वर्जित है सच्चरित्रा के लिए नहीं। इसी प्रकार यह शब्दों की व्याख्या पर समय का प्रभाव डाल कर उसे अपने अनुरूप बदल लेते थे।

इसी के साथ निबन्धकारों ने भी अपना स्थान स्थापित किया। श्रुतियों की परम्परा के पुरातन होने से, स्मृतियों के विविध और विरोधी नीति के कारण, निबन्धकारों के ज्ञान के प्रभुत्व के कारण तथा उनका राज्य में समादृत स्थान पर नियुक्त होने के कारण पूर्व के स्रोतों के ऊपर इनका अधिकार व्याप्त हो गया।

५. **आत्मतुष्टि**—याज्ञवल्क ने कहा है कि "....स्वयं च प्रियमात्मन"? मनु ने भी आत्मतुष्टि को साधन के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु यदि शाब्दिक रूप में इसका अर्थ स्वीकार करके प्रत्येक व्यक्ति अपने संतोष के अनुरूप ही धर्म

को स्वीकार करे तो पूर्ण सामाजिक अव्यवस्था फैल जायगी। विज्ञानेश्वर एवं कल्लूक ने इस सम्बन्ध में प्रतिबंध लगाया कि वह लोग जो संस्कृति एवं परम्परा में पूर्ण विज्ञ हों, वह जो कुछ भी व्यवस्था अपनी रुचि के अनुसार करें उसे ही आत्मतुष्टि माना जाय।

६. **न्याय**—यद्यपि श्रुति स्मृति के विरोध में मानवीय विवेक को कुछ विचारकों ने कोई मान्यता नहीं दिया परन्तु याज्ञवल्क, नारद आदि ने इसकी प्रभुता को स्वीकार किया है। इनके अनुसार यदि स्मृतियों में किसी विषय पर परस्पर विरोध हो तो विवेक को अपनाया जा सकता है। कौटिल्य ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि विवेक के विरोध में धार्मिक नियम भी हों तो उसे भी छोड़ देना चाहिए और विवेकजनित धर्म को ही सम्मान देना चाहिए।

७. **मीमांसा**—श्रुति तथा स्मृति के उन अंशों की व्याख्या के लिए जो परस्पर विरोधी थे तथा पुरातन थे इसका आविर्भाव हुआ। जब स्वतः स्मृतियों में ही परस्पर विरोध हो जाता था तो मीमांसाकार अपने विवेक से निर्णय देकर धर्म का प्रणयन करते थे। इसीलिए स्मृतियों के विरोधी उद्धरणों के बीच जहाँ भाष्यकार बुद्धिविमूढ़ हो जाते थे वहाँ मीमांसाकारों का सहारा लेते थे।

८. **सदाचार**—विभिन्न धर्मशास्त्रकारों ने सदाचार को मान्यता दिया है। याज्ञवेल्क यद्यपि स्वतंत्र रूप से इसे स्वीकार नहीं करते फिर भी इसे मान्यता अवश्य देते हैं। वशिष्ठ ने केवल उसी परिस्थिति में इसे स्वीकार है जब धार्मिक साहित्य किसी विषय पर पूर्ण मूक हों। आपस्तम्ब ने तो यहाँ तक इसकी महत्ता को स्वीकार किया है कि श्रुति को अपेक्षा भी इसे प्राथमिकता देनी चाहिए **यथा-धर्मज्ञ समयः प्रमाणम् वेदाश्च**। इसका कारण उन्होंने यह बताया है न समय और न पुरुष ही किसी धर्म को धर्म अथवा अधर्म कह सकते हैं परन्तु लोकाचार के आधार पर ही कोई भी बात धर्म अथवा अधर्म बन सकती है।

पुरातन समय में जब इस सम्बन्ध में शासन के अधिकार का पूर्ण अभाव था तो तत्कालीन सामाजिक परम्परा को ही पूर्ण प्राथमिकता दी जाती थी।

सदाचार वेद तथा व्यवहार पर आधारित होता है परन्तु इसमें उल्लिखित नहीं होता। अतएव इसकी भी प्रामाणिकता श्रुति और स्मृति के समान ही माना जा सकता है तथा इनमें परस्पर कोई विरोध भी नहीं हो सकता। सदाचार प्रत्येक स्थान का अलग-अलग होता है क्योंकि अलग-अलग स्थानों की अलग-अलग परम्पराएँ होती हैं।

कुछ विचारकों ने सदाचार की व्याख्या करते हुए बताया है कि स्व रहित वेदविज्ञ व्यक्तियों की कृतियों को ही सदाचार कहा जा सकता है।[1] परन्तु इनमें

१. वशिष्ठ धर्म सूत्र १, ५।

भी कभी-कभी दोष होते हैं जैसे परशुराम ने माता की हत्या की थी, वशिष्ठ ने चाण्डालिनी से विवाह किया था, ब्रह्मदेव ने अपनी लड़की के साथ ही प्रेम किया था आदि। इसलिए यह भी कुछ ठीक नहीं बैठती।

सदाचार में प्रमाण किसे माना जाय वास्तव में यह बहुत ही जटिल समस्या है। महाभारत के अनुसार धर्म की व्याख्या करना बड़ा ही कठिन है क्योंकि जो एक समय के लिए धर्म होता है वही दूसरे-दूसरे समय में अधर्म भी हो जाता है। अतएव इसमें बताया गया कि जनसमुदाय के परम्परागत आचरण को ही धर्म मान लिया जाय। परन्तु जन समुदाय के आचरण में भी कभी-कभी दोष होता है जैसे होली का प्रचलन प्रेतों के भय से किया गया। इसलिए धर्मशास्त्रकारों ने कहा कि पवित्र व्यक्तियों के आचार को ही सदाचार माना जाय।

परन्तु सदाचार सदैव परिवर्तित होता रहता है। इसमें परिवर्तन दो दृष्टियों से होता है : समय के अनुसार तथा देश के अनुसार। समय के अनुसार यदि हम देखें तो ज्ञात होता है कि जो सदाचार द्वापर में था वह कलि में नहीं है तथा जो कृत में था वह त्रेता, द्वापर और कलि में भी नहीं रहा। स्थान के अनुरूप भी सदाचार में परिवर्तन होता है। जो परम्पराएँ किसी एक भाग में प्रचलित होती हैं यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे भाग में भी प्रचलित हों। यही सिद्ध करता है कि देश के अनुसार भी परम्पराओं में परिवर्तन होता है। उत्तरी भारत में जिस प्रकार पञ्च महायज्ञ की परम्परा है उस प्रकार दक्षिणी भारत में नहीं। पुनः बंगाल में मद्य, मांस आदि का जहाँ प्रचलन है, दक्षिणी भारत में मामा की लड़की से विवाह का प्रचलन आदि बहुत सी विभिन्न प्रथाएँ हैं।

सदाचार के तीन सहयोगी तत्व हैं जिनके पारस्परिक सहयोग से इसका वास्तविक स्वरूप निर्मित होता है। ये हैं : कुल का सदाचार, वह आचार की परम्परा जिसका पालन कुल में होता है; जाति का सदाचार, वह आचार की परम्परा जिसका पालन जाति के लोग करते हैं तथा देश का सदाचार अर्थात् जिस परम्परा का पालन किसी एक निश्चित देश में होता है। इन तीनों प्रकार के सदाचारों को सदाचार शब्द की परिधि में हम सम्मिलित करते हैं।

९. परिषद—विभिन्न विचारकों ने परिषद को भी धर्म का एक स्रोत माना है। चूंकि इसका निर्णय तात्कालिक होता है और प्रतिष्ठित लोगों की संगठित समिति द्वारा होता है अतएव यह दूसरों की अपेक्षा विशेष महत्वपूर्ण स्थान धर्म के क्षेत्र में रखता है। यह वृद्धों की एक संगठित सभा का नाम है जिसमें दस व्यक्ति होते हैं। इनमें तीन व्यक्ति तीनों वेद के ज्ञाता, तीन सदस्य तीनों आश्रमों के सम्मानित व्यक्ति, एक भाषाविद्, एक तर्कशास्त्री, एक धर्मशास्त्र का ज्ञाता और एक विवेक-

शील व्यक्ति होता है।[1] परन्तु इस प्रकार के सदस्यों के अभाव में कभी तीन वेद-विज्ञ और कभी एक ही प्रतिष्ठित व्यक्ति के संगठन को भी मान्यता दे दी जाती है।

मनु के अनुसार जब नवीन परिस्थिति किसी देश में उत्पन्न हो जाये तो इसका संगठन करना चाहिए। बौद्धायन के अनुसार धर्म के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होने पर तथा गौतम के अनुसार धर्मों में परस्पर विरोध होने पर इस सभा का संगठन करना चाहिए। यह केवल एक निर्णायक संस्था थी कार्यवाहक नहीं। इसलिए शासन की दृष्टि से इसका कोई भी महत्व नहीं था। धर्म-शास्त्र की संरचना के समय केवल यही एक मात्र निर्णायक संस्था थी।

धर्म निर्णय के अतिरिक्त विभिन्न अन्य कार्यों के लिए भी परिषदें आयोजित होती थीं और जिस कार्य के लिए इनका आयोजन होता था उसी नाम से सम्बोधित भी की जाती थीं। इस सम्बन्ध में शिक्षा परिषदों तथा जातीय परिषदों का उल्लेख किया जा सकता है।

धर्म परिषदों को पाँच प्रकार के अधिकार समाज द्वारा प्रदत्त थे : (१) अधि-नियमों का बनाना (२) इसे लागू करना, (३) इसको जो न माने उनके लिए दण्ड निश्चित करना, (४) विरोधी नियमों पर आदेश देना तथा (५) शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा समिति का कार्य करना।

परिषदों का भी धीरे-धीरे अन्त होने लगा क्योंकि यह आकस्मिक सभा थी जिसका अधिकार पण्डितों ने ले लिया। मुसलमानों के आक्रमण ने इस प्रथा को और भी अधिक ठेस पहुँचाया। पण्डित एवं विज्ञों के लिए अग्रहारा दान किया गया जहाँ वह रहते थे, अतएव अपने ग्रामों से उनका सम्बन्ध विच्छेद हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पहले की तरह केवल श्रुति और स्मृति की मान्यता ही समाज में रह गई यह पूर्णतया विलुप्त हो गया।

—०—

१. मनुस्मृति १२, १०९, ११४।

अध्याय २

भारतीय जीवन का आधार

भारतवर्ष में मनुष्यों के वाह्य स्वरूप और वाह्य क्रियाओं का कोई स्थान नहीं है। उनका यह पार्थिव शरीर कर्म के निमित्त माना जाता है। इस प्रकार कर्म ही जीवन का प्रधान अंग है। इसी के द्वारा उसे पुष्ट बनाया जाता है और वह इसी आधार पर अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करता हुआ, जीवन के चरम लक्ष्य, मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास करता है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मूल रूप से यद्यपि कर्म को आधार मानते हैं परन्तु हमारे विचारकों ने इतनी सरलतापूर्वक इसे बता कर इसकी संज्ञा को श्रीविहीन नहीं कर दिया और न इसको कोरा सिद्धान्त के बंधन में ही जकड़ दिया। परन्तु इसको बोधगम्य बनाने के लिए एवं प्रारम्भ से ही ग्राह्य स्वरूप प्रदान करने के लिए क्रमशः विभिन्न आधारों का निर्माण किया गया जिसके मूल तत्व कर्म का पालन करते हुए वह अन्त में मोक्ष की प्राप्ति करे। इसी-लिए प्रत्येक मानव को जन्म से ही एक नियमित बंधन में बाँधा हुआ बताया गया है जिससे वह प्रारम्भ से ही स्वतन्त्रता की अनुभूति कर लक्ष्य के विरुद्ध कोई दूसरा मार्ग न अपना ले। यह नियमित बंधन है जीवन के विभिन्न वर्गों द्वारा प्रदत्त ऋणों का। इससे व्यक्ति यह समझ लेता है कि हम ऋणी हैं एक के नहीं परन्तु सभी चर और अचर के तथा इहलौकिक एवं पारलौकिक तत्वों के जिससे कभी भी किसी के भी प्रति अपने कर्तव्य से च्युत न हो जायँ। इसी कर्तव्यपरायणता के लिए दूसरा आधार बताया गया है यज्ञों का। जो कुछ भी इन ऋणों से उऋण होने के लिए सभी इहलौकिक एवं पार-लौकिक, जड़ एवं चेतन के प्रति करता है वही यज्ञ की संज्ञा से संबोधित किया जाता है। इन्हीं यज्ञों को दूसरे शब्दों में कर्म की भी संज्ञा दी जा सकती है। इस कर्म को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने के लिए इन्हें एक व्यवस्था में नियोजित किया गया जिसे पुरुषार्थ की संज्ञा दी गई है। इन पुरुषार्थों की साधना के लिए हमारे सम्पूर्ण जीवन को पुनः कई भागों में विभाजित किया गया है और उसमें इनके साधना का प्रयास किया गया है। इसी को आश्रम की संज्ञा दी जाती है। आश्रम जीवन में विभक्त सम्पूर्ण जीवन कर्मवाद के अन्दर आवृत्त माना गया। इसी कर्मवाद के साथ लगा हुआ दूसरा आधार है पुनर्जन्मवाद का। इस प्रकार भारतीय जीवन के यही प्रमुख आधार हैं जिनका व्यवस्थित विवेचन यहाँ आवश्यक है जिसके आधार पर जीवन के इन आधारों से हम पूर्ण रूप से परिचित हो जायँ।

१. ऋण

हमारे यहाँ जीवन को त्याग माना गया है। इसी से इसे कर्म-भूमि भी माना गया है। इस त्याग का उपदेश भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं गीता में दिया है। गीता शब्द को यदि उल्टा कर दिया जाय तो इसे हम तागी पढ़ेंगे। शुद्ध रूप में तागो का त्यागी होता है। अतएव गीता त्याग की पुस्तक है जो इसके विषय विवेचन से ही स्पष्ट होता है। परन्तु सीधे यदि त्याग की बात की जाय तो वह इतना सरल एवं मर्मस्पर्शी नहीं होगा जितनी उसकी भूमिका के बाद। इसी त्याग की भूमिका में हमारे मनीषियों ने ऋणों को स्थान दिया है जिसके पीछे त्याग की बात कहा। यह ऋण त्याग की तरह ही हमारे जीवन के साथ जुटे हैं। यों तो साधारणतया हमारे जीवन में प्रमुख रूप से तीन ऋण हैं : देवऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण। परन्तु व्यापक रूप में इनकी संख्या पाँच तक मानी गई है : अतिथि ऋण एवं भूत ऋण भी।

(अ) **देवऋण**—देवताओं द्वारा बहुत कुछ हम इस भौतिक जीवन में प्राप्त करते हैं जिसके द्वारा हमें सुख एवं आनन्द मिलता है। यह देन बहुत कुछ प्रकृति-दत्त है जो दैवी कृपा के परिणाम हैं जैसे धूप, जल, वायु, भूमि आदि। यह इसी-लिए पूर्णतया प्रकृतिदत्त कहे जाते हैं कि इनके लिए कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। साथ ही यह आवश्यक ऋण हैं जिनके बिना मनुष्य का एक क्षण भी जीना दूभर है।

(ब) **ऋषि ऋण**—देवताओं की तरह ऋषियों ने भी अपनी साधना, तप, ज्ञान के गहन अनुभव के भण्डार को हमारे लिए छोड़ा है। जो कुछ भी हम ज्ञान प्राप्त करते हैं वह ऋषियों की ही कृपा से। पूरा वेद अपौरुषेय है। यह उन्हीं के द्वारा बहुत दिनों तक समाज में श्रुति के आधार पर चलता रहा जिसका पीछे संकलन किया गया और उसी पर आधारित ज्ञान की विभिन्न शाखा वेदांगों की रचना हुई। इसके अतिरिक्त जितना भी धार्मिक एवं लौकिक साहित्य है वह सभी जंगल में रह कर अध्ययन-अध्यापन करने कराने वाले ऋषियों की कृपा से ही सुलभ है। इससे मनुष्य को मानसिक भोजन प्राप्त होता है।

(स) **पितृ[1] ऋण**—पिता के भी हम ऋणी हैं; विभिन्न कारणों से और बहुत अधिक। पितृ शब्द से हमारा अभिप्राय माता और पिता दोनों से है। इन दोनों का हमारे जीवन पर बहुत बड़ा ऋण पड़ा है। इन्हीं के द्वारा हमारा जन्म,

---

१. पितृऋण में केवल माता-पिता को ही नहीं समझना चाहिए परन्तु इस के साथ ही सोमसद पितृ-गण, अग्निश्वाता पितृगण, बर्हिषद् पितृगण, हविर्मुख पितृ गण इत्यादि भी इसमें सम्मिलित होते हैं।

पालन पोषण, प्रारम्भिक शिक्षा, सामाजिक जीवन आदि संभव होता है। यही हमें संसार में सशक्त बनाते हैं एवं हमारे पैरों को मजबूत बनाते हैं।

(द) **अतिथि ऋण**—अतिथियों का भी हमारे ऊपर बहुत बड़ा ऋण पड़ा है। समाज में जब कोई अशक्त एवं निस्सहाय हो जाता है तो दूसरे के आतिथ्य के आधार पर ही उसका जीवन चलता है। इस भावना को पूर्ण रूप से व्यक्त कराने के लिए ही उपनयन संस्कार में लाक्षणिक रूप से भिक्षाटन की परम्परा का निर्वाह किया जाता था तथा गुरुकुल में रहने वाले प्रत्येक ब्रह्मचारी को इस ऋण से अवगत कराया जाता था; क्योंकि उसे घूम-घूम कर भोजन के लिए भिक्षा माँगना होता था।

(य) **भूत ऋण**—पशु एवं वनस्पतियाँ मुख्य रूप से भूत की कोटि में आती हैं जिनके द्वारा हमारे इस पार्थिव शरीर का पालन-पोषण होता है। इनसे हमें अनेक प्रकार के जीविका सम्बन्धी तत्व मिलते हैं जिनके अभाव में हमारा यह पार्थिव शरीर इतना पुष्ट और बलवान नहीं होता।

२. पञ्च महायज्ञ

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।"—अर्थात् यदि यज्ञ-भाव छोड़ किसी अन्य भाव से कर्म किया जाय तो मनुष्य संसार के कर्म बंधन में पड़ जाता है। इससे पुष्ट होता है कि जो कुछ भी हम करते हैं स्वार्थ के लिए नहीं पर यज्ञ भाव से। इसीलिए भगवान श्री कृष्ण ने भी स्वयं गीता में कहा है—

यत्करोषि यदश्नासिं यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९, २७)

—अर्थात् जो कुछ भी करो, खाओ, दान करो, दो, तपस्या करो आदि उसे हे अर्जुन तुम मुझे ही समर्पण करो। यही यज्ञ की भावना है जिसे भारतीयों ने प्रत्येक कार्य में मूल्यांकित किया है। हम कुछ भी करते हैं वह इसलिए कि ऊपर वर्णित ऋणों से इसी जीवन में उऋण हो जायँ। इसलिए यज्ञों को भी पाँच प्रकारों में बाँटा गया है

(अ) **देव यज्ञ**—देव ऋण से उऋण होने के लिए जो कुछ भी हम करते हैं उसे देव यज्ञ कहा जाता है। हम यद्यपि दैव प्रदत्त सम्पदा का कोई भी मूल्य नहीं चुका सकते अतएव हम उनकी आराधना करते हैं, उपासना करते हैं, अपना सर्वस्व उन्हीं को समर्पण करके तब कोई भी कार्य प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार विभिन्न रीतियों से उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित कर उनके ऋण से उऋण होने का प्रयास करते हैं

(ब) **ऋषि यज्ञ**—इससे उऋण होने के लिए ज्ञान के भण्डार को समुचित रीति से हम संरक्षित करते हैं एवं उसमें विस्तार करते हैं। आगे आने वाली पीढ़ी को इस ज्ञान के अक्षुण्ण भण्डार को यथावत हस्तान्तरित करते हैं। उसमें वृद्धि

लिए यथासम्भव प्रयास करते हैं। इन्हें प्रातः काल स्मरण और प्रणाम करते हैं। यही ऋषि यज्ञ है।

(स) पितृ यज्ञ—जिस प्रकार पिता हमारा प्रजनन करता है हमें प्रत्येक प्रकार की सम्भावित सुविधाएँ प्रदान कर हमारा पालन-पोषण एवं संवर्धन करता है उसी प्रकार हमारा भी यह धर्म है कि हम भी एक संतति (पुत्र) का प्रजनन करें और उसका भी भली प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसार पालन-पोषण करके अपने अनुरूप और अपने से भी अच्छा उसे तैय्यार कर दें। इसके अतिरिक्त उसका श्राद्ध करें, उसको तर्पण करें और आवश्यकता के समय हर सम्भव सहायता प्रदान करें एवं यथायोग्य सेवा-सुश्रूषा करें, यही पितृ यज्ञ है।

(द) अतिथि यज्ञ—अतिथियों से जो कुछ भी हमें विभिन्न अवसरों पर सहायता मिलती है उससे उऋण होने के लिए हमें सद. समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है, लोक कल्याण में अभिरुचि रखनी होती है और किसी भी समय किसी भी परिस्थिति में समाज की रक्षा के लिए हर सम्भव एवं असम्भव कार्य करने के लिए तैय्यार रहना पड़ता है। इसीलिए प्राचीन काल में चिकित्सकों का बहुत ही ऊँचा आदर्श रखा गया था जिसे आज भी किसी न किसी रूप में निभाया जा रहा है।

(य) भूत यज्ञ—जो कुछ भी भूत ऋण हमारे ऊपर पड़ा होता है उससे उऋण होने के लिए हम बलि देते हैं, यज्ञ करते हैं, पशुओं को भोजन देते हैं, उनके प्रति भी अपनी स्वाभाविक एवं परम्परागत उदारता का पालन करते हैं। इसे भूत यज्ञ कहा जाता है।

. पुरुषार्थ

अब तक जो भी व्याख्या की गई उसके आधार पर यह निश्चित हुआ कि हमें इन्हीं पाँच दिशाओं में अपने सम्पूर्ण कार्यों को नियोजित करना है। इस नियोजन के लिए इनका एक व्यवस्थित स्वरूप बना कर सभी कार्यों को मूल रूप से चार कोटियों में विभक्त कर दिया गया जिसका पालन बड़ी ही सरलता एवं सुविधा से किया जा सकता है। यही चार कोटियाँ जिन्हें मनुष्य अपनी सुविधा के अनुसार व्यवस्थित रूप से साध सकता है पुरुषार्थ कहलाती हैं। इसीलिए चार पुरुषार्थ माने गए हैं—

(१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम, (४) मोक्ष

धर्म के द्वारा हम सब की रक्षा करते हैं। इसका ज्ञान तभी सम्भव है जब हम ऋषियों द्वारा प्रणीत ग्रंथों का अध्ययन करें और साथ ही देवताओं की स्तुति, प्रार्थना उनके प्रति यज्ञ आदि भी करते चलें। पुनः अर्थ के द्वारा भूत ऋण और अतिथि

ऋण से उऋण होने के लिए पशुओं को भोजन देते हैं, उनका पालन-पोषण करते हैं आदि। काम के द्वारा ही हम संतति उत्पन्न करते हैं और उसको समुन्नतिशील बनाने की इच्छा करते हैं। अतएव यह पितृ ऋण से उऋण होने का माध्यम है। मोक्ष तो इनसे बहुत दूर है। यही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिए यह सारे क्रिया-कलाप सम्पादित किए जाते हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या आगे पुरुषार्थ के अध्याय में की जायगी।

४. आश्रम

पुरषार्थ के सम्बन्ध में हमने देखा कि सम्पूर्ण मानव की क्रियाएँ चार खण्डों में विभाजित करके साधी जा सकती हैं। परन्तु हमारे मनीषी इसी से केवल संतुष्ट नहीं हुए इसके साथ ही उन्होंने साधनों के लिए जीवन की भी एक व्यवस्था बनाई जिसके अनुसार नियमित रूप से इसकी साधना की जा सके। इसी जीवन की व्यवस्था को जिसमें सम्पूर्ण जीवन की अवधि को पुरुषार्थों की साधना में समुचित रीति से व्यतीत किया जा सके आश्रम की संज्ञा दी गई। आश्रम और पुरुषार्थ का सम्बन्ध बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है। केवल क्रियाओं को विभागों में बाँट देने से ही उसकी सफल साधना नहीं हो सकती थी। अतएव उसे क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए तथा उसकी साधना को सफल बनाने के लिए अवस्था का ध्यान रख कर आश्रमों का बँटवारा किया गया है। यह आश्रम चार हैं यथा :

(१) ब्रह्मचर्य
(२) गृहस्थ
(३) वानप्रस्थ
(४) संन्यास

यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्य जो कुछ भी ग्रहण कर सकता है वह केवल बचपन में ही। उसकी साधना की उपयुक्त अवधि प्रौढ़ अवस्था ही होती है जब वह किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले सके। उसके बाद ही वह अपने अनुभवों से लाभ उठा कर अपनी चित्तवृत्तियाँ एकाग्र कर सकता है; क्योंकि इस समय तक उसकी लगभग सभी इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी रहती हैं। इसी एकाग्रता की स्थिति के बाद ही वह संन्यासी बन सकता है। वात्स्यायन ने सम्पूर्ण मानव जीवन की अवधि को १०० वर्ष निर्धारित किया है और उसे क्रमशः चार भागों में बराबर-बराबर बाँट कर एक-एक आश्रम बनाया है। इन एक-एक आश्रमों में एक-एक पुरुषार्थों की साधना को मान्यता दी गई है। ब्रह्मचर्य में धर्म के पालन को महत्व दिया गया है। गृहस्थ में अर्थ और काम की साधना की जाती है तथा वानप्रस्थ में मोक्ष की साधना की जाती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अन्त में संन्यास की स्थिति में

पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसकी विस्तृत व्याख्या आगे एक अलग अध्याय में ही की जायगी।

५. कर्मवाद

भारतीय विचारक कर्म की प्रधानता को स्वीकार करते हैं। पर कर्म का अर्थ भाग्य से नहीं लेना चाहिए जैसा कि साधारणतया आजकल लिया जाता है। भाग्य अथवा नियत क्रम को विधि की संज्ञा दी जाती है। विधि का अर्थ है नियमित विधान से। इस प्रकार जो कुछ भी हम करते हैं उसे ही कर्म कहा गया है। कर्म करना मात्र ही मनुष्य का अधिकार है। जो लोग कर्मविरत हो जाते हैं वह भी वास्तव में कर्मविरत नहीं होते पर वह अपने जीवन के अन्तिम एवं चरम लक्ष्य तक पहुँचने से वंचित कर दिए जाते हैं यथा—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।। (गीता, २।४७)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।। (गीता, ३।४)

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी समझ लेनी चाहिए कि यज्ञ से अभिप्राय कर्म से नहीं है परन्तु अपनी स्व सम्बन्धी क्रियाओं से। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य को आत्म भाव से रहित होकर अपने प्रति सभी नियत कर्मों को करना चाहिए :—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचरः ।। (गीता ३।९)

इसके आगे यह भी कहा गया है कि महाराज जनक इसी कर्म के परिणामस्वरूप मोक्ष को प्राप्त हुए। मनुष्य मात्र को गीता में यह उपदेश दिया गया है सामाजिक कल्याण सम्बन्धी कार्य करना यद्यपि आवश्यक है पर इसका अभिप्राय हैं यह नहीं कि अपना कार्य छोड़ दिया जाय—

कर्मणैव ही संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।। (गीता, ३।२०)

इस व्याख्या से हमने यह निश्चय किया कि लोक कल्याणकारी कार्य, यज्ञ आदि के साथ लगे हुए मनुष्य को इस जीवन में अपना कार्य भी करना चाहिए। यह विधि से भिन्न होता है और क्रियाओं पर आधारित होता है। इसके दो पक्ष होते हैं क्रिया और परिणाम। क्रिया का पक्ष है कर्म पर बहुत से कर्म का परिणाम इस जीवन में नहीं मिल पाता, इसलिए एक दूसरा जीवन मनुष्य को धारण करना पड़ता है। इसी को पुनर्जन्मवाद की संज्ञा दी जाती है जिसकी व्याख्या आगे की जायगी।

कर्मवाद के ही द्वारा मनुष्य में नैतिक उत्तरदायित्व की भावना जागृत होती है। वह कर्म करने के लिए बाधित होता है पर उसके परिणामों का ध्यान भी वह यहीं से रखता है; क्योंकि वह जानता है कि जिस प्रकार का कर्म करेगा वैसा फल उसे इस जीवन में या अगले जीवन में भोगना पड़ेगा। इसीलिए नैतिकता पर वह उतर आता है और परहित का कार्य इसीलिए श्रेयस्कर समझता है।

६. **पुनर्जन्मवाद**—कर्म का फल मनुष्य को अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है। किसी कारण का अथवा कार्य का कोई न कोई परिणाम होता है। उसी तरह जो भी कर्म हम इस जीवन में करते हैं उसका भी परिणाम होता है जिसे कुछ तो हम इसी जीवन में भोगते हैं सुख अथवा दुःख के रूप में। परन्तु बहुत से कर्म ऐसे होते हैं जिनका परिणाम इस जीवन में नहीं मिल सकता। अतएव इसके लिए उन्हीं कर्मों के अनुरूप दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। इसे ही पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त कहा जाता है। मनुष्य ही नहीं देवताओं को भी पुनर्जन्म लेना पड़ता है क्योंकि स्वर्ग का सुख बहुत दिन तक कोई भोग नहीं सकता है। अतएव देवता गण भी अपने कर्मों के फल की अवधि को पूर्ण कर चुकने पर पुनः मर्त्य लोक में भेज दिए जाते हैं। इसी प्रकार हमारे जीवन का यह आधार है, जहाँ से इस जीवन का अधिकांश और सम्पूर्ण अगला जीवन निश्चित होता है।

इस प्रकार हमारे जीवन के यही मूल रूप से छः आधार हैं जिनसे हमारा सम्पूर्ण इहलौकिक एवं पारलौकिक क्रियाएँ नियन्त्रित होती हैं।

—o—

अध्याय ३

पुरुषार्थ

अर्थ एवं प्रयोजन—भारतीय जीवन का यदि अध्ययन किया जाय तो केवल एक ही जीवन दर्शन हम इसमें व्याप्त पाते हैं और वह दर्शन है 'आध्यात्मवादिता'। वास्तव में हमारे अन्दर अन्तरनिहित भावनाओं की ही आधार-शिला पर आधारित सम्पूर्ण विचार मन में उठते हैं और उन्हीं विचारों के स्वरूप के आधार पर हम अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ सम्पादित करते हैं। इन क्रियाओं में हमारा उद्देश्य भौतिक सुख अथवा आनन्द न होकर इससे बहुत परे आध्यात्मिक सुख ही होता है। सका स्पष्ट प्रमाण है कि हमारे आँखों के सामने जो कुछ भी पर्दा रहता है वह चाहे रिवार के चित्र से सज्जित हो, प्रकृति से सज्जित हो अथवा भूतों से, उसमें सर्वोपरि ण केवल आध्यात्म का ही हमें दर्शन होता है। सारे पदार्थों को जिनका हम समाज अनुभव करते हैं अथवा जिन्हें देखते हैं उनको इन्हीं तीन परकोटों में बाँट सकते हैं। लिए हमारे जीवन का दर्शन है 'आध्यात्मवादिता'।[1] पर इस उद्देश्य की प्ति के लिए सदा कर्मवाद को ही प्राथमिकता मिली है। यहाँ तक कि श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि "कर्म करना ही मात्र मानव का अधिकार है। उसके की कामना उसे नहीं करनी चाहिए।"[2] फल के विषय में चिन्ता न करना सक्ति भाव का द्योतक है। अनासक्ति से अभिप्राय उस विचार से है जिससे भी वस्तु के प्रति व्यक्ति के मन में रागद्वेष न रहे। यही स्थिति विरक्ति की स्थिति है। इसी स्थिति में कोई भी जीवधारी कर्म करता हुआ बिना फल की कामना से औचित्य लाभ कर सकता है। यही बात भगवान बुद्ध, महाबीर जैन आदि ने धर्म प्रचार के सम्बन्ध में कहा। इसे दूसरे शब्दों में 'कर्मवाद' का सिद्धान्त ान सकते हैं।[3] इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्मवाद की भावना हमारे जीवन नी व्याप्त इसीलिए है कि प्रत्येक वस्तु के प्रति प्रत्येक व्यक्ति के मन में अनाकी भावना बैठी है और यह भावना इसीलिए बलवती है कि हमारा सम्बन्ध जगत से न होकर आध्यात्मिक जगत से होता है जिसे आध्यात्मवादिता ।

---

१ भारतीय संस्कृति, प्रो० शिवस्वरूप, पृ० ३।
२ गीता, २।४७।
भारतीय संस्कृति, पृ० २०।

कर्मवाद के इसी सिद्धान्त को बोधगम्य बनाने के लिए श्रीमद्भागवत्गीता में श्री कृष्ण ने त्याग को महत्वपूर्ण स्थान दिया। त्याग का जो उपदेश गीता में ...क सामान्य भारतीय के लिए दिया गया है वह जीवन के किसी एक पक्ष से सम्बन्धित नहीं है पर वह एक ऐसा चश्मा आँखों पर लगा दिया गया है कि जीवन प्रदान करने के लिए हमारे शास्त्रकारों ने जीवन के एक-एक पल को और प्रत्येक कार्य को इस प्रकार बाँध दिया कि कोई भी क्षण अथवा कार्य व्यक्ति 'स्व' में न उपयोग कर 'पर' में उपयोग करे। यही 'स्व' की भावना का ह्रास ही त्याग की वह सीढ़ी है जहाँ मनुष्य आध्यात्मिकता का अनुभव करने लगता है। इसलिए सारे जीवन को ऋणों[1] में बाँध दिया गया और उन ऋणों से उऋण होने के लिए यज्ञों[2] की व्यवस्था कर दी गई। इन ऋणों में सम्पूर्ण मानव जीवन को इस प्रकार बाँध दिया गया है मनुष्य यज्ञ द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सके। यही ऋणों और यज्ञों की व्यवस्था द्वारा मोक्ष के प्राप्त करने के क्रम के एक व्यवस्थित विधान को पुरुषार्थ कहते हैं।

इस प्रकार पुरुषार्थ से, अभी हमने देखा, अभिप्राय है एक व्यवस्थित विधान से जिसके द्वारा मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सके। पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ है 'उद्योग'। अतएव पुरुषार्थ से अभिप्राय निर्दिष्ट दिशा में किए जाने वाले उस उद्योग से है जिसकी व्यवस्था से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सके। साधारणतया पुरुषार्थ की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि 'पुरुषैरर्थ्यते पुरुषार्थः' अर्थात् पुरुष की इष्ट वस्तु ही पुरुषार्थ है। हमारा इष्ट क्या है? इसके सम्बन्ध में ऊपर हमने विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है जिसे मोक्ष कहते हैं। पर यह बहुत पीछे मनुष्य को स्पष्ट होता है। प्रारम्भ में सामान्य मानव का इष्ट अर्थ एवं काम होता है। पर जब मोक्ष की भावना आती है तो अर्थ एवं काम का वह लक्ष्य बन जाता है। इस अवस्था में मनुष्य का लक्ष्य अर्थ और काम की ओर इहलौकिक नहीं रह जाता पर पारलौकिक। इसीलिए उसके साथ बंधन बँध जाता है धर्म का। इस प्रकार अर्थ और काम की एक कोटि है जिसकी ओर हम साधारणतया अज्ञानता में हम झुकते हैं तथा धर्म और मोक्ष की दूसरी कोटि जिसकी ओर पीछे विवेकशील होने पर झुकते हैं। इस प्रकार पुरुषार्थों की संख्या चार निश्चित हुई। पर वास्तव में ये तीन ही हैं क्योंकि एक (मोक्ष) तो लक्ष है।

परन्तु यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि अर्थ और काम के लिए धर्म का साधन आवश्यक है। वही वह नियन्त्रक है जो अ...

१ ऋणों की संख्या चार मानी गई है : देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण एवं अतिथि ऋण।

२ यज्ञों की संख्या भी चार मानी गई है : देव यज्ञ, ऋषि यज्ञ, पितृ यज्ञ एवं अतिथि यज्ञ।

और काम को औचित्य की ओर मोड़ता है। इसलिए इसकी साधना सर्वोपरि है और तब अर्थ एवं काम की जिसके परिणामस्वरूप वह अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर सके। इसी प्रकार चार पुरुषार्थ क्रम से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष माने गए हैं।

ऊपर हमने पुरुषार्थ का अर्थ, प्रकार और क्रम नियत किया है और अब यह आवश्यक है कि प्रत्येक पुरुषार्थों का अलग-अलग अध्ययन किया जाय।

प्रकार

(अ) **धर्म**—धर्म से अभिप्राय है उन सम्पूर्ण क्रियाओं से जिससे बिना किसी के अहित के 'स्व' की उन्नति हो। ऊपर हमने 'स्व' का बहिष्कार ही भारतीय दृष्टिकोण बताया है पर दूसरे के उन्नति के साथ जब स्व पर ध्यान दें तो स्पष्ट है कि स्व अस्तित्व आसक्तिमय नहीं होकर लोक कल्याणकारी हो जाता है। इसीलिए जहाँ अपकारी प्रवृत्तियाँ मनुष्य के हृदय को स्पन्दित करने लगती हैं वहाँ स्वरूप का स्थायित्व विलुप्त हो जाता है। अतएव धर्म की व्याख्या में हम कह सकते हैं कि धर्म वह है जिससे मानव स्वरूप को स्थायित्व मिले तथा अधर्म वह है जिससे मानव स्वरूप विनष्ट हो जाय। इस प्रकार जहाँ धर्म उन्नति का साधन है वहीं अधर्म अवनति का। अतएव धर्म की साधना सर्वोपरि है और सबसे पहले करनी चाहिए। इसी से आश्रम व्यवस्था में हमारे यहाँ आचार्यों ने कहा कि सबसे पहला आश्रम ब्रह्मचर्य होना चाहिए। धर्म शब्द की उत्पत्ति धृ धातु से हुई है जिसका अर्थ है धारण करना।[1] श्री कृष्ण ने महाभारत में धर्म शब्द की व्याख्या तीन स्थानों पर किया है। प्रत्येक व्याख्या में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि धर्म से अभिप्राय सामाजिक स्थिति को दृढ़ बनाए रखना है। एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि धर्म का उद्भव इसलिए हुआ कि सृष्टि का कल्याण हो सके।[2] पुनः उन्होंने यह कहा है कि जो भी कार्य मानव के कष्टों के निवारणार्थ किया जाय वह सभी धर्म है।[3] अन्त में उन्होंने कहा कि धर्म इसलिए इसे कहते हैं कि यह सम्पूर्ण प्राणी मात्र की रक्षा करता है तथा उन्हें धारण करता है।[4] इस प्रकार कल्याणकारी साधन ही धर्म निश्चित हुआ, जो समय और परिस्थिति के अनुसार बदल सकता है जैसा कि स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा है कि 'धर्म वही है जो देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल हो।' पर वास्तविक कल्याण तो वही है जो पुनः अकल्याणकारी कभी न बन बैठे। इसलिए महाभारत में कहा गया है :

---

१ हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड १, पृ० १–४।
२ महाभारत कर्ण पर्व, 'प्रभवार्थ च भूतानाम् धर्म प्रवचनम् कृतम्।' (६९, ५७)
३ वही शान्तिपर्व, ५८।
४ वही शान्तिपर्व—१०९–११।

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ॥

(अनुशासन पर्व, अध्याय २६५)

इसी की व्याख्या करते हुए महाभारत में एक स्थल पर पुनः यह कहा गया है कि धर्म वही है जिससे स्वतः सुख हो परन्तु दूसरे को उससे कभी कष्ट नहीं हो। इसके विरुद्ध जिसे धर्म आज हम मानते हैं उससे कष्ट होता है—

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पुरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानामप्रियमात्मन ॥

(मोक्षानुशासन पर्व, अध्याय २६५)

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि जो क्रिया स्वरूप की रक्षा करती हुई उन्नति की ओर अग्रसरित करे वही वास्तव में धर्म की परिधि में आ सकती है। इसका कारण यह है कि स्वरूप का विनाश किसी को भी अच्छा नहीं लग सकता और अपने स्वरूप की आहुति देकर कोई भी व्यक्ति संसार में ऐसा नहीं है जो अर्थ एवं काम की ओर आसक्त बना रहे। ऐसी अवस्था में चाहे कितना भी कामी एवं अर्थलोलुप व्यक्ति होगा अपनी मर्यादा का ध्यान अवश्य रखेगा। यही वह कसौटी है जो धर्म को परख है। ऐसी मर्यादा को तिलाञ्जलि केवल विवेकशून्य व्यक्ति ही दे सकता है। चूँकि यहाँ हमारा अध्ययन सामान्य मानव प्राणी से है अतएव विवेकशून्यों का अध्ययन हमारी परिधि के बाहर रह जाता है। इसलिए अर्थ और काम जो साधारणतया प्रथम प्रकार के पुरुषार्थ ऊपर माने गए हैं, वह स्वरूप को ही प्रधानता देते हैं। चूँकि स्वरूप अथवा सामाजिक मर्यादा धर्म के ही आधार पर प्राप्त की जा सकती है इसलिए धर्म ही पहला पुरुषार्थ है। इसीलिए कहा भी गया है—

"परित्यजेदर्थकामौ यौ स्वातां धर्मवर्जिता" मनु
'धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।" भारत सावित्री

धर्म रूपी संयोजित शरीर को यशः शरीर भी कहा गया है—

'किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।' रघुवंश

इस प्रकार धर्म के अध्ययन से तीन बातें स्पष्ट होती हैं: धर्म ही मानव मर्यादा का संस्थापक है, व्यक्ति में व्यक्तित्व है तथा उसके संस्कृत होने का विशिष्ट लक्षण है।

(ब) **अर्थ**—जब हम अर्थ के ऊपर विचार करने बैठते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मनुष्य की सर्वोपरि इच्छा होती है। पर इस विषय में हमने देखा है कि इससे भी अधिक महत्वपूर्ण इच्छा धर्म की होती है। फिर भी अर्थ मानव की एक आवश्यक वस्तु है। उसी से अभिप्रेत संसार का प्रत्येक प्राणी सम्पूर्ण सामाजिक कार्य सम्पादित करता है। सामान्य रूप से अर्थ से हमारा अभिप्राय धन से

होता है। पर जब इसका अर्थ कुछ व्यापक रूप से विचारा जाय तो अर्थ से अभिप्राय केवल धन से ही नहीं ज्ञात होता परन्तु इसके साथ ही साथ इससे तात्पर्य वैभव, सम्पत्ति तथा शक्ति से है। इस प्रकार अर्थ सांसारिक वैभव की प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

प्रत्येक प्राणी वाह्य रूप से भौतिक होता है पर आन्तरिक रूप से प्रत्येक भारतीय आध्यात्मिक होता है। फिर भी समाज का बंधन प्रत्येक को निभाना होता है। इसीलिए अर्थ के बिना संसार में सामाजिक मृत्यु हो जाती है। इसके साथ ही बिना व्यवस्था के आर्थिक विकास सम्भव नहीं हो सकता और व्यवस्था भी बिना शक्तिपूर्ण हाथों में केन्द्रित हुए सम्भव नहीं हो सकती। अतएव कौटिल्य ने शासन व्यवस्था पर आधारित अपनी पुस्तक का नाम 'अर्थशास्त्र' रखा। ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जितने भी विचार और क्रियाएँ भौतिक जीवन से सम्बद्ध हमारे जीवन में आती हैं उन्हें केवल 'अर्थ की संज्ञा' से ही सम्बोधित किया जा सकता है।

आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य के बाद भारतीय मनीषियों ने गृहस्थाश्रम को दूसरा स्थान दिया है। इस आश्रम का प्रमुख पुरुषार्थ अर्थ और काम बताया है क्योंकि यही वह स्थिति होती है जहाँ मानव धन की ओर, शक्ति की ओर, और वैभव की ओर झुकता है क्योंकि उसका जीवन अब व्यक्ति तक ही सीमित न रहकर परिवार और समाज के सम्पर्क में आता है। इसीलिए प्रत्येक वर्णों के लिए धर्मशास्त्रों में अलग अलग प्रकार के व्यवसायों का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही यह भी छूट दी गई है कि यदि इससे खर्च न चल सके तो कुछ निश्चित किए हुए दूसरे कार्य जिनका वर्णन शास्त्रों में है करना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में व्यक्ति 'स्व' के केन्द्र से दूर की व्यार समाज-कल्याण की ओर प्रवृत्त होता है।

पर यहाँ भी हम देखते हैं कि अर्थ इतना महत्वपूर्ण होने पर भी धर्म के पीछे माना गया है क्योंकि इसके अनुशासन के अभाव में अर्थ अपना औचित्य खो सकता है। अतएव आवश्यक है कि धर्म के आधार पर ही अर्थ का अर्जन किया जाय तथा इसी के सहारे इसे खर्च किया जाय।

(स) **काम**—ऊपर के क्रम में तीसरा पुरुषार्थ काम है। साधारणतया व्यवहार में काम से वासना का अभिप्राय लेते हैं। परन्तु यह अर्थ मात्र सटीक नहीं बैठता क्योंकि काम से अभिप्राय है व्यापक रूप में, मनुष्य के आनन्द और ऐन्द्रिय जनित सन्तुष्टि की इच्छा से। इसी के साथ वासना को भी सन्निहित किया जा सकता है। पर कोरी वासना इसके अन्तरनिहित अर्थ को और भी संकुचित कर देती है। अतएव व्यापक रूप में मनुष्य के अन्दर उठने वाली सम्पूर्ण इच्छाएँ ही दूसरे रूप में काम कही जा सकती हैं।

काम का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें धर्म तथा अर्थ दोनों को एक साथ समन्वित किया जा सकता है। इसी से भारतीय धर्म साधना के ग्रंथों में जहाँ समाज-

४ वही शान्तिपर्व—१०९-११

शास्त्रियों ने काम को विशेष स्थान प्रदान किया है वहीं विदेशी विचारकों के एक वर्ग ने काम को ही एकमात्र मानव में क्रिया प्रेरणा माना है। मनु ने काम को ही जीवन का मूल संकल्प माना है। वातस्यायन ने भी इसी आधार पर कामसूत्र की रचना की। मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने काम को ही जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं का मूल उत्तेजक शक्ति माना है।

मनुष्य की इच्छाएँ उसे सही मार्ग पर ले जा सकती हैं और गलत मार्ग पर भी इसलिए काम को स्वतन्त्र छोड़ना बुद्धिमानी नहीं है। अतएव इसके पहले धर्म का बंधन लगा दिया गया है। इस बंधंन से किसी भी प्रकार स्वरूप का विनाश नहीं हो सकता अथवा व्यक्ति के सम्मान पर कोई धक्का नहीं लग सकता।

ऊपर अर्थ के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमने देखा है कि गृहस्थाश्रम में ही दोनों पुरुषार्थों की साधना की जाती है। वास्तव में सन्तति प्रजनन, इच्छाओं की संतुष्टि दोनों की आवश्यकता एक सामाजिक प्राणी को होती है जिससे वह सामाजिक जीवन में अपना मानसिक संतुलन न खो बैठे। यह इच्छा इतनी बलवती होती है कि यदि इसको उचित रूप से सन्तुष्ट न किया जाय तो मानव विवेकशून्य हो सारी क्रियाओं को विक्षिप्त कर सकता है।

(द) **मोक्ष**---प्रारम्भ में ही हमने देखा है कि वाह्य रूप से मोक्ष की स[illegible] कोई मनुष्य नहीं करता है; परन्तु आन्तरिक रूप से मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास अ[illegible] करता है। चूँकि पुरुषार्थ से हमारा अभिप्राय मनुष्य के इष्ट वस्तु के लिए किए प्रयास से है इसलिए मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है। चूँकि मोक्ष जीवन का अ[illegible] लक्ष्य है इसलिए मोक्ष को अन्तिम प्रयास माना गया है। और इसका स्थान पुरुषार्थों की कोटि में सबसे पीछे दिया गया है।

इसका सम्बन्ध केवल व्यक्ति से है। इसमें समूह का कोई स्थान नहीं [illegible] व्यक्ति समूह से अलग होकर धर्म के अनुसार अर्थ एवं काम के साधना के पश्चात् मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस स्थिति में आन्तरिक चिन्तन तक ही व्यक्ति सीमि[illegible] होता है और वह इसके प्राप्ति का प्रयास करता है। यह बात अन्यथा है कि कित[illegible] भी व्यक्ति की भावनाएँ विचारों तक सीमित हो जायँ पर वह सामाजिक प्रभाव [illegible] ही परिणाम होता है। इसीलिए मनु ने कहा है कि मोक्ष तब तक नहीं प्राप्त कि[illegible] जा सकता जब तक हम सम्पूर्ण कष्टों के बोझ से मुक्त नहीं हो जाते। यही स्थि[illegible] आत्मपरीक्षण की होती है, जहाँ समाज से अलग स्वयं हम धर्म के पर्यावरण में इत[illegible] अधिक वेष्ठित होते हैं कि अपने दोषों को देखने लगते हैं तथा उस अनन्त की वास्त[illegible] विक सत्ता का हमें आभास होने लगता है। इस समय से प्राणी सारे दुर्गुणों से वंचि[illegible] हो जाता है एवं संसार में व्याप्त माया तथा सत्य की वास्तविक अनुभूति करने ल[illegible] है, जिससे अन्ततोगत्वा आवागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है।

आश्रमों में भी, जिनका विभाजन पुरुषार्थों के समुचित साधन के लिए ही किया गया है, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम यह दो ऐसे आश्रम बनाए गए हैं जहाँ व्यक्ति मोक्ष का साधन कर सकता है। इन दोनों में वानप्रस्थ में मोक्ष की साधना मात्र ही व्यक्ति कर सकता है पर संन्यास में वह इसको पूर्णरूपेण प्राप्त करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है मोक्ष की साधना अन्य पुरुषार्थों की अपेक्षा गुरु है। इसकी साधना में चित्र वृत्तियों की एकाग्रता के साथ ही पूर्ण तनम्यता आपेक्षित होती है।

सापेक्षिक महत्व

जैसा ऊपर हमने देखा है वाह्य जीवन में साधारण दृष्टि से धर्म एवं मोक्ष का कोई महत्व नहीं दिखाई पड़ता है। यदि कुछ भी महत्वपूर्ण पुरुषार्थ दिखाई पड़ता है तो वह है अर्थ और काम, जो वर्तमान भौतिक संसार की धुरा है। परन्तु अन्ततोगत्वा कोई भी ऐसा इस सृष्टि में नहीं है कि धन और वासना के पीछे अपनी मानवता, अपनी सामाजिक मर्यादा तथा अपना स्वरूप खो वैठे जब तक उसकी बुद्धि भ्रमित न हो गई हो। इसलिए विवेक वह प्रमुख नियन्त्रक यन्त्र है जिसके सहारे ही हम सम्पूर्ण अपनी क्रियाओं को केवल नियन्त्रित ही नहीं कर सकते परन्तु साथ ही उसको विवेक की तराजू पर भी आँक सकते हैं। वही हमें औचित्य का प्रदर्शन करता है तथा सत और असत के बीच की रेखा खींचता है। इसलिए अर्थ और काम की अपेक्षा भले ही प्रत्यक्ष रूप में धर्म का कोई भी महत्व न हो परन्तु हम कभी इस बात को अस्वीकार भी नहीं कर सकते·परोक्ष रूप में इसका वहुत वड़ा हाथ है अन्यथा जीवन झंझावात में पड़े नाविक विहीन नाव की भाँति अनियन्त्रित बन जाता है। इतना ही महत्व मोक्ष का भी है और इसी रूप से। इसका भाव इतना गम्भीर है कि वाह्य रूप से इसे कोई भी नहीं आँक सकता पर आन्तरिक दृष्टि से यही वह केन्द्र विन्दु है जहाँ सम्पूर्ण अर्थ एवं काम से प्रेरित क्रियाएँ जाकर उपयुक्तता प्राप्त कर सकती हैं। इसके साधना के अभाव में मानव की सम्पूर्ण क्रियाएँ ठीक उसी प्रकार भवसागर में इधर-उधर फिरती रहेंगी जैसे एक नाविक की नाव जिसे अपने गन्तव्य का ही पता नहीं है।

ऊपर के इस विवेचन के पश्चात् हमने देखा कि अर्थ और काम दोनों का स्थान वाह्य संसार तक ही सीमित है पर आन्तरिक रूप से धर्म एवं मोक्ष की ही प्रधानता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जहाँ अर्थ एवं काम का महत्व हमारे जीवन में प्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होता है वहाँ धर्म एवं मोक्ष का महत्व परोक्ष रूप से बनता है। इसलिए इन दोनों परोक्ष महत्व के पुरुषार्थों का सापेक्षिक महत्व हम नहीं आँक सकते। यह दोनों ही आध्यात्मिक जगत की साधनाएँ हैं। इनका महत्व विचार जगत का होता है। भावनाओं को इसीलिए प्रत्यक्ष रूप से इनसे बल मिलता है तथा भावना जनित क्रियाएँ जो मानव करता है उन पर इसका प्रभाव परोक्ष रूप से होता है। जैसे धन कमाने के लिए धर्म जहाँ प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है

कि किसी को भी सता कर धन नहीं अर्जित किया जाय वहीं परोक्ष रूप से धन एकत्रित करने की जितनी भी क्रियाएँ मानव करता है उसमें औचित के धरातल से नीचे उतरने से वह रोकता है। यद्यपि क्रियाओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अर्थ एवं काम से होता है फिर भी बिना धर्म के अंकुश के तथा मोक्ष को केन्द्र बनाए न तो इनकी उपयुक्त साधना ही हो पाती है और न प्रणयन ही। इसलिए औचित्यपूर्ण रीति से क्रियाओं को प्रारम्भ करने और एक केन्द्र की ओर सम्पादित करने के लिए यही दो पुरुषार्थ विशेष महत्व के हैं।

इस प्रकार पुरुषार्थों की दो मूल श्रेणियाँ बनती हैं; एक श्रेणी वह जिनसे हम भौतिक जगत में अपने अभीष्ट वाह्य प्रलोभनों की साधना करते हैं तथा दूसरे वह जिनसे आध्यात्मिक जगत में अभीष्ट प्रवृत्तियों की साधना करते हैं। भौतिक प्रलोभनजनित साधना के पुरुषार्थ हैं—अर्थ और काम तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के साधना के पुरुषार्थ हैं—धर्म और मोक्ष। संसार का आन्तरिक पक्ष भले ही आध्यात्मिक हो पर वाह्य पक्ष पूर्ण भौतिक ही है। इसीलिए बिना दोनों पक्षों के समुचित समन्वय के मानव का तथा समाज का समुचित विकास सम्भव नहीं हो सकता। अतएव दोनों प्रकार के पुरुषार्थों की साधना समन्वय पूर्ण दृष्टि से पूर्ण आवश्यक है। यदि एक पक्ष को भी हम छोड़ दें तो हमारा जीवन अधूरा हो जायगा।

अतएव पुरुषार्थ का द्वि-मुखी स्वरूप है भौतिक एवं आध्यात्मिक तथा दूसरे शब्दों में सामूहिक एवं व्यक्तिगत क्योंकि जो भौतिक है वही सामूहिक है तथा जो आध्यात्मिक है वही व्यक्तिगत है। यहाँ यह व्यावहारिक एवं विचारात्मक सम्बन्ध व्यक्ति का व्यक्ति से तथा व्यक्ति का समूह से धर्म के ही आधार पर बनाये रखने का प्रयास किया जाता है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि किसी भी मानव क्रिया में अर्थ और काम अगर उत्तेजक विन्दु हैं तो धर्म उसका निर्णायक स्थल और मोक्ष अन्तिम लक्ष्य।

God is almighty

—o—

अध्याय ४

वर्ण व्यवस्था

(१) महत्व

मानव एक बुद्धिजीवी प्राणी है। वह सदा अपने विकास के क्रम का एक नवीन मार्ग प्रशस्त करता रहता है। पर विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारतीय दार्शनिक, मनीषी एवं समाज सुधारक कभी भी किसी वस्तु को हेय दृष्टि से नहीं देखते। इसी से भारतीयों का दृष्टिकोण एकांगी नहीं होता। प्रत्येक वस्तु को, प्रत्येक विचार का तथा प्रत्येक अंग को हमारे जीवन में समान स्थान दिया गया है। किसी भी समाज के दो पक्ष होते हैं: व्यक्तिगत एवं सामाजिक अथवा व्यक्ति प्रधान एवं समष्टि प्रधान। भारतीय दृष्टिकोण में दोनों ही पक्षों को महत्व दिया गया है जब विश्व के अन्य देशों में प्राय: एक ही पक्ष पर बल दिया गया। भारतीय समाज जहाँ व्यक्ति के स्थान को भी महत्व देता है वहीं समाज के स्थान को भी। पर योरोप में केवल व्यक्ति की ही प्रधानता है। यही एकांगी दृष्टिकोण है। पर यदि निष्पक्ष रूप से इस विषय के औचित्य पर विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ही जीवन के दो पहलू हैं। एक का उत्थान दूसरे के बिना सदा अधूरा रहता है। इसलिए तब तक व्यक्ति और समाज दोनों में से किसी एक का भी समुचित विकास नहीं हो सकता जब तक दोनों पक्षों को समान महत्व न दिया जाय। ऐसी स्थिति में एक का उत्थान दूसरे से सम्बद्ध हो जाता है। यही विकास का वास्तविक सोपान है। इसका कारण यह है कि ऐसे विचार से हम जीवन के प्रति संकुचित नहीं रह जाते परन्तु व्यापक दृष्टि से आगे बढ़ते हैं। इसी अवस्था के बाद ही हमारा वास्तविक विकास सम्भव होता है। चूंकि भारतीय परम्परा ने जहाँ मानव का समादर व्यक्ति के रूप में किया वहीं उसका स्थान समाज में भी आँका और उसके महत्व पर बल दिया। इससे एक ओर इतिहास जहाँ दूसरी संस्कृतियों के विनाश का करुण क्रन्दन करता है वहीं दूसरी ओर हमारी सांस्कृतिक परम्परा की अक्षुण्णता का गौरव गान गाती है। इस बात को इकबाल की यह नज्म[1] बार-बार दुहरा रही है—

> **यूनानो मिस्रो रोमा सब मिट गए जहाँ से,**
> **. . . . .**
> **कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,**
> **सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमा हमारा ।।**

---

१ भारतीय संस्कृति का प्रवाह, इन्द्रविद्या वाचस्पति।

वास्तव में बात केवल यही है कि हमने उस उदार और विस्तृत पलड़े पर सब को समान रूप से चढ़ाया है कि तूफान के झोंके के सामने भले ही कुछ समय के लिए हमें झुकना पड़ा हो पर शीघ्र ही तूफान की गति हममें मिल गई। इसी व्यक्तिगत एवं सामाजिक पहलू को, इनके विकास के क्रम में, हमारे शास्त्रकारों ने दो विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है तथा यह सिद्धान्त निरूपित किया है जिससे मानव का विकास दोनों ही दृष्टिकोणों से सम्भव हो सके। इसे क्रमशः आश्रम एवं वर्ण व्यवस्था के नाम से हम सम्बोधित करते हैं। यह दोनों ही व्यवस्थाएँ भारत की एक अनुपम सामाजिक संस्थाएँ हैं जिनकी तुलना विश्व की किसी भी सामाजिक संस्था से नहीं की जा सकती।[१] किसी भी दूसरे देश के समाजशास्त्रियों द्वारा इस प्रकार की संस्था की ओर कोई ध्यान ही कभी नहीं दिया गया है। विश्व के दार्शनिकों, विचारकों एवं नेताओं के कार्यों का यदि सामूहिक रूप से अध्ययन किया जाय तो केवल प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में एक स्थान पर इस सिद्धान्त का प्रणयन किया है। पर वह भी केवल सैद्धान्तिक रूप में है व्यावहारिक रूप में नहीं। इसे श्री अरविक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्लेटो का यह विचार भारतीय विचार का अनुकरण मात्र है।[२]

भारतीय संस्कृति का मूलाधार है 'आध्यात्मवाद'। यह विषय स्वतः गहन है। अतएव दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक साधारण भारतीय के जीवन का आदर्श है मोक्ष की प्राप्ति। इस बात की पुष्टि हिन्दू धर्म की परिधि में आने वाले सम्पूर्ण धर्मों के लक्ष्य से होती है, भले ही उनमें नाम का अन्तर हो। श्रमण धर्म इसे निर्वाण कहता है तथा शैव और वैष्णव मोक्ष कहता है पर बात एक ही है, उद्देश्य और आदर्श भी एक ही हैं। इसकी प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण समाज की क्रियाओं को एक मार्ग प्रदान किया गया है। व्यक्ति के जीवन के इसी मार्ग प्रदान के क्रम को, जिसमें उसका व्यक्तित्व इस प्रकार विकसित करने का प्रयास किया जाता है कि जिसके द्वारा वह मोक्ष की प्राप्ति कर सके आश्रम (स्कूलिंग) कहते हैं। पर वह व्यक्ति एक संकुचित परिधि में ही बँध न जाय तथा वह अपने तक ही केवल सीमित रहकर सर्वस्व का उत्सर्ग न कर दे उसको समाज के सम्पर्क में लाने का प्रयास किया गया, इस दृष्टिकोण से कि वह स्व का विकास करते हुए पर के विकास में भी 'यथा-योग्य' सहायक हो। इसी प्रयास को वर्ण शब्द की संज्ञा देते हैं। इस व्यवस्था (सिस्टम) को क्रमशः आश्रम व्यवस्था एवं वर्ण व्यवस्था के नाम से सम्बोधित करते हैं। पर दोनों का उद्भव एक ही कारण से होने तथा लक्ष्य एक ही ओर निर्दिष्ट रहने से

---

१ हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, प्रभु, पृ० ७५।

२ दी मेसेज ऑव प्लेटो, ई० जे० अरविक––(वही)

साधारणतया समाजशास्त्री इन्हें एक ही साथ पुकारते हैं। इसलिए यह दो अलग-अलग व्यवस्थाएँ होने पर भी उपर्युक्त कारणों से एक ही साथ समन्वित रूप में 'वर्णाश्रम व्यवस्था' के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है।

अर्थ—यहाँ हमारा तात्पर्य केवल व्यक्ति के सामाजिक जीवन से ही है। अर्थात् वर्णव्यवस्था से है। परन्तु इस व्यवस्था की व्याख्या और स्पष्टीकरण के लिए यह अनिवार्य था कि इसके समान तथा साथ प्रयुक्त होने वाली व्यवस्थाओं से भी परिचय प्राप्त किया जाय एवं उनके महत्व से भी अवगत हों। जहाँ तक इस पाठ का सम्बन्ध है 'वर्ण' शब्द का आजकल प्रयोग बड़े ही गलत अर्थ में किया जाने लगा है। वर्ण शब्द का अभिप्राय साधारणतया 'श्रम-विभाजन'[३] से किया जाता है। विदेशी इतिहासकार डाक्टर विनसेन्ट स्मिथ ने भी इसी बात को अपनाया है कि वर्ण का अर्थ है व्यवसाय चुनना।[४] पर यह दृष्टिकोण भ्रामक एवं अमान्य है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर हुआ है परन्तु सदा आर्य और दस्यु में अन्तर स्पष्ट करने के लिए। आर्य गोरे थे और दस्यु काले, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि तब शाब्दिक अर्थ में इसका प्रयोग रंग के सम्बन्ध में किया जाता था जिसे डा० ई० जे० रैप्सन ने वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है।[१] परन्तु यह सभी 'वर्ण' का शाब्दिक अर्थ है। जिस अर्थ में अथवा आशय से वर्ण का प्रयोग व्यवस्था के रूप में किया गया उसका अर्थ इससे कुछ भिन्न प्रतीत होता है। वहाँ इसका अर्थ शाब्दिक न होकर लाक्षणिक है। पर यदि श्रम-विभाजन के अर्थ को हम लाक्षणिक मानकर स्वीकार करें तो क्या सत्य है? वास्तव में श्रम-विभाजन न तो इस व्यवस्था का उद्देश्य था और न माध्यम। इसका माध्यम था गुण और कर्म तथा उद्देश्य था समाज-कल्याण। इस बात को श्री कृष्ण ने गीता में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'चारों वर्णों की सृष्टि' मैंने गुण और कर्म के आधार पर किया।[२]

(२) उत्पत्ति के सिद्धांत

ऊपर वर्ण शब्द के अर्थ पर विवेचन किया जा चुका है। वास्तव में जिस सन्दर्भ में इसका प्रयोग हमारे समाजशास्त्रियों ने, सामाजिक संस्था के सबन्ध में, किया है वह गुण-कर्म पर ही आधारित है। भले ही इसका प्रयोग रंग के अर्थ

---

१ भारत की जन जातियाँ तथा संस्थाएँ—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ० ३४३।
२ अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया—स्मिथ।
३ कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया—रैप्सन।
४ चातुर्वर्णं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः। (गीता)

में शाब्दिक रूप में किया जाता हो, फिर भी आर्य और द्रविणों के गुण [3] एवं कर्म दोनों में ही भेद था। इसलिए सम्भव है इसी विभेद को स्पष्ट करने के लिए आर्यों ने वर्ण शब्द का प्रयोग पहले पहल किया हो जो पीछे अपने अन्दर गुण एवं कर्म जन्य भेद को स्पष्ट करने के लिए किया जाने लगा। श्रम-विभाजन तो किसी भी रूप में इसका अभिप्राय स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के दसवें मण्डल में विराट पुरुष की जो कल्पना की गई है तथा उससे जिन विभिन्न प्रकार के तथाकथित वर्णों की निष्पत्ति हुई है उस संदर्भ के वर्ण शब्द का प्रयोग ही नहीं है। यह श्रमविभाजन के सिद्धान्त को खण्डित करने का एक पुष्ट तर्क है। हाँ पीछे श्रम विभाजन इसी आधार पर हुआ यह भी असत्य नहीं है पर सैद्धान्तिक दृष्टि में प्राचीन काल में इस सिद्धान्त को वर्ण व्यवस्था से कभी भी सम्बद्ध नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में हम इसकी उत्पत्ति के सिद्धान्तों पर यदि विचार करें तो यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

(अ) ऋग्वैदिक सिद्धान्त—ऋग्वेद में केवल पुरोहित तथा राजन्य शब्दों की ही बहुत बहुलता है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में केवल पुरुष-सूक्त का ही एक श्लोक है जिसमें एक विराट पुरुष की कल्पना की गई है और उसी के अंगों से चार प्रकार के व्यक्तियों की निष्पत्ति बताई गई है।[1] इस ऋचा को वर्ण व्यवस्था का साधारणतया आधार मानकर यह कहा जाता है कि यह संस्था अत्यन्त पुरानी है। यद्यपि इस मत के मानने वाले कुछ विद्वान इतना तर्क और भी भिड़ा लेते हैं कि वर्ण व्यवस्था का प्रचलन इस समय नहीं था क्योंकि वर्ण शब्द का प्रयोग इस संदर्भ में नहीं हुआ है जिससे हमारा अभिप्राय है। फिर भी इतना तो मानते ही हैं कि इस व्यवस्था का भले ही व्यावहारिक प्रयोग इस समय सम्भव न हो सका हो पर इसमें सन्देह नहीं कि

---

१ गुण के सम्बन्ध में अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय मनीषियों ने विचार किया है। मनुष्य जिस प्रकार के परिवार, वातावरण, परिस्थिति—सामाजिक एवं राजनीतिक—आदि में रहता है उसका उसके जीवन पर अमिट छाप पड़ता है। यही छाप उसका गुण हैं। इस प्रकार के छाप से तीन प्रकार के गुण व्यक्ति में विद्यमान हो जाते हैं जो दूसरे जन्म में बने रहते हैं। इस प्रकार गुण से अभिप्राय पूर्वजन्म के अर्जित गुण से हैं। इन्हीं तीनों गुणों की समावस्था को प्रकृति कहते हैं—'सत्वरजस्तमसां समयावस्था प्रकृतिः।' इसकी विषमावस्था को अतएव विकृति कहते हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर व्यक्ति चार प्रकार के कार्य करने लगता है—सात्विक; सात्विक-राजसिक; राजसिक–तामसिक; तामसिक। पूर्व जन्म के गुण तथा उसके आधार पर इस जीवन में इन चार प्रकार के कार्यों को कर्म की संज्ञा दी गई है।

२ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

इसकी रूपरेखा की कल्पना लोगों ने कर लिया था। परन्तु अभी भी एक पक्ष ऐसा है जो यह कहता है कि यह ऋचा ऋग्वेद में छेपक है जो पीछे जोड़ दी गई। इस मत के समर्थक जिम्भर आदि हैं। फिर भी चाहे यह ऋचा पहले की अथवा पीछे जोड़ी गई हो यहाँ इस पर विवाद करना हमारे अध्ययन परिधि के बाहर की बात है। पर अंगों से उत्पत्ति और उनका एक विशेष नामकरण तथा दूसरे स्थल पर इसी ग्रंथ में प्रत्यक अग से उत्पन्न होने वाले व्यक्ति के लिए अलग-अलग कर्म का निर्देश[2] यही सिद्ध करता है कि पुरातन काल में व्यक्ति-व्यक्ति मे भेद, जो सामाजिक विभाजन का स्वरूप समष्टिगत रूप में लेता है, गुण और इस जीवन में कर्म[3] का ही आधार है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त की यह ऋचा जो मुख से ब्राह्मणो की उत्पत्ति, भुजाओं से क्षत्रियों की, उदर से वैश्यों की तथा पैर से शूद्रों की बताता है इनका प्रत्येक का कार्य भी इन अंगों के गुणों के ऊपर ही आधारित बतलाती है। ऋग्वेद के १,११३,१६ श्लोक में एक अभिजात वर्ग का स्थान निर्देषित है, दूसरा गौरव अर्जित करने वाले वर्ग का, तीसरा लाभ अर्जित करने वाले वर्ग का और चौथा श्रम करने वाले वर्ग का। यहाँ प्रत्यक मे क्रमशः एक-एक वर्ण के कर्म की ओर संकेत है। पहला वर्ग ब्राह्मण, दूसरा क्षत्री, तीसरा वैश्य तथा चौथा शूद्र वर्ण को व्यक्त करता है। ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख से बताई गई। वह शरीर का सबसे अभिजात स्थान है, इसीलिए ऋगवेद में भी इसे अभिजात वर्ग के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार भुजा का गुण रक्षा करना है और गौरव प्राप्त करना है। इसी से भुजा से उद्भूत क्षत्री को गौरव अर्जित करने वाला बताया गया है। उदर का कार्य शरीर को अन्न के द्वारा शक्ति प्रदान करना अथवा शरीर के लिए लाभ अर्जित करना है, इसी से उदर से उद्भूत वैश्यों को लाभ अर्जित करने के गुण से विभूषित किया गया है। पैर का गुण आज्ञानुकरण है इसी से पैर से उद्भूत शूद्रों का गुण श्रम बताया गया है। इस प्रकार इसमें गुण को आधार माना गया है। पर उस गुण के अनुसार, व्यक्ति जब काम करता है तभी उसका वास्तविक उपयोग हो पाता है अन्यथा यह गुण दूसरे गुणों में मिश्रित हो जाता है और कर्म भी इसी प्रकार

१ ऋग्वेद—I ११३, १६।

२ **कर्म के सम्बन्ध में सामान्यतया विद्वानों का एक वर्ग यह मानता हैं कि पूर्वजन्म के कर्म के आधार पर ही इस जन्म का वर्ण निर्धारित होता है। पर यदि वशिष्ट का उदाहरण लिया जाय तो स्पष्ट हो जाता हैं कि वह छत्री वर्ण के थे पर चूंकि इसी जन्म में वह ब्राह्मण का कार्य करने लगे अतएव ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए तथा ऋषि, महर्षि एवं ब्रह्मर्षि के पद को इसी जीवन में प्राप्त पर लिया। अतएव कर्म से अभिप्राय वर्तमान जीवन के कर्म की ओर प्रवृत्ति से है।**

बदल जाता है। अतएव वर्ण भी बदला हुआ मानने लगते हैं। इसी को गुण-कर्म का आधार कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक काल में यदि वर्ण-विभाजन था तो गुण एवं कर्म के आधार पर।

(ब)—उपनिषद का सिद्धान्त—ऋग्वेद के अध्ययन के बाद जब हम उत्तर वैदिक साहित्य एवं वेदांगों का अध्ययन करते हैं तो उपनिषदों में वर्ण विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है[1]। वृहदारण्यक उपनिषद इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। इसमें वर्ण के सम्बन्ध में जिस सिद्धान्त का प्रणयन किया गया है उससे यह व्यक्त है कि पहले ब्रह्मा ने केवल ब्राह्मणों को ही उत्पन्न किया। पर उससे सामाजिक कल्याण पूर्ण सम्भव नहीं हो सका। अतएव रुद्र, इन्द्र, वरुण और यम के योग से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई। फिर भी जब विकास एवं कल्याण दोनों ही अपूर्ण रहे तब वसु, मरुत, रुद्र, अदित आदि के सहयोग से वैश्यों की उत्पत्ति हुई। फिर भी क्रम अधूरा रहने पर पूशन के योग से शूद्र की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि देवताओं के गुणों से आधारित इन चार वर्णों का उद्भव हुआ। इस प्रकार यदि अलग-अलग वर्णों के प्रमुख देवताओं के गुणों का विवेचन किया जाय तो यह भी स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक वर्ण की विशेषताएँ उनके प्रतिनिधि देवताओं में विद्यमान थीं। इसीलिए प्रो० रानाडे ने यह विचार व्यक्त किया है कि 'मानवीय जगत में यह जाति-विभाजन दैवीय जगत के ही आधार पर था'।[2] अर्थात् देवताओं में भी चार वर्ण बने हैं। इसी प्रकार पक्षियों के, वृक्षों के, पशुओं के व्यवहार में भी हम ब्राह्मण क्षत्री आदि का भेद मानते हैं। यह केवल व्यावहारिक जगत की बात नहीं है परन्तु पुस्तकों में भी जहाँ इनके सम्बन्ध में विचार किया गया है वहाँ यह भेद व्यक्त है। छान्दोग्य उपनिषद यह व्यक्त करता है कि मनुष्य का वर्ण पूर्वजन्म के कर्म के ऊपर आधारित होता है। वास्तव में कर्म का अर्थ यहाँ 'गुण-कर्म' के कर्म से नहीं है, क्योंकि कर्म से गुण होता है और गुण के अनुसार कर्म होता है। इस प्रकार यहाँ भी यह सिद्धान्त यही सिद्ध करता है कि पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार अर्जित गुण और उसके अनुसार किए जाने वाले कर्म को ही वर्ण विभाजन का आधार माना गया।

(स)—महाकाव्य का सिद्धान्त—महाकाव्यों के अध्ययन से भी वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में सिद्धान्त का ज्ञान होता है। महाभारत को विशेष रूप से इस सम्बन्ध में हम ले सकते हैं।[3] महाभारत के शान्तिपर्व में महर्षि भृगु ने अपने शिष्य भार-

---

१ वृहदारण्यक उपनिषद १, ४, ११–१५।

२ ए कन्सट्रक्टिव सर्वे ऑफ़ उपनिषदिक फिलासफी, रानाडे, पृ० ६०।

३ महाभारत (वनपर्व)—१४९, १८।

द्वाज को उपदेश देते हुए यह कहा कि सबसे पहले ब्रह्मा ने ब्राह्मणों को जन्म दिया पर इससे सृष्टि का विकास जब न हो सका तब उन्होंने क्षत्री, वैश्य एवं शूद्रों का प्रजनन किया। इनका वर्ण अर्थात् रंग क्रमशः श्वेत, लाल, पीला एवं काला था। इस पर भारद्वाज ने शंका उत्पन्न किया कि यदि वर्ण भेद रंग के आधार पर ही करना हो तब तो बड़ी कठिनाई है। तब भृगु ने उत्तर दिया कि ब्रह्मा ने सब को समान उत्पन्न किया यह अपने कर्म के अनुसार अलग-अलग वर्ण में बँट गए। एक वर्ग ऐसा है जो क्रोधी एवं मानी है वह क्षत्री है, दूसरा वर्ग वह है जो अपने कार्यों के प्रति उदासीनता व्यक्त करता है और एक दूसरे के कार्यों को करने लगता वह क्रमशः वैश्य एवं शूद्र कहलाता है। आगे उन्होंने यह भी कहा कि जो अपने कर्तव्य को पूर्ण रूप से भूल गए वह निम्नजाति में परिगणित किए जाने लगे यथा पैशाच, राक्षस, प्रेत, म्लेच्छ आदि।[1] इस प्रकार कर्म पर यहाँ बल दिया गया है यह पूर्ण स्पष्ट है। कर्मच्युत होने से ही ब्राह्मण वर्ण से ही कई वर्णों की निष्पत्ति हुई। पर कर्म का आधार ऊपर ही हमने स्पष्ट किया है कि गुण होता है। अतएव यहाँ कोई संशय नहीं रह जाता कि महाभारत के सिद्धान्त में भी गुण-कर्म को आधार न माना गया हो।

पुनः इसकी पुष्टि इसी महाकाव्य में प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था के उद्भव के दूसरे सिद्धान्त से होता है जो ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। महाभारत भारत के शान्तिपर्व में विराट पुरुष से उद्भूत होने के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन मिलता है।[2] इसके सम्बन्ध में ऋग्वैदिक सिद्धान्त पर विचार करते हुए व्याख्या किया जा चुका है। वर्ण के सिद्धान्त की व्याख्या यहीं से समाप्त नहीं होती। आगे भी इस पर विचार मिलता है। जनक ने अपने गुरु पराशर से इस वर्ण विभेद के सम्बन्ध में यह शंका व्यक्त किया कि सम्पूर्ण मानव का उद्भव जब ब्रह्मा से ही हुआ तो यह भेद इनमें क्यों पाया जाता है। इस पर पराशर ने उत्तर दिया कि सम्पूर्ण मानव एक ही जाति (वर्ण) के थे परन्तु जब बीज और भूमि निःशक्त पड़ जाती है तो जैसे खेती बदल जाती है उसी प्रकार मनुष्य का वर्ण बदल जाता है।[3] यहाँ बीज से मतलब है गुण से जो बीज रूप में मनुष्य के अन्दर पड़ा रहता है। और भूमि से अर्थ कर्म से है। इस प्रकार गुण एवं कर्म के अन्तर के कारण ही वर्ण में अन्तर आया और चार वर्ण बन गए।

इस प्रकार महाकाव्य में वर्जित विभिन्न स्थलों की व्याख्या से यही स्पष्ट होता है कि सभी स्थल केवल एक बात पर ही बल देते हैं कि वर्ण का विभाजन गुण एवं कर्म के आधार पर हुआ है।

---

१ वही (शान्तिपर्व), १८८, १–१७.।

२ वही (वही), ७५, ४–५।

३ महाभारत

(द) **स्मृतियों का सिद्धान्त**––स्मृतियों में एकमात्र स्मृति जो हिन्दू समाज-शास्त्र के नाम से पुकारी जा सकती है वह है मनुस्मृति। मनुस्मृति में मनु ने ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के ही सिद्धान्त की आवृत्ति की है।[1] इसका कारण सम्पूर्ण प्राणिमात्र का कल्याण करना उन्होंने बताया है। इसीलिए अलग-अलग कर्म का सम्बन्ध एक-एक वर्ण से उन्होंने जोड़ा है। इस प्रकार मनु ने कहा कि केवल चार वर्णों का ही उद्‌भव हुआ। पुरुष-सूक्त के सम्बन्ध में ऋग्वैदिक सिद्धान्त में यथोचित व्याख्या की जा चुकी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्मृति में भी गुण-कर्म को ही आधार के रूप में स्वीकार किया गया।

(य) **गीता का सिद्धान्त**––गीता में भगवान श्री कृष्ण ने वर्ण के उद्‌भव के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में कहा है––

चातुर्वर्ण मया सृष्टं गुण-कर्म विभागशः। (गीता)

यह इस बात को व्यक्त करता है कि चातुर्वर्ण की उत्पत्ति गुण-कर्म के आधार पर ही हुई। इतनी स्पष्ट व्याख्या किसी भी सिद्धान्त में अभी तक नहीं मिली। इस प्रकार गीता ने स्वीकार किया है कि वर्ण के उद्‌भव का गुण एक मनो-नैतिक आधार है। श्री कृष्ण ने यह भी कहा है कि संसार तीन गुणों का सम्मिश्रण है। उन्होंने सत्व को शुचि, ज्ञान, आत्म-संबुद्धता से अलंकृत किया है, रज को काम, क्रोध, मद, लोभ आदि से सम्बद्ध किया है तथा तम को अज्ञानता, तन्द्रा आदि से युक्त किया है। इसका परिणाम उन्होंने बताया है कि सत्व के ही आधार पर मोक्ष, रज के आधार पर कर्म तथा तम के आधार पर कुत्सित जीवन व्यक्ति प्राप्त करता है। सब प्राणियों को 'सात्विक त्याग'[2] का ही अनुगमन उन्होंने श्रेयस्कर बताया है। वंश परम्परा, व्यवसाय और पर्यावरण के आधार, गुणों में भेद के सिद्धान्त को वह स्वीकार करते हैं और इसी के आधार पर गुण और कर्म में व्यक्ति-व्यक्ति के अन्दर भेद मानते हैं। इसीलिए प्रत्येक वर्ण का अलग-अलग कर्म भी उन्होंने बताया है।

(र) **पुराणों का सिद्धान्त**––पुराणों में भी विशिष्ट वर्ण में विशिष्ट गुण के स्थान को स्वीकार किया गया है। विष्णु पुराण में पुरुष सूक्त के ही सिद्धान्त की आवृत्ति है।[3] इस प्रकार आगे इसी पुराण में यह भी कहा गया है कि जब ब्रह्मा किसी विशिष्ट गुण को स्थान देना चाहते थे तो उस गुण वाले शरीर के अंग से एक व्यक्ति को जन्म देते थे। वायुपुराण भी इसी विचार की पुनरावृत्ति करता है। इस प्रकार पुराण में वर्णित सिद्धान्त भी गुण कर्म के ही सिद्धान्त को प्रधानता

---

१ मनुस्मृति

२ **'कर्मण्येवाधिकारस्तु मा फलेषु कदाचन'। (गीता)**

३ **विष्णु पुराण।**

देते हैं। पुरुष सूक्त के सिद्धान्त पर इतना बल अनेक ग्रंथों में सम्भवतः इसीलिए दिया गया है कि वेद को ही धर्म के सम्बन्ध में सदा प्रमाण माना गया है।[1]

(ल) शुक्रनीति का सिद्धान्त—शुक्रनीति में यह वर्णन मिलता है कि वर्ण निर्णय व्यक्तिगत गुण पर ही होता है न कि व्यक्ति के जन्म पर। इस प्रकार पुनः गुण पर ही बल मिलता है जो अन्ततोगत्वा 'गुण-कर्म' दोनों पर आधारित कहा जा सकता है।[2]

(व) आधुनिक विचारकों का मत—आधुनिक काल में भी भारतीय तथा विदेशी विचारकों ने वर्ण के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रतिपादित किये हैं।

(१) स्मिथ का विचार—

डा० विन्सेन्ट स्मिथ का यह विचार है कि वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति वृ धातु से हुई है जिसका अर्थ है वरण करना या चुनना। जो जिस प्रकार के व्यवसाय को चुनता था वह उस वर्ण का गिना जाता था। इस मत के समर्थक डा० पुण्टाम्बेकर भी हैं। इन्होंने वर्ण की उत्पत्ति कर्म के आधार पर बताया है।

(२) डा० इ० जे० रैप्सन का विचार—

केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया में डा० रैप्सन ने वर्ण शब्द को रंग के अर्थ में स्वीकार किया है। डा० काणे ने भी रंग विभेद के कारण ही वर्ण विभेद का सिद्धान्त स्वीकार किया है। इस प्रकार यह वर्ण रंग को बल देता है। परन्तु जैसा हमने महाभारत के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए देखा है कि रंग को ही वर्ण भेद का कारण पहले स्वीकार किया गया जिसकी व्याख्या कर्म के आधार पर भृगु ने भारद्वाज से किया है। उसी प्रकार यहाँ रंग भेद भी अन्ततोगत्वा गुण एवं कर्म को ही संकेत करता है।

इस प्रकार वर्ण व्यवस्था के उद्‌भव के विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि वर्ण के उद्‌भव के सम्बन्ध में चाहे किसी जिस भी सिद्धान्त को हम स्वीकार करें सब में केवल एक ही आधार समान रूप से विद्यमान दिखाई पड़ता है वह है—'गुण एवं कर्म' का सिद्धान्त।

(३) वर्ण धर्म

वर्णों के उद्‌भव की व्याख्या करते हुए कुछ ग्रंथों के सम्बन्ध में हमने यह देखा है कि वह वर्ण के कर्म को भी स्पष्ट करते हैं। यही दूसरे शब्दों में वर्ण धर्म कहलाता है। 'धर्म के स्रोत' विषयक पाठ में धर्म का विवेचन करते हुए धर्म के दो स्वरूप पर विचार किया जा चुका है: एक श्रौत तथा दूसरा स्मार्त। स्मार्त धर्म के अन्दर जीवन के व्यावहारिक पक्ष का अध्ययन करते हैं। इसलिए वर्णों के कार्यों का औचित्य तथा आश्रम के कार्यों का औचित्य भी धर्म के ही नाम से संबोधित किया जाता है। अतएव वर्ण धर्म से अभिप्राय है प्रत्येक वर्ण वालों को क्या कार्य करना चाहिए?

१. वेदो अखिलो धर्ममूलं तद्विदांश्च स्मृतिशीले। गौ० ध० सू०
२. शुक्रनीति, 1, ७५—७६।

इस सम्बन्ध में यदि हम मनुस्मृति को आधार मानें जिसे समाज शास्त्र के रूप में हम मान सकते हैं, तो प्रत्येक वर्ण का धर्म अलग-अलग स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद, महाभारत, गीता आदि विभिन्न ग्रंथों में भी लगभग इन्हीं धर्मों की व्याख्या विभिन्न शब्दों में मिलती है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण के धर्म निम्नांकित हैं—

(क) **ब्राह्मणों के गुण-कर्म**—इस सम्बन्ध में हम मनुस्मृति के निम्नांकित श्लोकों को उद्धृत कर सकते हैं—

सम्मानाद् ब्राह्मणों नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥२–१६२॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥२–१६६॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥१०–७५॥
दानग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥४–१८६॥

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर ज्ञात होता है कि ब्राह्मण के लिए अध्ययन एवं अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना धर्म बताए गए हैं। परन्तु उसे आदर लेने, दान लेने से भरसक रोकने का ही प्रयास किया गया है। इसका कारण यह बताया गया है कि इससे तेज नष्ट हो जाता है। यह सभी कर्म सात्विक गुण के ही अन्तर्गत आते हैं। इसी से हम देखते हैं कि विश्वामित्र क्षत्री थे और वशिष्ट भी पर ब्राह्मण के कर्म करने से वह ब्राह्मण कहलाए।

(ख) **क्षत्रियों के गुण-कर्म**—मनुस्मृति तथा गीता दोनों ही ग्रंथों में क्षत्रियों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

(१) **प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।**
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनु० १–८९)

(२) **शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।**
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ (गीता १८–४३)

ऊपर के दोनों ही श्लोक लगभग एक ही विचार को भिन्न प्रसंगों में तथा अर्थों में व्यक्त करते हैं। इनका धर्म रक्षा करना, दान-देना, अध्ययन करना, विषयों में न फँसना आदि बताया गया है। क्षत्रियों की उत्पत्ति भुजा से बताई गई है। इसलिए भुजा के गुण शौर्य, तेज, बुद्धि दक्षता, युद्ध से न भागना दान देना आदि गीता ने क्षात्र कर्म बताया है।

(ग) **वैश्यों के गुण-कर्म**— वैश्यों के सम्बन्ध में कहा गया है—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वाणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषमेव च॥ (मनु० १–९०)

इस प्रकार पशु-पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, वाणिज्य पर देना तथा सूद पर रुपया देना, खेती करना ही वैश्यों का धर्म बताया गया है वैश्य तक द्विजों के अन्तर्गत परिगणित किए जाते हैं इसलिए अध्ययन, दान आ की बात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों ही के सम्बन्ध में समान रूप से पाई जाती है

(घ) **शूद्र के गुण-कर्म**—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में शूद्र का जन्म विरा पुरुष के पैर से बताया गया है। पैर का कार्य आज्ञा पालन है। इसीलिए मनु ने कहा है कि शूद्र को केवल एक ही काम का आदेश है कि बिना ईर्ष्या के सेवा क करता रहे।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ (मनु० १–९१)

इसी सम्बन्ध में मनु ने आगे कहा है कि आपत्काल में ब्राह्मण, क्षत्री धर्म अथवा इसमें अशक्त होने पर वैश्य का धर्म स्वीकार कर सकता है पर प्रतिबन्धों के साथ यथा वैश्य का व्यवसाय स्वीकार करने पर भी शराब, नम सांढ़, शहद, गोश्त, पकाया अन्न आदि उसे नहीं बेचना चाहिए[1] पर कहीं भी इस का वर्णन नहीं है कि द्विज को शूद्र का व्यवसाय स्वीकार करना चाहिए अथवा न सम्भवतः इसका यह तात्पर्य है कि किसी भी परिस्थिति में द्विज को शूद्र का व साय नहीं स्वीकार करना चाहिए। इसीलिए भीष्म ने कहा है कि धर्म और अ में स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता पर देश और काल ही इसका निर्णायक है

महाभारत से भी लगभग इसी बात की पुष्टि होती है। इसके श पर्व में क्रोध-नियन्त्रण, सत्य-भाषण, क्षमा, शुभाचरण स्त्री से पुत्र उत्पन्न क आर्जवम्, भृत्य-संरक्षण आदि नव धर्म सभी वर्णों के लिए बताया गया है।[3] बाद प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग धर्म बताया गया है। जो ठीक उसी का है जैसा स्मृति में वर्णित है। उपर्युक्त ज्ञान हमें महाभारत में भीष्म तथा श्वर[4] दोनों के वर्णन से प्राप्त होता है। इसी पुस्तक के वनपर्व में धर्म व्यक्ति रूप से धर्मराज युधिष्ठिर से मिलने आता है और कहता है कि 'ख्याति सत्य, नियन्त्रण, शुचि, सरलता, विनम्रता, दृढ़ता, दया, संन्यासी प्रवृत्तियाँ ही मेरी

१. महाभारत (शान्तिपर्व), ७८, ४–५।
२. वही, ७८, ३२।
३. वही, ६०, ७।
४. वही (अनुशासनपर्व), १४१, ६१–७९।

हैं। इसी प्रकार मुझे प्राप्त करने का माध्यम है; अनिष्ठुरता, शान्ति, नियन्त्रण, शुचि, अभिमान के अभाव आदि।'

ऊपर हमने यह देखा कि वर्णों का सामान्य धर्म क्या है। परन्तु धर्म के अवान्तर भेद को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वर्णों के धर्म का अलग-अलग अध्ययन महाभारत के आधार पर किया जाय। इस सम्बन्ध में हम देखते हैं कि ब्राह्मणों का प्राचीन धर्म इन्द्रिय-संयम बताया गया है। उसे मैत्र कहा गया है क्योंकि उसका धर्म है सब जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना। शेष धर्म मनुस्मृति के ही समान बताया गया है। क्षत्रियों के सम्बन्ध में भी महाभारत में यह उल्लेख है कि राजा चाहे दूसरा कर्म करे या न करे परन्तु प्रजा की रक्षा उसका वास्तविक धर्म है। इसीलिए उसे सदा युद्ध के लिए उद्यत रहना चाहिए। महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म वैशम्पायन के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि वैश्य का कर्म है धन, अध्ययन, यज्ञ, पवित्रतापूर्वक धन का संग्रह करना आदि। पशुपालन उनका विशिष्ट कार्य माना गया है। इसी से कहा गया है कि छः गाय का पालन करने वाला वैश्य केवल एक गाय के दूध का भागी बनता है तथा सौ गायों का पालन करने वाला एक गाय का ही और एक बैल मासिक के रूप में लेगा। इसी प्रकार दूसरे के अनाज के रक्षा करने पर $\frac{1}{6}$ भाग उसे वार्षिक वेतन के रूप में ग्रहण करना चाहिए। शूद्रों के सम्बन्ध में यहाँ कहा गया है कि सेवा मात्र ही उसका धर्म है। उसे धन नहीं संग्रह करना चाहिए क्योंकि इससे पाप जाग्रत होता है। मालिक की सेवा में रत शूद्र को वस्त्र और सुविधा की सामग्री देनी चाहिए यथा छाता, जूता, पगड़ी आदि। सन्तान के अभाव में यह धर्म बताया गया है कि शूद्र ही उसके लिए पिण्डदान करे। यदि मालिक कष्ट में हो तो शूद्र का धर्म है कि अपने धन से उसका पोषण करे।

इसके सम्बन्ध में कि वर्ण-धर्म क्या है मिथिला के एक धर्म व्याध द्वारा एक ब्राह्मण संन्यासी कौशिक को उपदेश देने की कथा का प्रसंग मिलता है। कौशिक मांस बेचने वाले उस व्याध के इतने गौरवपूर्ण पद को देख कर आश्चर्यचकित हुआ। परन्तु उस व्याध ने उत्तर दिया कि वह उसके लिए निश्चित कर्मों का भली प्रकार पालन करता है, द्विज वर्ण की सेवा करता है तथा वृद्धों का आदर करता है। इसके जीवन का विधान है ऊपर वर्णित धर्म की भुजाओं का अनुसरण करना।[1] इस प्रकार वर्ण के आधार पर धर्म का निर्णय अवश्य होता है पर धर्म अर्थात् कर्तव्य के आधार पर ही व्यावहारिक रूप में वर्ण का निर्णय होता है। इस सम्बन्ध में स्वयं धर्मराज ने कहा है कि व्यक्ति का वर्ण उस के परिवार में जन्म से नहीं निर्णय होता है परन्तु उसके इस जीवन में कार्यों के आधार पर निर्णीत होता

१ वही (वानपर्व), २०५, ४४।

है।[1] यही बात भागवत पुराण में भी कही गयी है कि जन्म के आधार पर व्यक्ति का वर्ण नहीं निर्णय किया जा सकता परन्तु उसके इस जन्म के कर्मों पर।[2] इसी प्रकार महर्षि भृगु ने भी भारद्वाज को वर्ण-धर्म पर उपदेश देते हुए कहा है। वर्ण का निर्णय धर्म के आधार पर होता है न कि धर्म का निर्णय वर्ण के आधार पर।[3] इसी आधार पर हम क्षत्रिय विश्वामित्र को ब्राह्मण होते, ब्राह्मण द्रोणाचार्य, कृपाचार्य एवं अश्वथामा को क्षत्रिय होते पाते हैं।

इस प्रकार वर्ण-धर्म से हमारा अभिप्राय प्रत्येक वर्णों के लिए नियत कर्म विधान से है। पर अन्त में इस सम्बन्ध में हमने यही देखा कि धर्म के आधार पर व्यक्तियों का वर्ण निर्णय किया जाता था न कि वर्ण के आधार पर धर्म बताया जाता था।

४. ऐतिहासिक विकास

वर्ण शब्द की समुचित व्याख्या कर लेने के बाद यह निश्चित होता है कि वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज में चिर अतीत से वर्तमान थी जो आज तक किसी न किसी रूप में भारतवर्ष में प्रचलित है। इस व्यवस्था का भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में क्या स्वरूप था इससे परिचित होने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस व्यवस्था का ऐतिहासिक युगों में सर्वेक्षण करें। इस सर्वेक्षण में हमारे सहायक हैं पुरातन ग्रंथ। इस सम्बन्ध में निम्नांकित भागों में सामाजिक क्रम को बाँट कर हम इसका अध्ययन कर सकते हैं—

(१) **ऋग्वैदिक काल**—ऋग्वैदिक काल में वर्णव्यवस्था थी अथवा नहीं इस पर विद्वानों में मतभेद है। एक वर्ग उन विचारकों का है जो यह विचार व्यक्त करते हैं वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था थी पर पूर्ण प्रचलित नहीं थी। इस मत के पोशक मिवर, भीमर आदि हैं। दूसरा वर्ग विचारों का इस बात पर विश्वास ही नहीं करता कि व्यवस्था वैदिक काल में भी थी। इस मत का पोषण डा० ए० बी० कीथ, मैकडानेल आदि करते हैं।

ऋग्वेद में 'पञ्चक्षिति' का वर्णन मिलता है। एक ऋचा यह व्यक्त करती है कि इन्द्र पञ्चक्षिति के सम्पत्ति के मालिक थे। दूसरी ऋचा में ऊषा द्वारा पञ्च क्षितियों के जगाए जाने का वर्णन मिलता है। इंस पञ्जक्षिति के सम्बन्ध में कुछ लोगों का मत है कि यह पाँच वर्गों के द्योतक हैं तथा दूसरे इससे अभिप्राय पाँच जाति से लेते हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में विराट पुरुष की कल्पना की गई

१ हिन्दू सोशल अर्गनाइजेशन्स, पृ० ३१२।
२ वही, पृ० ३१५।
३ महाभारत (शान्ति पर्व)—१८९, २–८।

और इसी विराट पुरुष के अंगों से विभिन्न प्रकार के लोगों की उत्पत्ति बताई गई है। इसे जिम्मर ने क्षेपक कहा है। पुनः ऋग्वेद के आठवें मण्डल में यह कहा गया है कि यदि तुम बौद्धिक समुन्नति प्राप्त करना चाहते हो तो ब्राह्मणों का विश्वास करो, शारीरिक दक्षता प्राप्त करना चाहते हो तो क्षत्रियों पर भरोसा करो, गौ विषयक समुन्नति प्राप्त करना हो तो वैश्यों का विश्वास मानों। इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न स्थलों को देखने से यही ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के समय में वर्ण व्यवस्था किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। हाँ चार प्रकार के व्यक्ति समाज में माने जाते थे पर चार वर्ण का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यदि चार वर्ण समाज में प्रचलित होते तो कभी भी इस प्रकार की ऋचा—"उभौ वर्णौ ऋषिरुग्रः पुपोष"[1] अर्थात् ऋषि उग्र ने दोनों वर्णों को पुष्ट किया, कभी भी नहीं मिलती। उभय वर्ण से अभिप्राय यहाँ आर्य और दस्यु वर्ण से है क्योंकि इन दोनों ही के लिए ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग किया गया है।

ऋग्गवेद में प्रायः ब्राह्मणों के लिए पुरोहित शब्द का, क्षत्रिय के लिए राजन्य, वैश्य के लिए विशः और शूद्र के लिए दस्यु शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल में ब्राह्मणों के लिए आदर का स्थान दिया गया है समाज तथा शासन में। वह शासक के संरक्षक के रूप में रहता था तथा यज्ञ कर्म करता था। डा० कीथ के मतानुसार ऋग्वैदिक काल के ब्राह्मण उत्तर वैदिक काल में एक परम्परागत रूप धारण कर लिए।

क्षत्रियों के लिए राजन्य शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शासक वर्ग था। इन पर सैनिक कार्य सौंपा गया था।

विश शब्द वैश्यों के लिए प्रयोग किया गया है। पर प्रायः विशः शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है[2] विशः का अर्थ 'जनता' है। सम्भवतः इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अधिकतर जनता वाणिज्य एवं व्यापार की ओर आसक्त थी इसी से विशः का प्रचलित अर्थ जनसमूह से लिया गया।

पूरे ऋग्वेद में केवल पुरुष सूक्त में एक स्थान पर दास शब्द का प्रयोग मिलता है। अन्य स्थान पर व्यवहृत रूप में दस्यु शब्द का ही प्रयोग मिलता है जो सम्भवतः शूद्र के लिए ही प्रयोग किया गया होगा। परन्तु डा० काणे के मतानुसार दस्युओं के एक प्रमुख वर्ग का नाम शूद्र था जो पीछे पूरे वर्ग के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा ठीक उसी प्रकार जैसे एथेन्स का करियन दासों का एक प्रमुख परिवार था परन्तु पीछे पूरे दासों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा।[3]

१ ऋग्वेद, १, १७९, ६।

२ हिस्ट्री ऑफ हिन्दू धर्मशास्त्र, खण्ड–२, भाग–२, पृ० ३२।

३ वही।

ऊपर हमने देखा है कि श्री कूले के मतानुसार पूरा समाज अनावृत्त था (ओपे क्लास सोसाइटी)। भोजन, पेय, विवाह, सामाजिक विभाजन आदि में इस सम कोई भेद नहीं था, यह विचार है दत्ता तथा हापकिन्स का भी।[1] इसीलिए दे देखते हैं कि ययाति नामक क्षत्रिय ने देवयानी नामक ब्राह्मणी से विवाह किया तथा दुष्यन्त नामक क्षत्रिय ने शकुन्तला नामक ब्राह्मणी से विवाह किया। इसी प्रका कार्य के सम्बन्ध में भी कोई बन्धन नहीं था। एक ऋषी ने ऋग्वेद में कहा है- 'मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता अन्न पीसने का कार्य करती है।[2] पु ऋग्वेद में व्यावसायिक ऋभु का वर्णन है जिसने पीछे ऋषि पद को प्राप्त किया। इ प्रकार के उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि जाति सम्बन्धी गहन भेद इस सम नहीं उत्पन्न हुआ था। इसी से डा० दत्त ने कहा है कि इस समय समाज अन्तर्जातीय विवाह होता था पर इसका कोई वर्णन नहीं मिलता। इसी प्रका ऋग्वेद में कई स्थलों पर ब्राह्मण यह प्रार्थना करते हैं कि वह राजा बन जायँ।

(२) **उत्तर वैदिक-काल**— ऋग्वैदिक काल के बाद जब हम उत्तर वैदि काल के विषय में अध्ययन करना प्रारम्भ करते हैं तो हमें अध्ययन सामग्री के रू में प्रमुख रूप से इस विषय में दो प्रकार के साहित्य हमारे सम्मुख आते हैं तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन करते हैं। यह हैं ब्राह्मण ग्रंथ तथा उपनिषद ग्रंथ दोनों ही प्रकार के ग्रंथ विशेष महत्व के हैं क्योंकि एक जहाँ ब्राह्मणों की स्थिति प प्रकाश डालता है वहीं दूसरा क्षत्रियों की स्थिति पर।

इस समय वर्ण व्यवस्था का स्वरूप व्यवस्थित हो चुका था। इसमें परम्पर गत धारणा आ गई थी। इसका प्रमाण हमें वायीस्नेह संहिता में मिलता है। इस ग्रं में एक स्थल पर यह कहा गया है कि हमें एक ऐसे ब्राह्मण को खोजना चाहि जो एक उपयुक्त पुरोहित का पुत्र हो। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में एक विवर मिलता है कि एक ब्राह्मण कुरु पाञ्चाल के ब्राह्मण का पुत्र था।

ब्राह्मण की स्थिति—इस समय वर्णों की क्रियाओं में भेद का वर्णन मिल है। प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग प्रकार के कोमल शब्द, विवाह की अव विवाह की तिथि, विविध संस्कार में विभेद किया गया। इसका उपयुक्त ज्ञान शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से ही प्राप्त होता है। इसे ही दूसरे शब्दों में वर्ण-धर्म कहा सकता है। यह विधान किया गया कि बिना ब्राह्मणों के योग के किया हुआ यज्ञ दे को ग्राह्य नहीं होता था। इस समय ब्राह्मण ही राजा को राज्य पद प्रदान करता था

---

१ **दी ओरीजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इण्डिया—दत्ता।**
२ **ऋगवेद, ९, ११२, ३।**

ब्राह्मण को ही पृथ्वी का देवता माना जाता था। उसकी सम्पत्ति राज्य संरक्षण से अलग मानी जाती थी। जब कि दूसरे वर्णों की सम्पत्ति सम्पत्ति-अधिकारी की मृत्यु पर तथा उसके उत्तराधिकारी के अभाव में राजा की हो जाती थी। ब्राह्मण का हत्यारा ही वास्तविक हत्यारा माना जाता था। पुरोहित अपने यजमान को मृत्यु दण्ड दे सकता था। ब्राह्मणों को धर्म का अधिष्ठाता माना जाता था। यजुर्वेद के अनुसार ब्राह्मण की हत्या सबसे जघन्य अपराध है, किसी को भी ब्राह्मण के विरुद्ध गवाही नहीं देनी चाहिए। उसका कार्य था अध्ययन, अध्यापन और यज्ञ। विशेष रूप से ब्राह्मणों को ही पुरोहित बनाया जाता था। कभी-कभी क्षत्रिय भी पुरोहित का कार्य करते थे। इन्हें ब्रह्म-पुरोहित की उपाधि दी जाती थी। इस प्रकार के पुरोहित विश्वामित्र थे। इस समय ब्राह्मण वर्ण दो भागों में विभक्त था। वैदिक सूची के अनुसार एक वर्ग पुरोहितों का था तथा दूसरा साधारण पण्डितों का। पर इस विचार को डा० आप्टे प्रामाणिक नहीं मानते। गायत्री मन्त्र भूः शब्द से ब्राह्मण को प्रारम्भ करना पड़ता था।

राजन्य की स्थिति—ऋग्वैदिक कालीन राजन्यों को अब क्षत्रिय कहा जाने लगा। इस वर्ग में राजा, शासक वर्ग, राजा के सम्बन्धी और सम्मानित वर्ग होता था। उनका कार्य था राज्य के आपद काल में देश के लिए युद्ध करना तथा शान्ति स्थापित करना। यह भी गायत्री मन्त्र का उच्चारण कर सकते थे और उसका प्रारम्भ भुवः शब्द से किया करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार क्षत्रियों को त्रिशतुभ मन्त्र के उच्चारण करने का अधिकार किसी भी यज्ञ के प्रारम्भ में था। इन्हें ग्रीष्म ऋतु में यज्ञ करना होता था। इस समय ब्राह्मण और क्षत्रियों में झगड़ा उठ खड़ा हो चला था। पर ब्राह्मणों को ही विशेष प्रधानता दी जाती थी।

वैश्य की स्थिति—वैश्य कृषि, व्यापार आदि कार्य करता था। वह राजा को कर देता था तथा जनता की कृपा पर उसे जीवित रहना होता था।

शूद्र की स्थिति—शूद्रों की स्थिति इस समय दासों की थी। सर्वप्रथम इनकी गणना आर्य वर्ण में इसी समय होने लगी क्योंकि ऋग्वेद के अन्दर आर्य और दस्यु दोनों को दो वर्ण के रूप में गिना जाता था। डा० काणे ने तैतरीय संहिता के एक उद्धरण को प्रस्तुत करते हुए यह उल्लेख किया है कि ब्राह्मणों को छोड़ कर शेष सभी वर्णों के समान शुद्रों को स्थिति थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वह यज्ञ नहीं कर सकता पर कभी-कभी यज्ञों में भाग ले सकता था। पंचमिश ब्राह्मण में यह उल्लेख किया गया है कि नौकर और दूसरों का उत्थान होना चाहिए। तैतरीय संहिता में यह भी उल्लेख किया गया है कि दूसरे वर्णों के साथ शूद्र भी प्रार्थना करते थे। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शूद्र पित्रमेध यज्ञ में भाग ले सकते थे। छान्दोग्य उपनिषद के आधार पर यह ज्ञात होता है कि शूद्र गुरु चरणों में बैठ कर वैदिक ज्ञान प्राप्त कर सकता

था और इसके बदले ब्राह्मण इससे उपहार ग्रहण करता था। कभी-कभी यह उपहार स्वरूप ब्राह्मणों को अपनी कन्यायें देते थे। परन्तु शतपथ ब्राह्मण कुछ विशिष्ट प्रकार का अनुशासन इनके सम्बन्ध में प्रदान करता है। इनके द्वारा दुहा हुआ गाय का दूध यज्ञों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता था। एक होता को शूद्र से बात करने के लिए विवर्जित किया गया है। यदि शूद्र से होता को बात करना ही पड़े तो उसे किसी माध्यम के द्वारा करना चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार शूद्रों को सम्पत्ति सम्बन्धी कोई भी अधिकार नहीं था। क्वश-एलूश जो सरस्वती यज्ञ में चले गए थे वहाँ से भगा दिए गए।

प्रमुख विशेषताएँ

(१) वर्ण वंश परम्परागत हो गया। (२) शूद्रों की गणना आर्य वर्ण में की जाने लगी। (३) विवाह परम्परा में एक ही प्रकार का विवाह प्रचलित था। (४) गोत्र का प्रयोग व्यावहारिक क्षेत्र में होने लगा। (५) अनुलोम प्रकार का विवाह प्रमुख हो चला था। (५) उच्च वर्ण का व्यक्ति शूद्र की स्त्री से भोग कर सकता था पर विवाह नहीं। याज्ञिक भोग भी नहीं कर सकता था। (६) परन्तु शूद्र को ब्राह्मणी के साथ ऐसा करने के लिए पुर्ण मनाही थी। (७) व्यवसाय के आधार पर श्रेणियों का संगठन होने लगा था क्योंकि व्यवसाय परम्परागत हो गए थे। (८) उत्तर वैदिक काल में आयोगव, चाण्डाल, पुलकशव और निशाद आदि जातियों का वर्णन है। याज्ञवल्क ने यह उल्लेख किया है कि शूद्र और ब्राह्मणी के सम्बन्ध से चाण्डाल का जन्म हुआ। (९) दूसरे वर्ण के लोग भी ब्राह्मणों की तरह वैदिक साहित्य के गुरु हो सकते थे यथा अजातशत्रु, अश्ववसी कैकई, हिरण्य नाग आदि।

(३) वैदिकेतर काल

(उत्तर वैदिक काल से ईसवी संवत् तक)—

वैदिकेतर काल में वर्ण व्यवस्था कठोर होने लगी थी। ब्राह्मण और क्षत्रियों की अवस्था इस समय बहुत ऊँची हो चुकी थी। वैश्य और शूद्र निम्न स्थिति के थे। इसी के साथ संकर जाति और अन्त्यावासिन का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार इस समय चातुर्वर्ण दो भागों में विभक्त था : अ—द्विज, ब—शूद्र।

वशिष्ट का कहना है कि ब्राह्मणों पर तीन ऋण होते हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिए यज्ञों का विधान किया गया है। यह ऋण दूसरे वर्णों के लिए भी है पर दूसरे वर्णों को इस सम्बन्ध में ब्राह्मणों का अनुकरण करना चाहिए। ब्राह्मणों का प्रमुख उद्देश्य था पुरोहित का व्यवसाय करना। महाभारत के अनुसार यज्ञ बिना ब्राह्मणों की सहायता के कभी भी लाभकारी नहीं हो सकता। ब्राह्मणों को दिया हुआ दान यजमान के लिए फलित होता है। साथ ही राजा को भी इस दान का १/६ वाँ अंश

प्राप्त होता है। पर किसी भी दूसरे वर्ण वालों को दान ग्रहण नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण को भी उसी से दान लेना चाहिए जो श्रद्धा और स्वेच्छा से देता हो। साथ ही वह धन जो दान में दिया गया हो वह भी धर्मपूर्वक अर्जित हो। कौटिल्य का भी कहना है कि जनता को देवता तथा ब्राह्मण दोनों की उपासना करनी चाहिए। पृथ्वी पर ब्राह्मण ही क्षत्रियों की सहायता से कल्याण कर सकते हैं। जब राजा और ब्राह्मण एक साथ ही किसी सड़क से जा रहे हों तब वह सड़क राजा की हो जाती है। ब्राह्मण के लिए राजा का कोई महत्व नहीं है क्योंकि ब्राह्मणों का राजा सोम माना गया है। किसी भी प्रकार ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों की स्थिति हेय थी। नैतिकता की दृष्टि से सभी वर्णों को अपने से ऊँचे वर्णों की सेवा करनी चाहिए। चूँकि ब्राह्मण सबसे ऊँचा वर्ण था इसलिए यह विधान बना कि सभी वर्णों के ब्राह्मणों की सेवा करनी चाहिए। ब्राह्मणों के लिए विवर्जित था कि दूसरे वर्ण का शिष्यत्व स्वीकार करें तथा उनका पैर छूएँ। कर से उन्हें मुक्ति दी गई थी। यदि नैतिक कार्य तथा औचित्य के अनुसार कार्य करता हुआ ब्राह्मण कहीं खजाना पा जाय तो उसे राजा को देने की आवश्यकता नहीं थी। ब्राह्मण की हत्या करना तथा उसके समान की चोरी करना पाप माना गया है। मृत्यु दण्ड से ब्राह्मण मुक्त थे। उत्तराधिकारी के अभाव में किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति पर राज्य अधिकार कर सकता था परन्तु वह ब्राह्मण की सम्पत्ति पर अधिकार नहीं कर सकता था। आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण शूद्रों से धन ले सकता था। यज्ञ की अवस्था को छोड़ कर कभी भी उसे दूसरे वर्णों का आदर नहीं ग्रहण करना चाहिए। जो इन नियमों का उल्लंघन करते थे उन्हें शूद्र की कोटि में गिना जाता था। गृह्य-सूत्रों में ब्राह्मणों के लिए विभिन्न अवस्थाएँ, संस्कारिक क्रियाएँ और समय का निर्धारण विभिन्न कामों के सम्बन्ध में किया गया है।

क्षत्रियों की स्थिति इस समय बहुत ही विवादास्पद थी। इसका कारण यह था कि क्षत्रिय जहाँ एक ओर अपने को ऊँचा मानते थे वहीं दूसरी ओर ब्राह्मण भी अपने को ऊँचा मानते थे। इस बात की समस्या भगवान बुद्ध के समक्ष भी आई। परन्तु प्रारम्भ में जैसा कि मज्झिमनिकाय और विनयपिटक से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने वर्ण सम्बन्धी विवाद त्याग दिया था। पीछे इस पर भी लोगों ने उन्हें शान्त नहीं रहने दिया क्योंकि वासिट्ठ सुत्त के अनुसार वासिट्ठ आता है और यह दावा करता है कि एक ब्राह्मण क्षत्रिय की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। परन्तु भगवान बुद्ध ने इस पर भी विभिन्न प्रश्न वासिट्ठ से पूछा और उसी के शब्दों में इसी माध्यम द्वारा ब्राह्मणों की हेयता और क्षत्रियों की श्रेष्ठता सिद्ध किया। तैतरीय ब्राह्मण में भी बताया गया है कि क्षत्रिय का स्थान समाज में सर्वोच्च है। पुनः इसी में यह भी वर्णित है कि ब्राह्मण राजा के सम्मुख नीचे बैठता है परन्तु वह उससे अधिक सम्मा-

नित है। इस विरोधाभासयुक्त कथन के आधार पर ज्ञात होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों में खूब लड़ाई थी। एक जगह पर इसमें व्याख्या किया गया है कि राष्ट्रीय विचार के यह विरुद्ध है कि ब्राह्मण शक्तिशाली बन जाय। राजा जब चाहे तब वह ब्राह्मण को बहिष्कृत कर सकता है। इसीलिए भागवतगीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं जनता का राजा हूँ। इससे ६वीं शताब्दी ई० पू० की कटुतापूर्ण राजनीतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। महाभारत में भी एक स्थल पर इस सम्बन्ध में विवरण मिलता है कि पुरोहित की लड़की देवयानी तथा राजा की लड़की शरमिष्ठा एक दिन नहाते समय वर्ण की प्रमुखता के सम्बन्ध में उलझ पड़ीं। परन्तु इस विवाद में शरमिष्ठा की ही विजय हुई। यद्यपि इस समय यह व्यवस्था अपने उग्र रूप में विद्यमान थी परन्तु इसके बाद भी यह विभेद चलता रहा जैसा कि तालगुण्ड अभिलेख से ज्ञात होता है। इस अभिलेख के विवरण के अनुसार पल्लव राजा की सेना एक ब्राह्मण शासक मयूर शर्मन का जो कदम्ब वंश का था उपहास करती हुई बताई गई है। परन्तु इतनी अधिक कटुता धर्मशास्त्रियों के समय नहीं रह गई थी। गौतम धर्मसूत्र में यह उल्लिखित है कि राजा ब्राह्मण को छोड़ कर शेष सभी वर्णों का शासक है। महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार सम्पूर्ण प्रजा का संरक्षण ब्राह्मण और क्षत्रियों के हाथ में सौंप दिया गया था। पुनः यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही मिल कर सामाजिक कल्याण अर्जित करें। गौतम ने भी यही कहा है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय व्रत के द्वारा संसार का रक्षण करते हैं। इसी प्रकार नारद ने भी कहा कि ब्राह्मण और क्षत्रियों में दोष नहीं निकालना चाहिए तथा इन्हें मृत्यु दण्ड भी नहीं देना चाहिए। इस प्रकार दोनों ही वर्णों में मैत्री स्थापित कराने का विभिन्न शास्त्रकारों ने सफल प्रयास किया। इसीलिए पीछे क्षत्रियों ने भी कहा कि ब्राह्मणों पर कर नहीं लगाना चाहिए तथा ब्राह्मणों ने भी यह स्वीकार किया कि राजा का स्थान दैवीय है।

इस समय से शूद्रों की स्थिति में ह्रास होने लगा। उन्हें द्विजों द्वारा किए जाने वाले सभी भद्र कार्यों से वंचित कर दिया गया। वेद का न तो यह अध्ययन कर सकते थे और न उसकी ऋचाओं का ज्ञान ही। उसे सुनने तक से भी इन्हें विवर्जित कर दिया गया। यदि वह वेदाध्ययन करें तो ऐसा विधान था कि उनकी जिह्वा काट ली जाती थी और यदि वह वेद वाक्यों को सुन लें तो उनका कान काट लिया जाता था। सम्भवतः वेद की ऋचाओं की शुचि बनाए रखने के लिए यह विधान किया गया था। रामायण की राम-कथा में यह वर्णन मिलता है कि एक शूद्र को भगवान श्री राम ने इसलिए मार डाला कि वह वैदिक संस्कार कर रहा था। उनकी स्थिति इस समय इतनी निन्दनीय हो गई थी कि ब्राह्मण को विवर्जित कर दिया गया कि उनके घर भोजन तक नहीं करें तथा धर्म के कार्यों में शूद्र का द्रव्य प्रयोग न किया जाय। यदि

कोई व्यक्ति शूद्र के घर भोजन करता है और उसके बाद उसकी मृत्यु होती है तो पेट से शूद्र का अन्न बाहर न निकलने के कारण वह दूसरे जन्म में शूकर का जन्म धारण करता है। इसीलिए वशिष्ट ने यह विवर्जित किया है कि शूद्र के घर या शूद्र का अन्न ब्राह्मण को नहीं खाना चाहिए। इसी प्रकार यह भी स्वीकार कर लिया गया कि एक ब्राह्मण जो शूद्राणी से विवाह करता है वह शूद्र वर्ण का हो जाता है। इसी के साथ शूद्रों को संस्कार से वंचित कर दिया गया था। यह शूद्रों की इस समय की सामाजिक स्थिति के विषय में ज्ञान देता है।

पर जब इनकी (शूद्रों की) धार्मिक स्थिति पर विचार करने बैठते हैं तो ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी पवित्र एवं धार्मिक पुस्तक के अध्ययन से इन्हें वंचित कर दिया गया। यज्ञ करने की मनाही कर दी गई। आपस्तम्ब ने तो यहाँ तक कहा है कि गृह अग्नि भी इन्हें प्रज्वलित करने का अधिकार नहीं है। दक्षिणा के साथ यह केवल पाक-यज्ञ कर सकता था। आर्यों के लिए यह कहा गया है कि वह व्यक्ति अयज्ञ है जिसके पास पत्नी नहीं है। वह किसी भी प्रकार का धार्मिक कार्य नहीं कर सकता परन्तु शूद्र के लिए पत्नी का होना किसी धार्मिक कार्य को करने के लिए आवश्यक नहीं है, केवल उपभोग के लिए। यद्यपि मैक्समूलर ने कहा है कि उपनयन संस्कार से संस्कारित होने से शूद्रों को गृह्य सूत्रों में कहीं भी विवर्जित नहीं किया गया है परन्तु जब यह निश्चय है कि शूद्र वैदिक साहित्य के अध्ययन से विरक्त कर दिए गए थे तो इस संस्कार के होने न होने की उनके सम्बन्ध में कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

जहाँ तक शूद्रों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार की बात है महाभारत के अनुसार शूद्र सम्पत्ति सम्बन्धित स्वामित्व नहीं रख सकते। यह स्वत्व उसके मालिक का होता है जिसकी सेवा में वह रहता है। यदि मालिक विपत्ति में पड़ जाय तो शूद्र का कर्तव्य होता है कि उसकी सहायता करे। यदि कोई शूद्र द्विजों की तरह अपने को बनाना प्रारम्भ करे तो उसका अंग-भंग किया जा सकता है। यदि वह किसी स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो उसे प्राण दण्ड देना चाहिए। आपत्ति काल में वह अपने मालिक द्वारा सहायता किया जाता था। जब कोई दास बिना संतान के मर जाता था तो मालिक का यह धर्म होता था कि उसे पिण्ड दे। ब्राह्मण किसी समय जब विपत्तिग्रस्त हो जाय तो उसको छूट थी कि किसी भी शूद्र के यहाँ से द्रव्य और बैल ले जा सकता था। सिद्धान्ततः यह विवर्जित था कि शूद्र किसी भी स्थान पर शासन करे तथा ब्राह्मण वहाँ प्रजा होकर रहे। परन्तु व्यावहारिक रूप में शूद्र राजा थे, मन्त्री थे और धनी व्यापारी थे।

शूद्रों की श्रेणी में ही वैश्य भी इस समय परिगणित किए जाने लगे। गीता में तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार का उदाहरण प्राप्त होता है। इन्होंने

भी शूद्रों के समान ही वैवाहिक परम्परा अपना ली थी। जब से परशुराम ने इस पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया तब से वैश्य और शूद्र एक होकर शूद्र कहलाए। इस प्रकार केवल दो वर्ण अब समाज में रह गए ब्राह्मण; और शूद्र।

प्रमुख विशेषताएँ

(१) वर्ण व्यवस्था कठोर होने लगी। (२) वैश्यों की स्थिति में ह्रास होने लगा और वह शूद्र हो गए। (३) संकरजातियों का आविर्भाव हुआ। इनका उद्भव प्रतिलोम विवाह के आधार पर बताया गया है। पर गौतम ने अनुलोम विवाह को भी इनकी उत्पत्ति का कारण बताया। शूद्र की स्त्री से विवाह करना वर्जित था। परन्तु विश्वामित्र की शूद्र स्त्री थी। पर इससे विश्वामित्र की ख्याति में कोई ह्रास नहीं हुआ। यही स्थिति शान्तनु के साथ हुई जिन्होंने मछुवे की कन्या से विवाह किया।। जातक कथाओं में इस प्रकार के विवाह का विस्तृत वर्णन मिलता है। यद्यपि इसके विरोधी विचार समाज में विद्यमान थे फिर भी याज्ञवल्क के समय तक यह चलता रहा। इसका स्पष्ट प्रमाण कोशल का राजा विडूडभ है। इनके पिता प्रसेनजित का विवाह 'वसभ खत्तिय' जाति की लड़की से छल द्वारा शाक्यों ने कर दिया था। पर कुछ शास्त्रकार इस विचार के भी पोषक हैं कि शूद्र को छोड़ कर द्विज परस्पर विवाह कर सकते हैं। इसीलिए यह भी विधान बनाया गया कि यदि किसी की स्त्री चारों वर्णों की हो तो उनकी सन्तति में सम्पत्ति का बँटवारा करते समय ब्राह्मणी पुत्र को सम्पत्ति का १/४ क्षत्राणी पुत्र को ३/१० वैश्य पुत्र को २/१० शूद्रा पुत्र को १/१० मिलेगा। इसी के साथ यह भी बताया गया कि पिता के श्राद्ध में ब्राह्मणी पुत्र १० दिन, क्षत्राणी पुत्र ४ दिन, वैश्या पुत्र ३ दिन और शूद्रा पुत्र १ दिन अशौच रहेगा। ब्राह्मण अपने सजातीय गुरु को चरण स्पर्श करके प्रणाम करेगा और दूसरे वर्ण के गुरुओं को दूर से ही प्रणाम करेगा। (४) इस समय बौद्ध तथा ब्राह्मण साहित्य के आधार पर ज्ञात होता है कि विभिन्न प्रकार के व्यवसाय प्रचलित थे और इनकी अलग-अलग श्रेणियाँ[१] बन चुकी थीं। कौटिल्य ने इस प्रकार की १८ श्रेणियों का उल्लेख किया है[२]। (५) व्यवसायिकों में इस समय अन्तर विभाजन भी व्याप्त था क्योंकि मछुओं में जाल के प्रयोग करने वाले केवट कहलाते थे और वंशी के प्रयोग करने वाले वालिसिख कहलाते थे।

(४) धर्म सूत्रों का युग

(आठवीं शताब्दी तक)

जैन तथा बौद्ध धर्म का प्रसार होने के कारण हिन्दू धर्म को बड़ा ठेस लगा। बहुत सी वैदिक रीतियों के विरुद्ध यह आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था, अतएव

१ गौतम धर्मसूत्र—एकेन शिल्पेन ये जीवते तेषाम् समूहः श्रेणी।

२ अर्थशास्त्र, कौटिल्य

उन सभी कठोरताओं का जिनसे जनता उत्पीड़ित थी इस धर्म में परिहार कर दिया गया। इससे बहुत से हिन्दू बौद्ध और जैन धर्म स्वीकार करने लगे थे। हिन्दू धर्म के इस ह्रास को देख कर हिन्दू मनीषियों, आचार्यों और संन्यासियों ने धर्म के अन्दर और उससे प्रभावित सामाजिक व्यवस्था के अन्दर कुछ ऐसी शिथिलता उन कटुताओं के प्रति लाने का प्रयास किया जिनसे प्रभावित होकर जनता बौद्ध और जैन धर्म ग्रहण करती जा रही थी। मूल झगड़ा था ब्राह्मणों को बहुत ऊँचा पद देना और शूद्रों की स्थिति को हेय बताना। इस सम्बन्ध में ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि कटुता की सीमा क्या थी? इसलिए ब्राह्मणों की स्थिति स्थैतिक रखते हुए भी शूद्रों के साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार किया जाने लगा। यही इस काल की सबसे बड़ी विशेषता है।

ऊपर ही कहा गया है कि ब्राह्मणों की स्थिति को स्थैतिक रखा गया। इसीलिए यह कहा गया कि ब्राह्मण का हत्यारा एक मनुष्य के रूप में पुनर्जन्म नहीं लेता है परन्तु पशु के रूप में। ब्राह्मण को इस लोक का संरक्षक मान लिया गया तथा पृथ्वी का देवता स्वीकार किया गया। उसके लिए यह कहा गया कि ब्राह्मण ब्रह्म में लीन हो सकता है। चातुर्वर्ण में केवल ब्राह्मण ही ऐसा माना जाता था जो सन्यास को प्राप्त कर सके। ब्राह्मण को इसलिए भोजन कराया जाता था कि व्यक्ति धार्मिक कल्याण प्राप्त कर सके। यह सम्पूर्ण विश्व इसलिए उन्हीं की सामग्री अथवा सम्पत्ति मान ली गई और यह स्वीकार किया गया कि शेष जनता इनकी कृपा के परिणामस्वरूप यहाँ रहती है। इनकी तुलना शुचि में अग्नि एवं जल से की गई। विष्णु ने भी यह स्वीकार किया है कि ब्राह्मण भी देवता हैं अन्तर केवल इतना है कि ब्राह्मण जीते जा सकते हैं और देवता अजेय हैं। इससे इनके वचनों की सार्थकता के सम्बन्ध में कहा गया कि 'वृथा न जाहि देव ऋषि वाणी।' सब को उनकी उपासना करनी चाहिए। राजा को भी उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करनी चाहिए। वह बिना पैसा दिए नाव से नदी पार कर सकता है, बिना किसी हिचकिचाहट के किसी की स्त्री से बात कर सकता है, व्यापार में उसे चुँगी नहीं देनी पड़ती है, राजा उससे कर नहीं ले सकता है आदि विधान ब्राह्मणों के लिए बनाया गया।

पहले की अपेक्षा शूद्रों की स्थिति में कुछ सुधार हो चला। इसका कारण, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, बौद्ध एवं जैन धर्म का सुधारवादी आन्दोलन था। इस समय शूद्रों के दो वर्ग बन गए : एक सत शूद्र दूसरे असत शूद्र। सेवाकार्य ही उनका प्रमुख व्यवसाय था। वह धन संग्रह नहीं कर सकते थे, कोई अपराध नहीं कर सकता था जो जाति के लिए हानिकर हो। कुछ पेय वस्तुएँ उनके लिए विवर्जित थीं। उसे नैतिक प्रभाव के परे माना जाता था। धर्म के कार्य में शूद्र द्वारा लाये हुए जल के उपयोग करने की मनाही थी। द्विज को शूद्र के साथ यात्रा करने की मनाही थी। संस्कारों

से भी उसे वंचित रखा जाता था। इस प्रकार सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि सामाजिक संगठन में शूद्र की स्थिति हेय रखी जाय। वेद अध्ययन तथा श्रवण से उसे वंचित रखा गया। कर्म के आधार पर मोक्ष की प्राप्ति का विधान केवल द्विज के लिए था। वह मोक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकता था। यदि वह ब्राह्मण कर्मकाण्डों में भाग लेना चाहता तो उसे ब्राह्मणों की सेवा करनी होती थी। सत शूद्र का समाज में विशेष आदर था। इसकी मृत्यु पर इसके स्वामी का कर्तव्य होता था कि इसके लिए पिण्डदान दे। इस समय शूद्र मन्त्रोच्चारण के अभाव में 'नमस्' शब्द का प्रयोग कर सकता था। गृह अग्नि में ही वह यज्ञ कर सकता था। अमी और शंख लिखित के अनुसार शूद्र जनकल्याणकारी तथा दान सम्बन्धी कार्य कर सकता था। जो शूद्र वैदिक विधानों के प्रति आदर रखता था उसे समाज में समाद्रित स्थान दिया जाता था। यद्यपि मनुस्मृति शूद्र को किसी भी प्रकार की सुविधा देने के सम्बन्ध में विरोध करती है।

पहले की तरह ही वैश्य और शूद्र दोनों मिले रहे। यह इतने घुल-मिल गए कि दोनों में अन्तरभोज होने लगा। वैश्यों के साथ भी वह सभी विभिन्न सामाजिक परम्पराएँ और कलुष आ मिले जो शूद्र के साथ थे। यद्यपि निम्न वर्ग को अपने से ऊँचे वर्ण के व्यवसाय को अपनाने की मनाही थी परन्तु आपद्काल में शूद्र वैश्य का व्यवसाय अपना सकता था।

प्रमुख विशेषताएँ

(१) मनु के अनुसार कलियुग की यह प्रमुख विशेषता है कि ब्राह्मण को अधिक से अधिकद ान दिया जाय। (२) स्वर्ग और नर्क की कल्पना लोगों के विचारों में आ बैठी। (३) जातिगत आधार पर व्यवसाय पालन के बंधन ढीले पड़ने लगे। याज्ञवल्क ने इसी से कहा है कि एक शूद्र व्यापार कर सकता है, कुछ ने उसे कृषि की भी छूट दे दिया। अधिकांश विचारकों के आधार पर सभी वर्णों का यह व्यवसाय मान लिया गया। परन्तु मनु इसका विरोध करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि में यदि देखा जाय तो ब्राह्मणों ने उन सभी व्यवसायों को करना प्रारम्भ कर दिया था जिनकी उन्हें मनाही थी। इसका स्पष्ट प्रमाण है कि मृच्छकटिक में चारुदत्त वैश्य का व्यवसाय करता हुआ बताया गया है। गुप्त नरेश, जिनके वंश के सम्बन्ध में संदेह है, पुष्यमित्र ब्राह्मण था; कदम्ब शासक ब्राह्मण थे पर सभी ने क्षत्रिय का व्यवसाय अपना लिया था। (४) जातियों के उद्भव के सम्बन्ध में तो ऊपर ही विचार किया जा चुका है कि वह इस समय तक बन चुकी थीं। परन्तु मनु स्मृति, शुक्रनीति आदि में एक नवीन प्रकार की जाति की ओर संकेत है जिसे 'संकर जाति' कहा गया है। अंगिरस ने यह वर्णन किया है कि निम्नजाति के सम्पर्क में आने पर सम्राट् को अपने ऊपर पानी डालना चाहिए शुचि के लिए। इसी प्रकार यह भी कहा गया कि बहता पानी चाण्डाल के स्पर्श से अपवित्र हो जाता है। इस प्रकार

सभी तर्क स्पष्ट वर्ग-विभेद की प्रवृत्ति के द्योतक हैं। (५) अन्तर-जातीय विवाह की भावना इस समय थी। यह विवाह दोनों ही प्रकार के होते थे : अनुलोम एवं प्रतिलोम। इन प्रकारों के विषय में विवाह के अध्याय में विस्तृत विवेचन किया जायगा। वाकाटकों के मन्त्री सोम ने, जो श्रुति एवं स्मृति के ज्ञाता थे, ब्राह्मणी तथा क्षत्राणी से विवाह किया। यूनानी लेखक स्ट्रैबो एवं मेगस्थनीज ने यह उल्लेख किया है कि प्रतिलोम विवाह समाज में प्रचलित नही था पर मान्यता प्राप्त था। तालगुण्ड अभिलेख से प्राप्त विवरण के अनुसार कुकुस्तवर्मन ने एक पल्लव राजकुमारी का विवाह गुप्तवंशीय शासक से किया। इसी प्रकार लिच्छवी परिवार की राजकुमारी कुमार देवी का विवाह गुप्त वंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम से हुआ। कथासरित्सागर के अनुसार किसी शासक ने अपने दूत से, जो उसकी पुत्री के लिए बर खोजने के लिए निकला था, यह कहा कि चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण का वर ढूंढ़ो। इसी पुस्तक के दूसरे स्थल से यह ज्ञात होता है कि अशोकदत्त नामक ब्राह्मण ने दूसरे वर्ण की कन्या से विवाह किया था। आठवीं शताब्दी के प्रतिहार परिवार के अभिलेख भी इसी प्रकार के विवाह का ज्ञान देते हैं। यह सभी प्रमाण यही सिद्ध करते हैं कि अनुलोम (अर्थात् उच्चवर्ण का निम्न वर्ण में) तथा प्रतिलोम (निम्नवर्ण का उच्च वर्ण में) दोनों प्रकार के विवाह समाज में प्रचलित थे।

(५) आठवीं शताब्दी के बाद

इस समय भी ब्राह्मणों की स्थिति पूर्ववत रही। सम्भवतः इस समय क्षत्रियों की स्थिति बड़ी अव्यवस्थित थी क्योंकि इनके सम्बन्ध में कमलाकर के अतिरिक्त कोई दूसरा लेखक वर्णन नहीं करता। यह शूद्र एवं वैश्यों की कोटि में हो गए थे। इनका व्यवसाय शूद्र और ब्राह्मणों ने अपना लिया था। मादक द्रव्यों का पेय ब्राह्मण नहीं करते थे पर क्षत्री और शूद्रों में इसका प्रचलन था। कमलाकर ने तो यहाँ तक लिखा है कि वैश्य भी कलियुग में लगभग समाप्तप्राय हो चुके थे। शूद्रों की तरह उनके द्वारा भी पकाया हुआ भोजन घृणास्पद माना जाता था। दक्षिणी भारत में शूद्रों के साथ किसी विशेष सौजन्यता का व्यवहार नहीं किया जाता था क्योंकि वहाँ के साहित्यिक विवरणों में उत्तरी भारत की तरह दो प्रकार के शूद्र : सत एवं असत का ज्ञान नहीं होता। इस समय यह भी विवर्जित कर दिया गया कि ब्राह्मणों को शूद्रों के घर में नहीं रहना चाहिए और न उनके साथ गाड़ी में बैठ कर यात्रा करनी चाहिए। शूद्र के घर का, केवल घी में पकाया हुआ अन्न ही, ब्राह्मण नदी किनारे भोजन कर सकता था।

प्रमुख विशेषताएँ

नवीं शताब्दी में जनमत अन्तरजातीय विवाह का बड़ा ही विरोधी हो गया था। इसीलिए कल्हण की राजतरंगिणी में दो विपरीत वर्णों में विवाह को

हेय बताया गया है। लेखक का यह कहना कि "मैं राजा की धृष्टता की निन्दा कि शब्दों में करूँ जिसने वंश की ख्याति की चिन्ता न करते हुये अन्तर विवाह कर लिया यह सिद्ध करता है कि जनमत इसके विरोध में था। स्मृतियों के आधार पर यद्यपि अल्वेरूनी ने इस प्रकार के विवाह को मान्यता दी है पर यह भी कहा है कि यह विवा प्रचलन के बाहर हो चुका था। इसका कारण यह था कि भोजन, व्रत, संस्का उपनयन, वेदाध्ययन आदि में चारों वर्णों में बड़ा भेद हो गया था।

(५)

ऊपर के विवरण के आधार पर हमने देखा कि अतीत के समाज में विशे अध्ययन दो ही वर्णों का किया जा सकता है : एक ब्राह्मण जो वर्ण व्यवस्था की परम्परा में बहुत ही समादृित स्थान प्राप्त कर चुके थे और दूसरे शूद्र जिनको समाज की ओ से अनेक बंधनों में बाँध दिया गया था। इसे दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार क सकते हैं कि समाज में जहाँ ब्राह्मणों को विशेषाधिकार एक ओर प्राप्त था वहीं दूसरी ओर शूद्रों की बहुत-सी निर्योग्यताएँ थीं। इसलिए समन्वत्ति रूप से अतीत काल में ब्राह्मण के विशेषाधिकार और शूद्रों की निर्योग्यताओं का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। अतएव क्रमशः इनका अध्ययन हम नीचे करेंगे।

(अ) ब्राह्मणों के विशेषाधिकार

(क) ब्राह्मण जन्म से ही सभी वर्णों का गुरु माना जाता था (आपस्तम्ब धर्मसूत्र)। मनु के अनुसार ब्रह्मा ने ब्राह्मणों की उत्पत्ति मुँह से की इसलिए इन्हें संसार का गुरु होने का अधिकार है। महाभारत के भीष्मपर्व के अनुसार ब्राह्मण सब जातियों में सर्व श्रेष्ठ है। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार एक दसवर्षीय ब्राह्मण को एक सौवर्षीय क्षत्रिय को पिता के समान मानना चाहिए।

(ख) ब्राह्मण का कर्तव्य है कि दूसरे वर्णों के कर्तव्यों की व्याख्या करे राजा को भी उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए (कटाहक संहिता)। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मणों के सहयोग से किया गया शासन समुन्नतिशील होता है और राज योद्धाओं से भरपूर होता है। यह विचार प्लेटो का है कि अच्छे लोगों का शासन ही आदर्श शासन व्यवस्था है। इसीलिए भारतीयों ने उलझी हुई राजनीति को ब्राह्मणों के हाथ सौंप दिया।

(ग) गौतम धर्मसूत्र के अनुसार राजा सभी का शासक होता है पर ब्राह्मण का शासक सोम होता है। ब्राह्मण को उचित अभियोग में दण्डित किया जा सकता है।

(घ) राजा को चाहिए कि छः बातों में ब्राह्मण को सदा छूट दिया करे— पीटने में, हथकड़ी लगाने में, द्रव्य दण्ड में, बहिष्कृत करने में, दागने में, त्यागने में (गौतम धर्मसूत्र)। मिताक्षरा के अनुसार यह अत्यधिक विद्वान ब्राह्मण के लिए ही

लागू था। पर सभी विचारकों ने एक स्वर से सभी को शरीर दण्ड देने के लिए मना किया है। बोधायन के अनुसार मृत्यु के अपराध में ब्राह्मण के सिर पर दाग देना चाहिए। मनु के अनुसार चूड़ाकर्म मृत्यु दण्ड के ही समान है। मिताक्षरा ने विभिन्न प्रकार के शारीरिक दण्डों का उल्लेख ब्राह्मणों के सम्बन्ध में किया है।

(ङ) स्मृति के अनुसार श्रोत्रिय को कर से वंचित कर देना चाहिए। बौद्धायन के अनुसार $\frac{1}{6}$ भाग राजा किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति से ले सकता है। पर ब्राह्मण से नहीं ले सकता। केवल अध्ययनशील ब्राह्मणों को ही अग्रहारा ग्राम मिला था। महाभारत के अनुसार यदि ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य का व्यवसाय करे तो राजा का धर्म है कि उसे कर देने के लिए बाधित करे। शुक्रनीति और महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार कोमल, शिक्षित और उदार ब्राह्मण को कर से वंचित करना चाहिए।

(च) यदि सही काम करता हुआ ब्राह्मण खजाना प्राप्त करता है या कोई सम्पत्ति प्राप्त करता है तो राजा को यह अधिकार नहीं है कि उसे ले ले। यदि कोई दूसरा इसी प्रकार कार्य करता हुआ प्राप्त करता है तो उसका $\frac{1}{6}$ छोड़कर शेष राजा ले लेता है। यदि राजा स्वयं कोई सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है तो आधा ब्राह्मण को बाँट देता है।

(छ) सन्तान रहित व्यक्तियों की सम्पत्ति राजा की हो जाती है। पर ब्राह्मण यदि अपने पीछे सम्पत्ति छोड़ कर मर जाय तो उसका उत्तराधिकारी क्रमशः उसके सम्बन्धी और इसके भी अभाव में उसके शिष्य होते हैं।

(ज) भीड़ भरे मार्ग में आगे जाने के लिए सबसे पहले बीमार, स्त्री, स्नातक और राजा को मार्ग देना चाहिए। परन्तु मनु के अनुसार गाय, पागल और उच्च वर्ण के लोगों को निम्न वर्ग की अपेक्षा पहले मार्ग देना चाहिए। पर सभी का यह स्पष्ट मत है कि जब स्नातक और राजा एक साथ मार्ग में जा रहे हों तो सबसे पहले स्नातक को ही मार्ग देना चाहिए।

(झ) ब्रह्महत्या सबसे बड़ा अपराध माना जाता था। गौतम धर्मसूत्र और छान्दोग्य उपनिषद सभी मर्तकों में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊँचा रखते हैं। मनु के अनुसार कोई भी वस्तु ब्राह्मणों के पाप को नहीं धो सकती। पर अब समस्या यह उठती है कि यदि ब्राह्मण किसी पर आक्रमण करे तो क्या करना चाहिए? मनु, बौद्धायन, वशिष्ट सभी का यह कहना है कि आततताई की हत्या करने में कोई पाप नहीं है। याज्ञवल्क स्मृति के आलोचक विश्वरूप ने भी इस मत को स्वीकार किया है। परन्तु मिताक्षरा के अनुसार मनुस्मृति का अर्थ है कि यदि ब्राह्मण आततताई भी हो तो वह क्षमितव्य है। इसके बाद थोड़े से प्रायश्चित के बाद ही इससे उसकी मुक्ति हो जायगी।

(ञ) एक ब्राह्मण को डराना, उसके शरीर से रक्त निकाल लेना अथवा उसे पीटना अपराध बताया गया है। तैतरीय संहिता के अनुसार जो ब्राह्मण को डराता

है उस पर १०० पण दण्ड लगाया जा सकता है, जो पीटता है उस पर १,००० पण दण्ड लगाया जा सकता है और जो उसके शरीर से रक्त निकालता है वह कभी भी पितृ लोक में नहीं पहुँच सकता। गौतम ने इसी प्रकार का अनुशासन दिया है।

(ट) कुछ विशिष्ट दोषों पर ब्राह्मण कम दण्ड पाता है, दूसरे वर्णों की अपेक्षा। गौतम के अनुसार यदि एक क्षत्रिय किसी ब्राह्मण का अपमान करता है तो उस पर १०० पण जुर्माना किया जाता है और यदि वैश्य करता है तो १५० पण। परन्तु यदि ब्राह्मण यही व्यवहार क्षत्रिय के साथ करता है तो ५० पण के दण्ड का भागी होता है और वैश्य के साथ करने पर २५ पण का। पर कभी-कभी इससे भी अधिक दण्ड दिया जाता था जैसे चोरी करने पर ब्राह्मण को ६४,१००,१२८ पण, क्षत्रिय को ३२ पण, वैश्य १६ पण तथा शूद्र को ८ पण का दण्ड दिया जाता था।

(ठ) मुकदमे में ब्राह्मण को कभी भी गवाह नहीं रखना चाहिए। विशेष रूप से वह मुकदमा यदि किसी ब्राह्मण का न हो तो। राजा को भी कभी दूसरे वर्णों के लिए ब्राह्मण को गवाह के रूप में नहीं बुलाना चाहिए। नारद ने भी कहा है कि श्रोत्रिय और वृद्ध संन्यासी को भी कभी भी गवाह नहीं रखना चाहिए।

(ड) श्राद्ध तथा दैवकार्य में कुछ विशिष्ट ब्राह्मणं ही आमन्त्रित किए जाते थे।

(ढ) कुछ विशिष्ट यज्ञ सदैव ब्राह्मणों द्वारा ही होना चाहिए यथा शूत्रामणी। जैमिनी ने बताया है कि केवल राजसूय यज्ञ ही क्षत्रियों द्वारा होना चाहिए और शेष सभी ब्राह्मणों द्वारा।

(ण) राजा को सबसे पहले ब्राह्मण को प्रणाम करना चाहिए। उसे अधिकार था कि किसी के घर स्वतन्त्र रूप से चला जाय, लकड़ी एकत्रित करे, किसी की स्त्री से बात करें, बिना किराया दिए नदी पार कर ले, व्यापार में चुंगी न दे, यात्रा में थकने पर किसी के खेत से बिना पूछे ईख तोड़ ले आदि।

इस प्रकार ब्राह्मणों को अनेक सुविधाएँ प्रदत्त थीं और लगभग प्राचीन भारत में वह इन्हें अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानकर पालन करते थे। इस प्रकार का अधिकार शास्त्रों द्वारा भी समर्थित रहा क्योंकि शास्त्रकार अधिकतर ब्राह्मण थे और जो कुछ भी उन्होंने लिखा वह अपने व्यक्तिगत हित की दृष्टि से।

(ब) शूद्रों की निर्योग्यताएँ

जहाँ एक ओर ब्राह्मणों को समाज में समाद्रित स्थान प्राप्त था वहीं दूसरी ओर शूद्रों को बड़ा ही निम्न स्तर। यह निम्नता प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त थी, चाहे वह सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सम्पत्ति सम्बन्धी अथवा वैधानिक हो। इसलिए शूद्रों की निर्योग्यताओं का अध्ययन हम क्रमशः इन विभिन्न सन्दर्भों में करें तो विशेष उपयोगी होगा और उनकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जायगा।

(क) सामाजिक निर्योग्यताएँ

वेद इतने शुचि थे कि अशुचि शूद्र इनकी ऋचाओं का उच्चारण ठीक-ठीक नहीं कर सकते थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार केवल शूद्रों को वैदिक ऋचाओं का उच्चारण करना ही विवर्जित नहीं था पर साथ ही उनके सम्मुख भी इसका उच्चारण मना था। वेद का अध्ययन उपनयन संस्कार के बाद ही प्रारम्भ किया जाता था और उपनयन केवल द्विज ही कर सकते थे। अतएव, शूद्र उपनयन के अभाव में वेद का अध्ययन नहीं कर सकते थे। वेदों में शूद्रों के वेदाध्ययन के सम्बन्ध में बड़ा ही संक्षिप्त और अप्रासंगिक विवरण प्राप्त है। पीछे भागवत पुराण और वृहस्पति ने यह अनुशासन दिया कि महाभारत का अध्ययन शूद्र कर सकते हैं, पर शूद्र कमलाकर के अनुसार, जिनका विचार पुराण और स्मृति पर आधारित है, शूद्रों को इसके अध्ययन से वर्जित रहना चाहिए। मनुस्मृति में मनु ने कहा है कि केवल द्विजों को ही वेद का अध्ययन करना चाहिए।

मनुस्मृति के अनुसार उन्हें कोई संस्कार नहीं करना चाहिए। चाहे वह कितने भी पवित्र हों। यहाँ तक कहा जाता है कि यज्ञ का बचा हुआ भाग शूद्रों को नहीं देना चाहिए पर दूसरे स्थान पर यह विधान है कि वह सभी सामाजिक एवं धार्मिक कार्य कर सकते हैं केवल इसमें वेद-मन्त्र का उच्चारण वर्जित है।

अपवित्रता के सम्बन्ध में ब्राह्मण १० दिन केवल अपवित्र रहता है जब कि शूद्र के लिए यह अवधि एक मास की होती है।

बिना विशेष प्रतिबन्ध के ब्राह्मण किसी भी शूद्र से दान नहीं ले सकता था।

याज्ञवल्क स्मृति के अनुसार ब्राह्मण किसी भी द्विज के घर भोजन यज्ञ के समय कर सकता था। परन्तु शूद्र के घर तभी भोजन कर सकता था जब कि वह उसका चरवाहा हो, खेत जोतने वाला हो अथवा उसके परिवार से शूद्र की वंशानुगत मित्रता हो। आपस्तम्ब के अनुसार अपवित्र शूद्र द्वारा लाया गया अन्न नहीं खाना चाहिए। परन्तु वह अनुमति प्रदान करता है कि शूद्र द्वारा ब्राह्मण के घर में तथा ब्राह्मण की संरक्षता में पकाया गया भोजन यदि स्वच्छतापूर्वक तैय्यार किया जाय तो उसे वह ग्रहण कर सकता है। मनु भी इस सम्बन्ध में निश्चित मान्यताएँ देते हैं।

पीछे बहुत ही हेय दृष्टि से उन्हें देखा जाने लगा। यहाँ तक उन्हें नीच माना गया कि वह ब्राह्मण को स्पर्श करने से वर्जित कर दिए गए। अपरार्क के अनुसार जब कोई शूद्र किसी ब्राह्मण को स्पर्श कर दे तो वह आचमन के द्वारा शुद्ध किया जा सकता है। यदि शूद्र को ब्राह्मण का पैर धोने के काम में लगाया गया हो तो उस समय स्पर्श में कोई दोष नहीं है।

शूद्र का जीवन सबसे अधिक निम्न माना जाता था। सामाजिक दृष्टि के प्रत्येक पहलू में चाहे वह भोजन, स्पर्श अथवा किसी भी प्रकार का हो उसे निर्योग्यताएँ ही प्राप्त थीं।

(ख) धार्मिक निर्योग्यताएँ

शूद्रों को हिन्दू धर्म की पवित्र प्रामाणिक पुस्तक वेद को अध्ययन से वर्जित कर दिया गया था। इसीलिए यह विधान बनाया गया कि वेद पढ़ने वाले शूद्र की जिह्वा काट लेनी चाहिए तथा उसकी ऋचाएँ सुनने वाले शूद्र का कान काट लेना चाहिए। अनुशासनपर्व के अनुसार किसी को भी शूद्रों को वेद मन्त्रों का अध्यापन नहीं कराना चाहिए।

उन्हें वैदिक यज्ञों के करने की भी मनाही थी। इस समय शूद्र दो श्रेणियों में विभक्त थे : एक सतशूद्र और दूसरे असत शूद्र। सत शूद्रों को छूट थी कि वह पूजा कर सकें तथा पाक यज्ञ कर सकें।

शूद्रों को मोक्ष प्राप्त करने से वंचित रखा गया था। हिन्दू धर्म के अनुसार जो वेदविरत होता है वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। चूँकि शूद्रों का वेदाध्ययन वर्जित था, इसलिए यह निर्योग्यता इनमें थी।

शूद्रों को यह अधिकार नहीं था कि वह निर्णय कर सकें तथा धर्म को स्थापित कर सकें। इसलिए मनु एवं याज्ञवल्क ने यह विधान बनाया कि जब राजा व्यक्तिगत झगड़ों का निबटारा करता हो तो ब्राह्मण का कर्तव्य होता है कि धर्म को स्थापित करे अथवा राजा को स्वयं चाहिए कि वह इसके लिए ब्राह्मणों को नियुक्त करें।

शूद्र उपनयन संस्कार से संस्कारित नहीं हो सकते थे। इसीलिए अनुशासनपर्व में एक कथोपकथन में कहा गया है कि 'मैं शूद्र हूँ इसलिए चारों आश्रमों में से किसी आश्रम में भी नहीं जा सकता।'

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शूद्र किसी भी प्रकार के धार्मिक कार्य नहीं कर सकते थे। पर गृह्य-सूत्रों में यह छूट दी गई कि वह गृह अग्नि प्रज्वलित कर सकता था, भैरव का मन्दिर बना सकता था, पुराणों का अध्ययन कर सकता था और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता था।

(ग) सम्पत्ति सम्बन्धी निर्योग्यताएँ

महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार शूद्र की अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती है। जो कुछ भी उसके पास होता है वह उसी का होता है जिसके अधीन वह हो। मनु के अनुसार शूद्र को सम्पत्ति संग्रह नहीं करना चाहिए केवल इसकी छूट यज्ञ के सम्बन्ध में ही दी जा सकती है। यदि कोई ब्राह्मण कठिनाई में हो तो वह शूद्र को लूट

सकता है--आपस्तम्ब। वह शूद्र के यहाँ से बैल छीन ले जा सकता है। मनु के अनुसार ब्राह्मण को शूद्र के राज्य में नहीं रहना चाहिए। परन्तु जातक कहानियाँ तथा महाभारत के अध्ययन से यह ज्ञात होता है समाज में उस समय शूद्र सम्पन्न थे।

(घ) व्यावसायिक निर्योग्यताएँ

मनु के अनुसार शूद्र का कार्य है स्वयंभू ब्राह्मणों की सेवा करना। परन्तु पीछे उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मण की सेवा करने से यदि शूद्र का पेट न भरे तो वह कोई व्यवसाय अपना सकता है। इसकी मान्यता गौतम, महाभारत आदि सभी ने दी है। शान्तिपर्व उसे कृषि, पशुपालन तथा व्यापार करने की अनुमति प्रदान करता है। ब्रह्मपुराण के अनुसार यदि वह पवित्र है तो द्विजाति के समान उसका आदर होना चाहिए। इसीलिए शिव ने उमा से कहा कि जन्म, बालक, सम्पत्ति, अध्ययन एवं संस्कार का चरित्र से अधिक कोई विशेष महत्व नहीं होता शूद्रों को मोटा वस्त्र पहनना चाहिए।

(ङ) वैधानिक निर्योग्यताएँ

शूद्र के जीवन का मूल्य सबसे निम्न माना जाता था। यदि एक ब्राह्मण की हत्या की जाय तो उसका दण्ड १,००० द्रव्य और एक बैल होता था, क्षत्रिय की हत्या का दण्ड ५०० द्रव्य और एक बैल होता था, वैश्य की हत्या का दण्ड १०० द्रव्य और एक बैल होता था और शूद्र की हत्या का दण्ड १० द्रव्य और एक बैल होता था।

यदि ब्राह्मण का अपमान कोई शूद्र करता था तो उसका सिर काट दिया जाता था। यदि पैर से वह ब्राह्मण का अपमान करता था तो उसको दोषी ठहरा कर कठोर यातना दी जाती थी। पर इसी अपराध में ब्राह्मण को बहुत थोड़ा दण्ड दिया जाता था। यदि ब्राह्मण किसी शूद्राणी के साथ व्यभिचार करे तो उसे तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करना पड़ता था। पर इसी अपराध में शूद्र को जीवित जला दिया जाता था। यदि कोई सवर्ण को ही अपमानित करे तो दण्ड १२ पण होता था। यदि अपमान किया जाने वाला वर्ण अपमान करने वाले वर्ण से निम्न हो तो दण्ड ६ पण होता था। यदि ब्राह्मण एक शूद्र के द्वारा अपमानित किया जाता था तो उस शूद्र की जिह्वा काट ली जाती थी। यह थी व्यावहारिक जीवन की बात; परन्तु सैद्धान्तिक जीवन में ब्राह्मणों के लिए ही अधिक दण्ड का विधान था। मनु के अनुसार शूद्र की हत्या करना पशु हत्या के समान ही माना जाता था। ब्राह्मण का दोष १००% क्षत्रिय का ५०% वैश्य का २५% तथा शूद्र का १२% माना गया था।

अध्याय ५

जाति और संकर जाति

चातुर्वर्ण के सृजन के बाद इसके अन्दर बहुत सी अव्यवस्थाएँ समय-समय पर होती रहीं। इनमें पहली अव्यवस्था थी विदेशी जातियों का भारतीय वर्ण में मिलना, दूसरी अव्यवस्था थी विवाह सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लंघन करना। तीसरी अव्यवस्था थी भोजन सम्बन्धी तथा व्यवसाय अर्थात् कार्य सम्बन्धी नियमों का जिनका वर्णन वर्ण धर्म में किया गया है उनका उल्लंघन करना आदि। इस प्रकार की अनेक अव्यवस्थाएँ वर्ण व्यवस्था में समा गईं। इसके साथ ही समाज को केवल चार वर्णों में विभक्त किया गया था। इस प्रकार का मूक विभाजन इतने बड़े समाज में सफलता पूर्वक बिना किसी कठिनाई के नहीं चल सका। इसी से वर्ण के आवान्तर भेद हुए जिसमें एक ही वर्ण के अन्दर एक प्रकार की अव्यवस्था तथा व्यवसाय एवं परम्परा का पालन करने वाले परिवारों का एक संगठित समूह बनाया गया, जिसे जाति की संज्ञा दी गई। पर यह एक अव्यवस्था वर्ण में आई। दूसरी अव्यवस्था थी रक्त शुद्धता में अन्तर की। भारतीय सदा रक्त शुद्धता पर ध्यान देते थे। यद्यपि भारतवर्ष में आठ प्रकार की विवाह प्रणालियाँ प्रचलित थीं परन्तु उनमें भी दो भेद कर दिया गया था: एक मान्य दूसरा मान्यता प्राप्त। मान्यता प्राप्त विवाह निकृष्ट माना जाता था। इसके साथ ही सवर्ण[1] विवाह पर ही बल दिया जाता था। इससे विरुद्ध विवाह को साम्य स्तर से नीचा मानते थे जिसे अनुलोम[2] तथा प्रतिलोम[3] की संज्ञा दी जाती थी। समाज में सदा इस प्रकार का असवर्ण विवाह चलता था जो संतति के वर्ण को विनष्ट कर देता था। इसलिए वह सन्तति जो इस प्रकार के असवर्ण विवाह से उद्भूत होती थी वह चूँकि वर्ण व्यवस्था को विनाश करती थी इसलिए उसे वर्ण संकर कहते थे। इसी के साथ इस प्रकार का परिवार जो जाति बनाता था वह जाति अपनी शुद्धता खो देती थी, इसलिए उसे विनष्ट जाति अथवा संकर[4] ज...

---

१ सवर्ण—जिस वर्ण का लड़का हो उसी वर्ण की लड़की हो।

२ अनुलोम—उच्च वर्ण का लड़का और निम्न वर्ण की लड़की का विवाह

३ प्रतिलोम—निम्न वर्ण का लड़का और उच्च वर्ण की लड़की का विवाह (लोम = रोआँ। अनु = अनुकूल। प्रति = प्रतिकूल।)

४ संकर संहारकारी हैं इसलिए वर्ण व्यवस्था के संहारकारी स्वरूप को संकर वर्ण की संज्ञा दी जाती है।

कहते थे। इस प्रकार वर्णसंकर और संकर जाति एक ही हैं। अतएव इस अध्याय में हम वर्ण के अन्दर उद्भूत इन दो अव्यवस्थाओं का अर्थात् जाति और संकर जाति का व्यवस्थित अध्ययन करेंगे।

१. जाति व्यवस्था

अर्थ

भारतीय जाति व्यवस्था का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द कास्ट है। यह पुर्तगाली भाषा के 'कास्टा' से बना है जिसका अर्थ नस्ल, प्रजाति या भेद है। प्रो० वाडिया के अनुसार यह लैटिन भाषा के 'कास्टस' के बहुत समीप है जिसका अर्थ है विशुद्ध[1]। इस प्रकार की जाति से अभिप्राय है नस्ल सम्बन्धी विशुद्धता। नस्ल सम्बन्धी विशुद्धता दो प्रकार की होती है: व्यवसाय सम्बन्धी तथा विवाह सम्बन्धी। पहले व्यवसाय सम्बन्धी विशुद्धता पर ही बल दिया गया था इसी से कास्ट शब्द का पहला प्रयोग करने वाला डे आर्टा नामक विद्वान ने इस सम्बन्ध में लिखा कि "कोई भी अपने पिता का व्यवसाय बदलता नहीं है। मोची जाति के समस्त लोग मोची होते हैं।"

पर जाति का यह अर्थ कुछ स्पष्ट नहीं प्रतीत होता क्योंकि यह एकमात्र कास्ट शब्द का अर्थ और जाति के समानार्थी अन्य शब्दों की व्याख्या करता है। अतएव जाति शब्द का अर्थ समझने के लिए हमने ऊपर ही संकेत किया है कि विभिन्न प्रजातियाँ भारत में आईं। वह यहाँ के समाज में धीरे-धीरे घुल-मिल गईं। उनके घुलने के कारण वर्णों के अन्दर के बहुत से परिवार अशुद्ध हो गए। इन्हीं अशुद्ध परिवारों का एक-एक संघठन किया गया जो एक विशिष्ट प्रकार का व्यवसाय ही अपनी जीविका का माध्यम चुन कर, अपनी एक अलग सभा बनाकर, अपना धर्म निर्धारित करते थे तथा परस्पर विवाह के द्वारा उसका विकास करते थे। इनका विवाह इनके अपने ही वर्ग में हो सकता था क्योंकि दूसरे परिवार के लोग अपनी शुद्धता बनाए रखने के लिए इस प्रकार का विवाह नहीं कर सकते थे। पीछे अपनी दृढ़ता बनाए रखने के लिए इस दल के लोगों ने कुछ नियम और व्यवस्थाओं को अपनाया। इस प्रकार की व्यवस्था से सम्बद्ध कुछ परिवारों का एक समूह जिसके सभी सदस्य अपने को उसके अनुशासनों के अधीन रखते हुए एक ही व्यवसाय का पालन करते हों, उसे एक जाति की संज्ञा दी जा सकती है।

इसी प्रकार की कुछ परिभाषाएँ दूसरे विद्वानों ने भी दी हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख अधोलिखित है—

श्री रिजले के अनुसार जाति परिवारों या परिवारों के समुदाय के संगठन को कहते हैं जिनका एक नाम होता है तथा मानवीय या दैवीय किसी भी प्रकार के

---

१ भारतीय समाजशास्त्र, त्रिपाठी, पृ० ४१।

एक पुरुष से अपना जन्म निश्चित करते हैं, एक ही वंशानुगत व्यवसाय का पालन करते हैं और उन अधिनियमों का पालन करते हैं जिन्हें सजातीय समुदय बनाती है।

श्री कूले के अनुसार "कोई भी वर्ग जब पूर्णरूप से वंशानुगत होता है तब वह जाति कहलाता है।"[२]

श्री मदन और मजुमदार के अनुसार 'जाति एक बन्द व्यवस्था है।' (बन्द से यहाँ हमारा अभिप्राय धनी, गरीब या ऊँच-नीच नहीं है परन्तु एक जन्मजात व्यवस्था है।)[३]

श्री केतकर के अनुसार जाति रूपी सामाजिक समुदाय की दो विशेषताएं हैं: (अ) इसकी सदस्या जन्मजात होती है तथा (ब) इनके सदस्यों को एक सामुदायिक नियमों के बंधन में ही रहना पड़ता है।[४]

इसी प्रकार एक नहीं अनेक विद्वानों ने इस व्यवस्था की परिभाषा की है। अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार, जिनमें बहुत अंशों में भावजनित पारस्परिक तादात्म्य है। इसका कारण यह है कि सभी विचारक एक या अधिक जातिपरक विशेषता के ही आधार पर इसकी परिभाषा नियत करते हैं। फिर भी जहाँ तक हमारा अपना विषयगत सम्बन्ध है वह अतीत से है। अतएव यदि हम भारतीय शास्त्रों के आधार पर इसकी परिभाषा नियत करने का प्रयास करें तो जाति शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में यह ज्ञात होता है कि यह 'जनि प्रादुर्भावे' शब्द से बना है। इसका अभिप्राय है कि जाति व्यवस्था का आधार जन्म पर ही आश्रित है। इसीलिए श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने कहा है कि जाति के विषय में किसी से पूछने का अभिप्राय है उसके जन्म के सम्बन्ध में पूछना।[५] इसी की पुष्टि पुनः न्याय-दर्शन के आधार पर भी होती है जहाँ कहा गया है कि 'समान प्रसवात्मिका जातिः' अर्थात् समान प्रजनित संतान ही जाति होती है। यह सिद्ध करता है कि जाति एक जन्मजात व्यवस्था है। इसी से हम वर्ण तथा जाति में स्पष्ट भेद करते हैं। वर्ण के सम्बन्ध में ऊपर ही हमने कहा कि गुण और कर्म के अनुसार जो जिस प्रकार का कार्य करता है वह उस वर्ण का है पर जाति उससे पूर्ण भिन्न है। इसमें समानजन्म के ही लोग सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार जहाँ वर्ण-गुण एवं कर्मपरक है, वहीं जाति जन्मपरक है। परन्तु आज के समाज में हम वर्ण शब्द को भूल बैठे हैं और पहले जिसे वर्ण कहते थे उसे ही

---

१ भारतीय समाज शास्त्र, त्रिपाठी
२ सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० २११।
३ A caste to a closed class.—मदन और मजुमदार
४ हिस्ट्री आफ काष्ट इन इन्डिया, केठकर, पृ० १५
५ भारत की जनजातियाँ तथा संस्थाएँ, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ० २९

अब जाति कहते हैं। यह क्यों? जब वर्ण और जाति में इतना मूलभूत भेद है तो इस प्रकार की त्रुटि क्यों आ गई। इस सम्बन्ध में विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि कर्म और गुण जिसे वर्ण का आधार माना जाता था वह धीरे-धीरे समाप्त हो गया और जन्म के आधार पर चारों वर्णों को हम पहचानने लगे। इससे चारों वर्णों को अब जातियों के नाम से सम्बोधित करने लगे। धीरे-धीरे जाति के अनुरूप ही इनके भी नियम बन गए।

इस प्रकार जाति से अभिप्राय हमारा उन परिवारों के संगठन से है 'जिनका एक व्यवसाय होता है, जिनकी सदस्यता जन्मजात होती है तथा जिनके सदस्य उस जातीय समुदाय के अधिनियमों का पूर्णतया पालन करते हैं।"

विशेषताएँ

जब हम जाति की विशेषताओं का निर्णय करने लगते हैं तो ऊपर की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है जहाँ एक अथवा अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इन्हीं विशेषताओं के कुछ व्यापक अथवा संकुचित स्वरूप का ज्ञान हमें विभिन्न विद्वानों के वर्णन के आधार पर होता है। इस सम्बन्ध में डा० एन० के० दत्त का निम्नांकित उद्धरण रखा जा सकता है:—

'विभिन्न जातियों के लोग दूसरे के साथ वैवाहिक सम्पर्क नहीं रख सकते परन्तु स्वजाति में यह होता है, इस प्रकार के दूसरे प्रतिबंध भी हैं यद्यपि वह इतने कटु एवं विशिष्ट नहीं जितना विवाह के सम्बन्ध में। एक जाति के लोग दूसरे जाति के साथ बैठ कर न भोजन कर सकते और न कोई पेय ही ग्रहण कर सकते हैं। अधिकतर जातियों का अपना एक निश्चित व्यवसाय होता है। इसके साथ ही कुछ ऊँच-नीच सम्बन्धी विभेद जातियों में बने होते हैं। जन्म के ही आधार पर किसी व्यक्ति का सम्बन्ध किसी जाति विशेष से सम्बन्धित किया जाता है। जब तक एक जाति का व्यक्ति किसी कारण विशेष से अपनी जाति से बहिष्कृत न कर दिया जाय तब तक उसे अपने को किसी दूसरे ऊँच या नीच जाति में बदलना सम्भव नहीं होता।' इसी प्रकार की विभिन्न विशेषताएँ हट्टन[1] तथा दूसरे भारतीय समाज-शास्त्रियों ने दी है। इस सम्बन्ध में यह समीचीन प्रतीत होता है कि उपर्युक्त विशेषताओं का थोड़ा स्पष्टीकरण कर दिया जाय।

(१) वैवाहिक सीमाएँ

प्रत्येक जाति की यह इच्छा रहती है कि उसमें रक्त शुद्धता बनी रहे। इसलिए कोई भी जाति अपना प्रजनन दूसरे जाति के रक्त सम्पर्क से नहीं करना चाहती। इसलिए अन्तर विवाह सम्बन्धी बंधन जातियों में विशेष रूप से व्याप्त होता है। एक जाति के कहे जाने वाले लोग एक ही जाति में विवाह करते

१ कास्ट इन इण्डिया, हट्टन

हैं। जो अन्यथा विवाह करता है वह जाति बहिष्कृत घोषित कर दिया जाता है। साथ ही जाति व्यवस्था में अनुलोम विवाह को मान्यता मिली है प्रतिलोम की नहीं।

(२) भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध

आज भी प्रायः यही होता है कि एक जाति के लोगों में भाई बनाये रखने के लिए जब वह परस्पर मिलते हैं तो आपस में हुक्का करते हैं। इसी प्रकार एक पंक्ति में बैठ कर एक साथ एक ही जाति लोग भोजन करते हैं। इसका कारण यह है कि जातीय मर्यादा बनाए के लिए प्रायः कोई भी जाति अपने से नीची जाति के साथ बैठ कर भोजन नहीं चाहती। हाँ ऊँची जाति के साथ भोजन किया जा सकता है। पर ऊँची पुनः नीची जाति के साथ भोजन नहीं कर सकती। यह प्रतिबंध इतना व्यापक है उसी जाति का व्यक्ति यदि किसी प्रकार जाति बहिष्कृत कर दिया गया है अपने अपराध से अथवा विवाह या दूसरे प्रतिबंधों के पालन करने के अभाव उसके साथ भी बिरादरी में बैठ कर भोजन और हुक्का पानी नहीं हो सकता। यह सभी प्रतिबंध कच्चे भोजन के लिए हैं। पक्के भोजन में अस्पृश्य को छोड़ कोई निषेध कभी भी नहीं माना गया। इसीलिए अंगिरस स्मृति में कहा गया कि एक ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य का भोजन किसी समय कर सकता है परन्तु काल में शूद्र का भोजन ग्रहण कर सकता है। पर पीछे यह कहा गया कि ब्राह्मण ब्राह्मण का ही भोजन ग्रहण कर सकता है। जब याज्ञवल्क ने अन्तरभोज की व्य के समापन का आदेश दिया तब अंगिरस ने भी यह कहा कि जो शूद्र के घर एक म अधिक भोजन करता है वह वास्तव में अपना व्यक्तित्व खोकर शूद्र हो जाता हम तो इस सीमा पर पहुँच गए कि यदि एक ऊँच जाति का व्यक्ति किसी जाति के व्यक्ति के साथ सहभोज में सम्मिलित होता है तो ऊँच जाति वा शुद्धता प्राप्त करने के लिए प्रायश्चित करना होगा। इसी से पीछे चल कर भोज में विभिन्न जातियों के अलग-अलग बैठने की व्यवस्था प्रचलित हुई इसके भी बाद बीच में विभिन्न जातियों की पंक्ति में अग्नि प्रज्वलित करने की व्य का श्री गणेश हुआ जिससे भोजन में जातिगत शुद्धता बनी रहे। परन्तु यह सम्बन्धी रूढ़िवादिता आठवीं शताब्दी के बाद ही आई क्योंकि इसके पूर्व आप ने कहा था कि आर्य वर्ण के संरक्षण में शुद्धता के साथ यदि शूद्र भोजन पका उसे द्विज ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार गौतम धर्मसूत्र में भी कहा गया चारों वर्णों में से किसी वर्ण से भिक्षा लिया जा सकता है पर मान्यता कि वह परिवार किसी कारण विशेष से धर्म बहिष्कृत न घोषित किया गया अथवा वह दुष्ट न हो। इसके पूर्व उत्तर वैदिक काल में समाज में भोजन सम्बन्धी कोई भी प्रतिबन्ध नहीं था और ऋग्वैदिक काल में खुली परिवार प्रणाली भारत में

इस प्रकार आठवीं शताब्दी से भोजन सम्बन्धी बंधन समाज में कटुतापूर्ण हो गए।

(३) व्यवसाय की निश्चितता--

प्रायः प्रत्येक जाति का नामकरण उनके व्यवसाय पर ही हुआ है। चमड़े का काम करने वाला चमार कहलाया, लोहे का काम करने वाला लुहार कहलाया, मछली का व्यवसाय करने वाला मछुआ कहलाया। इस प्रकार यदि हम किसी से भी उसके जाति के विषय में पूछते हैं तो हमारा अभिप्राय उसके व्यवसाय के विषय में पूछना है। यह बात दूसरी है कि अब जाति केवल व्यवसाय स्थिरता को ही नहीं प्रतिपादित करती क्योंकि एक ही जाति के लोग अपनी योग्यता और पहुँच के अनुसार अलग-अलग काम करते हैं। पर कार्य सम्बन्धी विभाजन जातियों के आधार पर इतना सूक्ष्म हो गया था कि अतीत में भी एकही जाति के लोग जब उस जाति द्वारा पालित किसी व्यवसाय के एक विशिष्ट प्रकार में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते थे जो एक दूसरे नाम से संबोधित किए जाते थे। मछुए नावों द्वारा मछली पकड़ते हैं। पर जो मछुए नाव चलाने का ही व्यवसाय अपना लेते थे वे केवट कहलाते थे और जो टाप से मछली पकड़ते थे वे बालसिख कहलाते थे।

४. ऊँच-नीच का भेद

इसे समाजशास्त्र के शब्द में स्ट्रैटीफिकेशन कह सकते हैं। अपनी जाति में यद्यपि कोई भी व्यक्ति चाहे धनी हो अथवा निर्धन हो, विशेष ख्याति प्राप्त हो अथवा सामान्य वह समान ही स्तर पर माना जाता है। इसी से भोजपुरी में यह कहावत भी है 'अबरा; दुबरा भाई के बरोबरा'। परन्तु जब हम दूसरी जाति के सम्पर्क में जातियों का स्थान देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जातियों में परस्पर भेद होता है। इनमें आपस में ऊँच नीच का भेद होता है। यदि ब्राह्मणों की ही विभिन्न जातियाँ ली जायँ तो कुछ इनमें श्रेष्ठ मानी जाती हैं और कुछ निकृष्ट। इसी प्रकार सभी जातियाँ परस्पर एक दूसरे से स्तर में भिन्न स्थान ग्रहण करती हैं। पर यह संस्तरण देश के साथ बदलता रहता है। कहीं एक जाति को विशेष ऊँचा पद दिया जाता है कहीं उसी को नीचा।

५. जन्म सम्बन्धी आधार

वर्ण के ठीक विपरीत जाति का आधार जन्म माना गया है। चाहे व्यक्ति में जो भी गुण हों, परन्तु वह जिस जाति के पिता के घर जन्म लेता है वह उसी जाति का माना जाता है। एक ब्राह्मण के परिवार में जन्म लेने वाला बालक भले ही मछुए का काम करता हो, पर जब तक उसे उसकी सामुदायिक संस्था जाति बहिष्कृत नहीं कर देती तब तक वह अपने को ब्राह्मण जाति का कहता रहता है। इस प्रकार जन्म के ही आधार पर किसी की जाति निश्चित होती है।

ऊपर की सम्पूर्ण जातिगत विशेषताएँ एम० के० दत्त के आधार पर दी गई है। इसी प्रकार एक नहीं अनेक सूक्ष्म विशेषताओं का ज्ञान हमें जातियों के सम्बन्ध में होता है, यथा—सामाजिक बंधन, आर्थिक निर्योग्यताएँ, धार्मिक बंधन आदि।

उत्पत्ति

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने इस व्यवस्था के उद्भव के सिद्धान्तों का वि स्वरूप प्रस्तुत किया है। इनमें से कुछ सिद्धान्त अधोलिखित हैं —

१. परम्परात्म सिद्धांत

ऊपर वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमने देखा कि वि काल में धर्माधिकारियों ने उत्पत्ति के विभिन्न कारणों पर बल दिया। पर 'पुरुष सू में वर्णित विराट पुरुष के चारों अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति के प्रायः इस सि को उपनिषद्, स्मृति, महाभारत आदि सभी ने दुहराया है। इसी को जाति व्यव की उत्पत्ति का आधार भी स्वीकार किया गया। चूँकि यह धारणा परम्परा से च आ रही थी और कुछ शास्त्र जैसे मनुस्मति ने इन वर्णों को जाति की ही संज्ञा था; किन्तु इससे उनका अभिप्राय वर्ण से था इसलिए इसे परम्परात्म सिद्धा कहा गया।

पर जैसा ऊपर के कथन से ही स्पष्ट होता है कि यह सिद्धान्त वर्ण की उत्प का ही द्योतक है न कि जाति का। जिन्होंने जाति के रूप में इसका प्रयोग किय उनका भी अभिप्राय वर्ण से ही है।

२. प्रजातीय सिद्धांत

प्रायः ऐसा होता है कि जब एक विदेशी किसी दूसरे देश पर आक्र करता है और उसे जीत लेता है तो विजित देश के निवासियों के साथ वैवा सम्बन्ध स्थापित करने लगता है। यह बात अन्यथा है कि वह विजेता को पत्नी रूप में स्वीकार करे और पहले अपनी लड़कियों को पराजित को नहीं सौंप फिर भी कुछ काल के बाद यह बंधन स्वतः ढीले पड़ते हैं और प्रजातीय मिश्रण हो जाता है। दूसरी और शुद्धता के संरक्षणार्थ जो लोग दृढ़निष्ठ होते हैं वे प्रजातियों से मिश्रित संतान को अपने वास्तविक कोटि में सम्मिलित नहीं कर अतएव यही जातियों का रूप धारण कर लेती हैं।

पर यह आवश्यक नहीं कि जहाँ इस प्रकार का प्रजातीय भेद बन गया वहाँ जाति व्यवस्था का जन्म ही हो। इस प्रकार का उदाहरण हम अमेरिका का सकते हैं जहाँ नीग्रो को विधर्मी माना जाता था पर इनके कारण अमेरिका में जाति व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ।

३. व्यवसायात्मक सिद्धान्त

व्यवसायात्मक विशिष्टता के आधार पर जातियों की उत्पत्ति की बात कुछ ठीक प्रतीत होती है क्योंकि वर्णों में सबसे पहले ब्राह्मण का उल्लेख किया जाता है जिनका कार्य अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, याजन और दान बताया गया है। पर इनमें से वह वर्ग जो केवल यज्ञ कराने में विशेषता प्राप्त कर गया वह पुरोहित बना, जो मृतक सम्बन्धी कर्मकाण्ड कराने में विशेषता प्राप्त कर लिया वह महापात्र कहलाया। जो चारों वेदों का ज्ञाता हो गया वह चतुर्वेदी कहलाया, जो दो वेदों का ज्ञाता हुआ द्विवेदी कहलाया तथा जो तीन वेदों का ज्ञाता हुआ त्रिवेदी कहलाया आदि। इसी प्रकार अन्य जातियों के सम्बन्ध में जैसे मछुआ की ही उपशाखाएँ केवट, बालसिख आदि कहलाई, अपनी व्यवसायिक विशिष्टता के आधार पर।

पर इस सिद्धान्त में दोष है कि प्रजातियों की जातीय उत्पत्ति पर कोई प्रभाव यहाँ नहीं आँका गया है। इसके साथ ही यदि व्यवसाय को ही जाति का आधार माना जाय तो चिर पुरातन में बहुत से लोग कृषि का व्यवसाय करते थे तो उनकी एक जाति ही होनी चाहिए। पर ऐसी बात नहीं है। पुनः यदि व्यवसाय ही जातियों का आधार था तो क्यों जातीय संतरण हुआ?

४. राजनैतिक सिद्धान्त

पुरातन काल में ब्राह्मण ही अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते थे और इस श्रेष्ठता को बनाए रखने के लिए उन्होंने समाज की एकता को टुकड़ियों में बाँट दिया जिसे जाति की संज्ञा दी गई। यद्यपि डा० कीथ ने भी स्वीकार किया है कि वैदिक पुरोहित ही भारत में जाति व्यवस्था के संस्थापक हैं।

परन्तु यह विचार कुछ मान्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि ब्राह्मण न तो राजनीति के पण्डित थे और न राजनीतिक चक्र को ही उन्होंने चालित किया। फिर यह उनकी चाल कैसे हो सकती है कि राजनीति की सुविधा के लिए समाज जातीय टुकड़ियों में बँट जाय।

५. भौगोलिक सिद्धान्त

बहुत सी जातियों का नाम विभिन्न स्थानों के नाम के पीछे मिलता है जैसे कनौजी, सारस्वत आदि। इसी प्रकार कुछ जातियाँ पुनः पुरातन गणराज्यों के नाम से सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। इस सम्बन्ध में रोहितक गण से रोहतगी, आग्रणेय गण से अग्रवाल आदि।

पर यह सिद्धान्त व्यापक नहीं प्रतीत होता क्योंकि सभी जातियाँ भौगोलिक आधार पर ही बनीं, यह कुछ ठीक नहीं है यद्यपि कुछ के सम्बन्ध में अवश्य ऐसी बात ज्ञात होती है।

६. बहुकारणों का सिद्धान्त

हट्टन आदि कुछ विचारकों का यह मत है कि किसी एक कारण से जा। की उत्पत्ति हुई ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्येक कारण का किसी न किस रूप में कुछ न कुछ प्रभाव हमारी जाति व्यवस्था की उत्पत्ति पर पड़ा है। अतः यह हमारा दृष्टिकोण है कि हम निश्चित करें कि कहाँ तक कौन सा कारण इ व्यवस्था की उत्पत्ति में सहायक है। परन्तु वास्तविक बात तो यही है कि इस उत्पत्ति में अनेक कारणों का हाथ रहा है।

इस प्रकार ऊपर हमने जातियों की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रमुख थे प्रणयन किया है पर इसके अतिरिक्त भी विभिन्न सिद्धान्त यथा विकासवा सिद्धान्त (जैसे-जैसे संस्कृतियों और सभ्यताओं का विकास होता गया वैसे वैसे जाति का भी विस्तार हुआ); धार्मिक सिद्धान्त (जो जिस प्रकार के धार्मिक संस्कारों मानने लगा वह उस जाति का बन गया), आदि प्रचलित है।

ऐतिहासिक विकास-क्रम

सिद्धान्तों के अध्ययन मात्र से ही जाति व्यवस्था के विषय में कोई भी विचा परितुष्टि नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि इतिहास के आध पर इसके विकास के विभिन्न सोपानों का अध्ययन किया जाय। सोपानों के आध पर भारतीय जाति के विकास को हम तीन पदों में विभक्त कर सकते हैं, यथा—

(अ) प्रथम सोपान

इसमें बौद्ध काल के पूर्व भारत में जाति व्यवस्था पर हम अध्ययन कर सक हैं। इसका कारण यह है कि प्रगति की गति में पूर्व की अपेक्षा बौद्ध एवं जैन काल एक विशेष विकास की धारा चल पड़ी। ऋग्वैदिक काल में जाति व्यवस्था के कि भी स्वरूप का हम ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि इस समय समाज पूर्ण ह था। इसलिए जाति व्यवस्था के किसी भी रूप का हमें ज्ञान नहीं मिलता। उत्तरवैदिक काल से जाति व्यवस्था का रूप समाज में व्याप्त हुआ। व्यवसा आधार पर इस समय विभिन्न जातियों का संगठन होने लगा, यथा रथकार, चर्मका कर्मकार, स्वर्णकार, बढ़ई आदि। यह सभी व्यवसाय छोटी-छोटी श्रेणियों में संग हो गए थे।

(ब) द्वितीय सोपान

बौद्ध एवं जैन साहित्य से इस व्यवस्था के एक समुचित विकास का ज्ञान हे है। इस समय व्यवसायों की संख्या बढ़ गई थी क्योंकि बौद्ध एवं जैन साहित्य विभिन्न प्रकार के व्यवसायों का विवरण प्राप्य है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में

विभिन्न व्यवसायों का वर्णन मिलता है। व्यावसायिक श्रेणियाँ जिनका विकास उत्तर-वैदिक काल से हो चुका था वह इस समय संगठित एवं व्यवस्थित होने लगीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार की १८ श्रेणियों का वर्णन मिलता है। यही नहीं परन्तु व्यावसायिक चेतना इतनी अधिक व्याप्त हो गई कि कुछ गाँव एक विभिन्न व्यावसायिक वर्ग के निवास बन गये। कुछ ग्रामों का नाम भी व्यवसायों के आधार पर ही रख दिया गया। इसके साथ ही साथ विभिन्न टुकड़ों में श्रम का विभाजन इसी समय होना प्रारम्भ हो गया। इसके अतिरिक्त विवाह परम्परा के अन्दर भेद स्थापित होना प्रारम्भ हुआ जिससे भी जाति व्यवस्था को बल मिला। विवाह में इस समय अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार की वैवाहिक व्यवस्था को मान्यता मिली थी। परन्तु धर्माधिकारियों ने प्रतिलोम विवाह को केवल बाह्य रूप से ही मान्यता दी थी अन्यथा इसे अत्यन्त निकृष्ट प्रकार का विवाह माना जाता था। परन्तु सवर्ण विवाह या सजातीय विवाह को ही वास्तविक दृष्टि से मान्यता दी गई थी। अनुलोम को समाज ने मान तो लिया था पर इसकी मान्यता सवर्ण विवाह की तरह नहीं थी। प्रतिलोम विवाह से उद्भूत संतति को जाति बहिष्कृत माना जाने लगा। इससे इसके द्वारा विभिन्न जातियों का उद्भव हुआ। पीछे अनुलोम विवाह को भी विशेष मान्यता नहीं दी गई और इसकी संतति द्वारा भी जाति प्रथा के विकास को स्वीकार कर लिया गया।

(स) तृतीय सोपान

ऊपर हमने देखा है कि अनुलोम विवाह को भी समाज हेय दृष्टि से देखता था। पर इस अवस्था में इस प्रकार के विवाह द्वारा उद्भूत संतति को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न जाति का बताया है। एक दल के विचारकों के अनुसार इस प्रकार के विवाह के बाद उत्पन्न सन्तति पिता की जाति के अनुकूल मानी जाती है। दूसरे दल के विचारक यह स्वीकार करते हैं कि पिता के तुल्य ही संतति की जाति होती है पर चूँकि माता की जाति पिता से निम्न होती है इसलिए संतति भी पिता की अपेक्षा कुछ नीचे स्तर में गिनी जानी चाहिए। विचारकों का तीसरा दल यह समर्थित करता है कि संतति का प्रजनन माता से होता है, अतएव संतति माता की जाति ही अपनाती है। इस प्रकार अनुलोम विवाहों के सम्बन्ध में विभिन्न विचार यह सिद्ध करते हैं कि जातियों में विभिन्नता और इनकी संख्या में अभिवृद्धि अनुलोम विवाह के प्रति दृष्टिकोण वैभिन्य के कारण भी हुआ।

दूसरी ओर प्रतिलोम विवाह को विशेष हेय दृष्टि से देखा जाता था। इसलिए इस प्रकार के विवाह द्वारा प्रजनित संतति विधर्मी और अवैधानिक होने के कारण विभिन्न जातियों की मानी जाने लगी। कल्लूक ने मनुस्मृति की व्याख्या करते हुए

एक स्थान पर यह उल्लेख किया है कि प्रतिलोम विवाह पूर्ण अवैधानिक है क्यों धर्म के अनुसार उच्च वर्ण के अथवा जाति के पिता तथा निम्न वर्ण अथवा जाति माता के बीच कोई विवाह ही नहीं होता। अतएव इनसे प्रजनित संतति भी अवैधा होती है। यही विचार वशिष्ठ तथा बौद्धायन ने भी स्वीकार किया है। इसीलिए इ प्रकार के सहयोग से प्रजनित संतति से आपस्तम्ब ने चाण्डाल, पुलकश्व, वेण त गौतम ने रथकार, कुक्कुट, वेण आदि जातियों का उल्लेख किया है।

इसके साथ ही वर्णसंकर जिसकी चर्चा हम आगे इसी अध्याय में करेंगे समय समाज में विद्यमान हो गए। वह दूसरे प्रकार के वर्णसंकरों से विवाह क लगे। इस सम्बन्ध से जिस संतति का प्रजनन होता है उसे पुनर्वर्णसंकर की संज्ञा जाती है। इस प्रकार के सहयोग द्वारा भी बहुत सी मिश्रित जातियों का अभ्यु हुआ।

इस समय व्यवसायों के अन्दर भी खण्ड किए जाने लगे। इन व्यावसायि खण्डों और विभेदों के विकास के कारण भी जातियों का विकास और विस्तार ह हो गया।

(द) चतुर्थ सोपान

इस स्तर पर उपर्युक्त विभिन्न कारणों से जहाँ जातियों के प्रकार और प्रश में बड़ी वृद्धि हो गई थी वहीं इसमें निम्नलिखित कारणों ने भी विशेष योग दिया-

(१) क्षेत्रीय विभाजन के आधार पर जातियों की संख्या में अभिवृ हुई यथा गौड़ ब्राह्मण; कनौजिया ब्राह्मण; महाराष्ट्री ब्राह्मण; बंगाली ब्राह्म आदि।

(२) विभिन्न वैदिक शाखाओं के मानने के कारण विभिन्न जातियों का प्रा भाव हुआ यथा; ऋग्वेदीय शाखा, यजुर्वेदीय शाखा, सामवेदीय शाखा, अथर्ववेदी शाखा, चरकशाखा आदि।

(३) उपास्य देवताओं के भेद के कारण भी जातियों में अन्तर आ गया, य शैव, वैष्णव आदि।

(४) व्यावसायिक विभेद के कारण भी जातियों में विभिन्नता बनी रही, यथा बालसिख, केवट आदि।

(५) जाति संबधी नियमों में एकरूपता के अभाव तथा समुचित व्यवस्था का योजना में कमी के कारण भी इसमें वैभिन्यता आ गई। इसीलिए स्मृतिकारों हमारे यहाँ यह कहा है कि राजा को वैवाहिक सम्बन्धों के विषय में नियन्त्रण रख चाहिए।

(६) अछूत की भावना जो अब तक केवल शूद्रों के सम्बन्ध में ही व्याप्त

थी अब निम्न व्यवसाय करने वाले सम्पूर्ण जातियों के लिए व्याप्त हो गई। इससे बहुत सी उपजातियाँ भी बनीं।

जाति प्रथा से लाभ

इस प्रथा के द्वारा जहाँ आज का विश्व चिल्ला रहा है कि बड़ी सामाजिक बाधाएँ उत्पन्न हो गई हैं वहीं इस प्रथा में बहुत से लाभ भी समाज को मिले हैं। प्रत्येक जाति को एक अपनी सभा होती है, उनका एक अपना संगठन होता है जो अपनी धार्मिक सीमाएँ निर्धारित करती हैं और अपने जाति वालों को एक समुचित एवं सुनिश्चित सामाजिक बंधन में बाँधने का प्रयास करती हैं जिससे सामाजिक नियमितता बनी रहती है। पुनः समाज का समरूप और सर्वांगीण विकास इन्हीं जातियों द्वारा सम्भव हो सकता है। यह जातियाँ अलग-अलग अंगों का पोषण उनकी अलग-अलग रीति से करती हैं। इसके द्वारा विभिन्न प्रकार के सामाजिक क्रिया-व्यापार कुशलतापूर्वक उन्नति करते हुए सम्पूर्ण के विकास में योग दान करते हैं। यह सम्पूर्ण समाज रूपी इकाई की उन्नति के लिए सम्मिलित निकायों का रूप धारण करती हैं। पुनः विभिन्न प्रकार के व्यवसायों का संरक्षण आज अपनी वास्तविक स्थिति में इन्हीं जातियों के ही कारण है। जातियों में व्यवसाय पैत्रिक होता है। इसे सीखने के लिए यहाँ समय और परिश्रम की बचत होती है तथा इसके जीवित रहने के लिए परम्परागत वातावरण भी बना रहता है। बहुत सा व्यवसाय जैसे लोहार का, सुनार का आदि अपनी पूर्व परम्परागत स्वरूप में चला आ रहा है। चौथा लाभ इनके द्वारा यह है भारत में आज भी लघु उद्योग-धंधों का वही स्वरूप वर्तमान है जो पहले था कि भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या भारत के लिए लघु-उद्योग-धंधों के अभाव में आज से कहीं अधिक और अभिशाप बन गई होती। बहुत सी ऐसी कलाएँ तथा व्यवसाय आज भी समाज में जीवित हैं जिनको केवल लघु उद्योग के आधार पर ही जीवित रखा जा सकता है। पाँचवाँ विशेष लाभ इस प्रथा का है कि रक्त शुद्धता को बनाए रखने में यह बहुत हद तक सफल हो सकती है। रक्त विकृति विवाह के ही द्वारा होती है। जातियों में अन्तर जातीय विवाह को बहुत निकृष्ट माना गया है, अतएव रक्त शुद्धता इनसे समाज में बनी है। छठवाँ इसने समाज पर होने वाले बाह्य आक्रमणों से संरक्षण करने का श्रेय प्रदान किया है। जितने भी विदेशी आक्रमणकारी भारत पर आक्रमण करते हुए आए उन्होंने अपना सामाजिक स्वरूप भारत को देना चाहा। पर भारत की छोटी-छोटी जातीय टुकड़ियाँ इतनी अधिक इस ओर सचेष्ट हो गई थीं कि इनको कोई भी प्रभाव प्रभावित नहीं कर सका।

इस प्रकार जाति प्रथा द्वारा उपर्युक्त कुछ लाभ हुए जो सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बड़े महत्व के हैं।

जाति प्रथा से हानियाँ

जब हम जाति प्रथा के दूसरे पक्ष को लेते हैं जिसे आज का समान समाज के अवनति का कारण बताता है तो यह स्पष्ट होता है कि इसका कलुषित पक्ष भी है। इसलिए इसकी हानियों से भी अवगत होना हम धर्म है।

सबसे पहली हानि इस व्यवस्था द्वारा यह है कि इसने सामाजिक को इतना अधिक विघटित कर दिया है, अपने छोटे-छोटे टुकड़ों के कारण सामाजिक एकता की बात भ्रामक सी लगती है। इसके अतिरिक्त इसने वर्णित कारणों के सहारे ३,००० के लगभग उपजातियों को भी स्थान दिया। कटुता इतनी बढ़ती गई कि आज राष्ट्रीय एकता, सामाजिक एकता, चा एवं धार्मिक एकता पूर्णतया लुप्त हो गई है।

दूसरी परिस्थिति तब उत्पन्न हुई जब जाति व्यवस्था के अन्दर आवान्तर भेद उत्पन्न होने लगे। इनमें का प्रमुख भेद बना स्पृश्य और अ इस विभेद के कारण इकाई के रूप में एकता रखना सम्भव न हो सका। अशक्त पक्ष पर सदा विदेशी जातियों ने व्याघात कर अपनी संख्या को बढ़ा प्रयास किया है।

तीसरी हानि तब उत्पन्न हुई जब विभिन्न जातियाँ अपनी दबी और जाने वाली प्रवृत्ति के उद्बोधनार्थ प्रदर्शन करना आरम्भ कर दिया। इसके वाह्य एकता का भेद खुल गया क्योंकि निम्न जातियों के प्रति अनेक प्रकार की नाएँ कुचलने के लिए उच्च जाति वाले मानव सुलभ प्रकृति के कारण सदा रहे हैं।

पुनः कार्य निश्चिन्तता के कारण व्यक्तित्व का समुचित विकास जा सहारे सम्भव नहीं हो सका। व्यवसायगत एकता रखने के लिए जन्मजात इसे बनाया गया, अतएव वह व्यक्ति जिनमें दूसरी जातियों का गुण प्राप्य था यथेष्ट विकास नहीं कर सकते।

अन्त में जहाँ एक ओर सम्पूर्ण मानव मात्र यह चिल्ला रहा है कि एकरूपता, तदात्मकता स्थापित हो वहीं दूसरी ओर सारा भारत विभेद देता है। वास्तव में यह इसके दुर्भाग्य का ही परिणाम है।

इस प्रकार जातियाँ यद्यपि लाभपरक दृष्टिकोण से ही बनाई गई थीं इनके दूषणों ने इस व्यवस्था को कलुषित कर दिया।

२. संकर जाति

अर्थ

सृष्टि से संबन्धित तीन देवताओं का नाम लिया जाता है। ब्रह्मा, जिनका कार्य सृजन करना है, विष्णु जिनका कार्य रक्षा करना अथवा पोषण करना है तथा महेश जिनका कार्य विनाश करना है। इन्हीं महेश का दूसरा नाम शंकर है। इस प्रकार शंकर का कार्य मूलरूप से विनाशक है परन्तु पीछे रक्षा का भी कार्य इनके हाथ सौंप दिया गया। "मनु" ने केवल चार प्रकार के वर्णों का ही उल्लेख किया है और कहते हैं कि कोई पाँचवाँ वर्ण नहीं होता है। पर उन्होंने एक विशेष प्रकार के सामाजिक संगठन का भी उल्लेख किया है जिसका नाम संकर जाति रखा है। संकर का अर्थ है विनष्ट, इसलिए संकर जाति से अर्थ उस जाति से है जिसका उद्भव विनष्ट रूप में हुआ हो अर्थात् जिसमें जातीय शुद्धता न हो। दूसरे शास्त्रकारों ने इसका नाम वर्णसंकर रखा है। इसका भी अर्थ वही है वर्णों का विनष्ट स्वरूप। अब मनु तथा दूसरों में अथवा संकर जाति और वर्णसंकर के प्रयोग में अन्तर इतना ही है कि पहला परिणाम को लेकर नामकरण करता है और दूसरा उत्पत्ति के स्रोत को लेकर नामकरण करता है। इतना तो स्पष्ट ही है कि विनाश का यहाँ अर्थ है अशुद्धता। यह जातीय अशुद्धता पितरों में हुए असवर्ण वैवाहिक सम्बन्ध से आती है। नारद के अनुसार जो संतति वर्णों के प्रतिलोम सम्पर्क के कारण जन्म लेती है वही वर्णसंकर कहलाती है। वृहस्पति ने कल्पतरु को उद्धृत करते हुए लिखा है कि अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के सहयोग द्वारा उद्भूत जातियाँ वर्णसंकर कहलाती हैं। यही विचार मिताक्षरा से भी स्पष्ट है। मनु ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इसकी व्याख्या की है। उनके अनुसार जब एक वर्ण का पुरुष दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता है और इसके द्वारा जिस संतति का जन्म होता है वही वर्णसंकर कहलाती है।

उत्पत्ति के कारण

जब वर्णसंकर की उत्पत्ति के कारणों पर हम विचार करते हैं तो यह बात पहले ही स्पष्ट हो जाती है कि मूलरूप में असवर्ण सहयोग ही एक मात्र वह कारण है जिसके द्वारा उत्पन्न संतति वर्णसंकर कहलाती है। यह स्पष्ट हो जाने के बाद यहाँ केवल इतना मात्र अध्ययन करना अवशेष रह जाता है कि वह कौन से कारण हैं जिनके द्वारा असवर्ण सम्बन्ध स्त्री-पुरुष में स्थापित होते हैं। यही कारण वर्णसंकर की उत्पत्ति के कारण अन्ततोगत्वा कहे जा सकते हैं। इसलिए अब यहाँ हम विशेष रूप से असवर्ण वैवाहिक सम्पर्क का अध्ययन करेंगे।

इस दिशा में पहला कारण है विदेशी सम्पर्क। भारत का विदेशी सम्पर्क इतना घनिष्ठ हो गया था कि विदेशी और भारतीय एक में घुलने-मिलने लगे थे। विदेशियों से भारतीयों ने तथा भारतीयों से विदेशियों नें वैवाहित सम्बन्ध स्थापित करना प्रारम्भ किया। इसके अनेकों उदाहरणों का उल्लेख धर्म परिवर्तन एवं पुनः गमन के अध्याय में किया गया है। इस विदेशी और भारतीय सहयोग के स्थापित के दो कारण विद्यमान थे। पहला कारण यह था कि भारत प्रारम्भ से ही सम्पन्न देश था अतएव विदेशी यहाँ व्यापारिक दृष्टिकोण से आते रहते थे जिसमें कुछ यहीं बस गए और अपना परिवार बना लिए। दूसरे भारत की सम्पत्ति और वैभव से आकृष्ट विभिन्न विदेशी जातियाँ समय-समय पर भारत पर आक्रमण करती रहीं और भारत में बसीं जो यहाँ ही विवाह सम्बन्ध स्थापित कर इस की मिट्टी में आज भी पड़ी हैं। इस प्रकार विदेशियों से सम्बन्धित वैवाहिक सम्बन्ध केवल असवर्ण ही नहीं परन्तु इससे भी कुछ अलग था। अतएव इस सम्पर्क से उद्भूत संतति को किस वर्ण में किया जाय कहना कठिन हो गया? इसलिए इसे वर्ण बहिष्कृत मानकर संकर जाति में स्वीकार किया गया।

भारत एक व्यापक देश है जहाँ अपने ही निवासी समय-समय पर ही नहीं परन्तु स्थान-स्थान पर भी सदा अपनी परम्परागत मर्यादाएँ तोड़ते रहे। यहाँ कुल विवाह की जो परम्परा समाज में व्याप्त थी उसके साथ ही अन्तर विवाह प्रथा भी प्रचलित हुई। इसमें दो असवर्ण का सम्पर्क स्थापित होने लगा जिसे अनुलोम तथा प्रतिलोम की संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार के असवर्ण सम्पर्क की संतति को किस वर्ण में किया जाय? इसलिए इसे वर्णसंकर की कोटि में रखा गया।

पर वैवाहिक कारण के साथ ही लगा एक तीसरा भी कारण है जिसे किसी न किसी प्रकार इसी से सम्बन्धित कह सकते हैं। इस समय या सदा से भारतीय शुद्धता के प्रति अपना दृष्टिकोण संकुचित रखते हैं। वह किसी प्रकार जातीय शुद्धता को नहीं खो सकते। अतएव रक्त सुम्बन्धी शुद्धता की कठोर वृत्ति ने सामाजिक विभेद जातिजन्म उपस्थित करने का कारण लेकर इस प्रथा को जन्म दिया।

उत्पत्ति के सिद्धान्त

महाभारत से इस विषय पर बहुत प्रकाश मिलता है। शान्तिपर्व में महाराज जनक ने पूछा है कि जब सम्पूर्ण प्राणी केवल उसी एक के कारण संसार में जन्म लेते हैं तो फिर इनमें इतना अन्तर क्यों है? पराशर ने इनके प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से यह कथन उपयुक्त है कि जिससे संतति का जन्म होता है उसी की वह सन्तति होती है दूसरे की नहीं हो सकती, इसीलिए उत्पन्न करने वाले के अनुरूप ही संतति भी होगी।

जब कभी ऐसी परिस्थिति आवे जहाँ बीज और भूमि दोनों ही उत्पादक की अपेक्षा हेय हों तो यह भी स्वाभाविक है कि उत्पादक के अनुरूप संतति नहीं हो सकती। इसीलिए यद्यपि पिता के अनुरूप ही ब्रह्मा की कृपा से संतति होती है परन्तु फिर भी मातृ पक्ष में पितृ पक्ष की अपेक्षा हीनता रहने पर संतति में अन्तर होना स्वाभाविक है और सत्य है। उन्होंने इसके आगे कहा कि चार वर्णों की ही उत्पत्ति ब्रह्मा ने केवल की। परन्तु इन चारों वर्णों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होने के कारण चारों वर्णों से इतर जातियाँ उत्पन्न हुईं। इस प्रकार की मिश्रित जाति की तालिका में चौदह जातियों का उन्होंने उल्लेख किया है।

पुनः महाभारत में ही चारों वर्णों का विवाह अपने ही सवर्ण में करने का विधान किया गया है। भीष्म ने इसे स्वीकार करते हुए यह भी कहा है कि कोई भी वर्ण अपने से नीचे के वर्ण की लड़की से विवाह कर सकता है। इस प्रकार के संम्बन्ध के कारण उत्पन्न सन्तति पिता के ही वर्ण की होती है। परन्तु यदि पिता के वर्ण से ठीक नीचे नहीं पर उसके बाद के वर्ण की स्त्री से जिस संतति का जन्म होता है वह विशेष निम्न कुल का होने के कारण मातृ वर्ण की ही मानी जाती है। पर जो पुरुष अपने से ऊँचे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता है उससे उत्पन्न सन्तति चारों वर्णों से इतर मानी जाती है। इस प्रकार यही वैवाहिक संबंध विभिन्न उपजातियों के जन्म का कारण बन सकी।

मनु जो भारतीय समाज शास्त्र के एक अधिकारी प्रमाण हैं उन्होंने भी इस समस्या पर विचार करते हुए कहा है कि जब सवर्ण विवाह हो तो उसकी संतति पिता के वर्ण की होती है। पर यदि स्त्री पति से ठीक नीचे के वर्ण की हो तब भी यद्यपि वह संतान पिता के ही वर्ण की मानी जाती है परन्तु उसकी माता का वर्ण चूंकि पिता के वर्ण से थोड़ा सा नीचा होता है इसलिए बालक का वर्ण भी पिता के वर्ण से कुछ हीन हो जाता है। पर इस प्रकार के विवाह में वास्तविक रक्त मिश्रण नहीं होता। वास्तविक मिश्रण तो वहाँ होता है जब माता का वर्ण पिता के वर्ण से दो-तीन सोपान नीचे हो। इसीलिए ब्राह्मण पिता और वैश्य माता के द्वारा प्रजनित संतान अम्बष्ट कहा जाता है तथा ब्राह्मण पिता और शूद्र माता द्वारा प्रजनित संतान निशाद कहा जाता है। पुनः उन्होंने यह भी कहा कि प्रतिलोम विवाह के कारण जो मिश्रित रक्त सम्बन्धित पुत्र उत्पन्न होता है वह भी वर्ण बहिष्कृत होता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने उल्लेख किया है कि क्षत्री पुरुष तथा ब्राह्मणी स्त्री के संयोग से उत्पन्न पुत्र सूत कहलाता है, वैश्य पुरुष तथा क्षत्राणी से उत्पन्न सन्तति मागध कहलाती है, पुनः वैश्य पुरुष तथा ब्राह्मणी स्त्री से उत्पन्न सन्तान विदेह कहलाती है आदि। तीसरी बात मनु ने इस सम्बन्ध में यह कहा है कि इन नवीन जातियों में पुनः अन्तर विवाह के कारण नवीन प्रकार की विभिन्न उप-

जातियों का जन्म हुआ यथा करण+वैश्या=तक्षक, तक्षक+वैश्या=चर्मकार आ इस प्रकार इन सम्पूर्ण रीतियों से उत्पन्न उपजातियों को मनु ने संकर जाति म है और इस प्रकार की संकर जातियों की संख्या उन्होंने सत्तावन बताया है।

परन्तु यहाँ एक कठिनाई है कि विभिन्न लेखकों द्वारा एक ही प्रकार की सं को भिन्न नामों से पुकारा गया है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ एक उदाहरण सकते हैं कि ब्राह्मण पिता और क्षत्राणी माता--की संतान को बौद्धायन ने ब्राह बताया है, शंखलिखित ने क्षत्री, गौतम ने अवष्ट याज्ञवल्क ने मूर्धाविषिक्त आ इसका कारण यह है कि निकृष्ट स्थिति होने के कारण विभिन्न धर्माधिकारियों अपनी रुचि के अनुसार इनका विभिन्न नामकरण किया है। इसके साथ ही हम भी पाते हैं कि जहाँ इस प्रकार की संतानें जाकर बस गई उस स्थान का इनके नाम के पीछे रख दिया गया जैसे मगध, विदेह आदि।

शुक्रनीति ने इसी से मिलता जुलता एक दूसरा सिद्धान्त प्रतिपादित कि है। इनके अनुसार ब्राह्मण तथा क्षत्राणी द्वारा उत्पन्न पुत्र ही केवल ब्राह्मण जा सकता है पर दूसरे अनुलोम सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र शूद्र की कोटि में परिग किया जाता है। परन्तु प्रतिलोम विवाह के द्वारा उत्पन्न पुत्र नवीन जाति में गणित किया जाता है जिसे संकर जाति कहते हैं। इसी प्रकार का मत गौतम भी है।

इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार समाज में संकर जातियों का इ अधिक बाहुल्य हुआ। इनके साथ वही कठोर व्यवहार किया जाता था जिसका व वर्ण व्यवस्था के अध्याय में शूद्र के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

---o---

अध्याय ६

आश्रम व्यवस्था

पहले ही हमने वर्ण व्यवस्था का विवेचन करते हुए आश्रम व्यवस्था की ओर संकेत किया है। जिस प्रकार मानव का विकास बिना उसके सामाजिक सम्पर्क के नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना व्यक्तिगत जीवन के क्रमिक सोपानों को निर्धारित किए तथा उन पर भली प्रकार चले व्यक्ति का अपना विकास भी नहीं हो सकता। व्यक्ति के यह दो पक्ष होते हैं: एक वह जिसमें वह समाज के सम्पर्क में सामाजिक प्राणी के रूप में रहता है, दूसरा वह जिसमें वह केवल अपने तक ही सीमित होकर रहता है। यह दोनों ही पक्ष उसके लिए आवश्यक हैं। बिना एक के दूसरे का विकास सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि एक ही पर आधारित रहने से चाहे तो वह अपना अस्तित्व खो बैठता है अथवा पूर्ण स्वार्थी हो जाता है। इसीलिए इस विकास के दोनों क्रमों का अध्ययन आवश्यक है। एक पक्ष का अध्ययन जिसे वर्ण की संज्ञा में सम्बोधित करते हैं जिसमें व्यक्ति सामाजिक विकास की ओर झुका होता है ऊपर वर्णन किया जा चुका है। दूसरा पक्ष जिसमें व्यक्ति, स्व की दृष्टि से विकास करता हुआ आगे बढ़ता है, आश्रम कहलाता है।

अर्थ

आश्रम से क्या अभिप्राय है? इस समस्या पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि इस शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रम' धातु से हुई जिसका अर्थ है परिश्रम करना। इस प्रकार आश्रम शब्द से हमारा अभिप्राय है जीवन के ऐसे स्तरों से जहाँ क्रमशः मनुष्य परिश्रम करता रहता है अथवा उन क्रियाओं से जहाँ इस प्रकार श्रम किया जाय। अर्थात् जीवन के विभिन्न स्थलों को प्रत्येक भारतीय कर्मभूमि स्वीकार करता है। शाब्दिक रूप में आश्रम का अर्थ है 'विश्राम का स्थान'। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था से अभिप्राय उस व्यवस्था से है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के जीवन यात्रा में कुछ निश्चित सोपान बने होते हैं जहाँ उसे एक निश्चित प्रकार का कार्य करना पड़ता है। पर एक प्रकार के कार्य करने की एक नियत अवधि होती है जिससे इसी जीवन यात्रा में प्रत्येक प्रकार के कार्य वह करता हुआ मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के योग्य बन जाता है। इसीलिए महाभारत में वेदव्यास ने कहा है कि जीवन के चार आश्रम चार विकास की सीढ़ियाँ हैं जिनसे जीवन यात्रा में मानव ऊपर चढ़ता हुआ ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। यही प्रत्येक भारतीय के जीवन की चरम कामना होती है।

आधार

अर्थ से परिचित होने के बाद यह दूसरी आवश्यक बात है कि हम इसका निश्चय करें कि क्यों इस व्यवस्था का विचार हिन्दू विचारकों के मन में उठा? हिन्दू जीवन की व्यवस्था करते हुए हमने देखा कि प्रत्येक हिन्दू का जीवन चार पुरुषार्थों में बँटा होता है। और स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम कह सकते हैं कि भारतीय विचार में मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाएँ चार भागों में विभक्त होती हैं। इन्हीं सम्पूर्ण की पूर्ति के बाद ही वह पूर्ण बन पाता है। यह चत्वारि पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष जिनके सम्बन्ध में हम अलग से एक अध्याय में विचार कर चुके हैं। पर यहाँ इतना संकेत मात्र कर देना आवश्यक है कि सम्पूर्ण पुरुषार्थों की पूर्ति के लिए ही लोगों के मन में इस प्रकार का भाव उठा कि पूरे जीवन के चार क्रमों में बाँट दिया जाय जिससे एक-एक क्रम में अगले एक अथवा दो पुरुषार्थों की पूर्ति होती चले तथा पिछले जिनकी पूर्ति की जा चुकी है उनका व्यावहारिक प्रयोग भी होता चले। जैसे गृहस्थाश्रम में, धर्म, जिसकी साधना ब्रह्मचर्य्य में ही की जा चुकी है, उसका व्यावहारिक प्रयोग प्रायोगिक जीवन में किया जाय तथा काम एवं अर्थ की साधना भी की जाय। अतएव श्रम व्यवस्था का पहला आधार है पुरुषार्थ।

दूसरा इस व्यवस्था का आधार प्रतीत होता है तीन ऋण। इनकी भी चर्चा हिन्दू जीवन के सम्बन्ध में ऊपर ही की जा चुकी है। हम किसी को ऋण देते हैं तो उसके साथ हमारे प्रति कृतज्ञता का बोझ भी उस पर चढ़ जाता है उसी प्रकार हमारा शरीर, विभिन्न प्राकृतिक एवं दैवीय जिनमें कुछ आधिदैवीय साधन भी हैं विभिन्न सुविधाएँ प्राप्त करता है। जिनसे भी हमें सुविधाएँ मिलती हैं उनके प्रति कृतज्ञता का भाव मन में उठ जाता है। इसी कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए हमारे ऋषियों ने ऋण का विधान बनाया। चूँकि हमारा सम्पूर्ण जीवन सदा विभिन्न सुविधाएँ विभिन्न साधनों से पाता रहता है पर एक विशिष्ट समय एक ही साधन द्वारा प्रदत्त सुविधाओं की महत्ता इसमें रहती है। इसीलिए जीवन को इन चार निश्चित सोपानों में बाँटा गया जिसमें एक का सम्बन्ध समाज से नहीं है। अब शेष तीन का कार्य है तीन ऋणों से जितना अधिक से अधिक सम्भव हो सके लाभ उठाना। साधारण जीवन में एक बुद्धिजीवी अधिक सुविधा की प्राप्ति के लिए ऋण लेता है। उसी प्रकार अधिक से अधिक सुविधाएँ हम इन ऋणों से उठा सकें हमारा जीवन ऋणों के क्रम में आश्रमों में बाँट दिया गया है। यह ऋण है देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण। कभी-कभी कुछ विचारक अतिथि ऋण को भी इसमें जोड़ देते हैं पर इसका उतना अधिक महत्व नहीं है क्योंकि यह तो सभी में किसी न किसी प्रकार सन्निहित है।

तीसरा आधार यज्ञ है। हम ऋण लेकर शान्तिपूर्वक नहीं रह सकते क्योंकि

ऋण लेकर शान्तिपूर्ण रहना अधर्म है। उस ऋण का सूद के साथ भुगतान करना पड़ता है अन्यथा हम पाप एवं दोष के भागी होते हैं। ठीक उसी प्रकार हमारे जीवन में जो तीन ऋण पड़े हैं उन्हीं का भुगतान हम यज्ञों द्वारा करते हैं। चूंकि ऊपर ही हमने देखा कि जीवन के एक विशिष्ट समय में एक विशेष प्रकार का ऋण पड़ा होता है उसी का भुगतान करना मानव का धर्म है। यहाँ अधिक अंश की बात इसलिए की गई है कि सामान्य रूप से पूरे जीवन भर एक सामान्य मानव अपनी योग्यता भर सभी ऋणों का किसी न किसी मात्रा में भुगतान करता रहता है। पर इसके साथ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सम्पूर्ण आश्रमों में एकमात्र गृहस्थ आश्रम ही ऐसा आश्रम है जहाँ मनुष्य की कर्म भूमि होती है, अतएव अन्य भागों की अपेक्षा सभी ऋणों को वह यहाँ पुनः ग्रहण करता है तथा सभी से उऋण होने के लिए यज्ञ करता है। पर विशिष्ट रूप में एक समय एक विशिष्ट ऋण हम प्राप्त करते हैं उसी समय उसका भुगतान भी करते हैं जैसे ऋषि ऋण में हम ऋषियों द्वारा संचित विद्या का अक्षुण्ण भण्डार अपने ज्ञान वर्धन के लिए प्राप्त करते हैं। उसी समय अपनी मेधा की प्रखरता से अपने नीचे के विद्यार्थियों को उसे पढ़ाते हैं, उस पर अपना निर्णय स्थापित करते हैं। इस प्रकार उसी समय उसका समुचित भुगतान करते हैं। भले ही आगे भी हम भुगतान करते रहते हैं यह दूसरी बात है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था यज्ञों के लिए भी बनाई गई।

इस प्रकार सम्भवतः इन्हीं आधारों पर पूरी आश्रम व्यवस्था आधारित है।

महत्व

अब यदि हम इस व्यवस्था के महत्व पर विचार करें तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि इसका सर्वोपरि महत्व है कि मानव का क्रमागत विकास इस क्रम से हो कि वह पुरुषार्थों की उपयुक्त साधना करते हुए, ऋणों का समुचित लाभ उठाते हुए, तथा जीवन के यज्ञों को करते हुए, मोक्ष की प्राप्ति कर सकें। वास्तव में मनुष्य तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता जब तक उसकी चित्तवृत्तियाँ शान्त न हों। यह शान्ति उसे तभी मिल सकती है जब उसे कोई इच्छा न रह गई हो। इस केन्द्र तक पहुँचने के लिए कि प्रत्येक इच्छा की पूर्ति हो जाय मनुष्य को आवयश्क है कि सम्पूर्ण पुरुषार्थों को भली प्रकार साधे, ऋणों का अधिकतम उपयोग करे एवं ऋणों से उऋण होने के लिए यज्ञ करे।

इसके साथ दूसरा महत्व इस व्यवस्था का है कि इसके द्वारा मनुष्य बिना किसी व्यतिक्रम का अनुभव किए पूर्ण मनोवैज्ञानिक क्रम से अपना विकास कर सकता है। धर्म ही जीवन का वह सार है जिससे सारी क्रियाएँ इस प्रकार संतुलित की जा सकती हैं कि वह एक समुचित व्यवस्था की ओर निर्दिष्ट हों। इसीलिए सबसे पहले ब्रह्मचर्य आश्रम को स्थान दिया गया है जहाँ वह धर्म से परिचित हो। इसका लक्ष्य

है कि वह अन्त में ब्रह्ममय हो जाय, अतएव वानप्रस्थ में उसके लिए उसे उद्यत कराते हैं और संन्यास में वह उसी आदर्श पथ पर बढ़ चलता है।

यही वह व्यवस्था है जो मनुष्य को एक व्यवस्था प्रदान करती है जिसमें वह जीवन की एक-एक आवश्यकता धर्म-अर्थ काम आदि की साधना एक-एक सोपान में करती चलती है। इस प्रकार सोपानों के द्वारा यह साधना पूर्ण-पुष्ट एवं प्रामाणिक होती है।

इसमें क्रम इस दृष्टि से बनाया गया है कि एक के ज्ञान का व्यावहारिक मार्ग अथवा प्रयोग दूसरे में कर लिया जाय जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम में हम धर्म की साधना करते हैं। आगे के गृहस्थाश्रम में जो भी हम कार्य करते हैं वह धर्म पर आधारित होकर ही। इस प्रकार प्रत्येक अगला क्रम पिछले क्रम से पूर्णतया मिला होता है।

इसी के द्वारा मनुष्य के जीवन की आवश्यकताएँ एक नियत क्रम से पूर्ण होती है अन्यथा उनकी पूर्ति स्वाभाविक और सरल नहीं होती। उदाहरण के लिए पहली आवश्यकता है ज्ञान और शरीर, पुनः दूसरी आवश्यकता है विवाह। यदि विवाह पहला मान लें तो ज्ञान और शरीर दोनों का कोई स्थान ही नहीं रह जायगा। मानव इतना अधिक गृह प्रपंचों में फँस जायगा कि वह इनकी ओर ध्यान ही नहीं दे सकता। इसलिए क्रम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जैसे मनोवैज्ञानिक विकास के लिए। यह दोनों ही जीवन के दो पहलू हैं। आवश्यकताओं का क्रम समाजगत है और मानस का क्रम पूर्ण वैयक्तिक है।

इस प्रकार एक नहीं अनेक महत्व इस व्यवस्था से सम्बद्ध हैं।

प्रकार

ऊपर हमने समय से ब्रह्मचर्याश्रम एवं गृहस्थाश्रम शब्द का प्रयोग किया है। इसको देख कर एक सामान्य पाठक के मन में यह विचार अवश्य उठता होगा कि यह क्या हैं? इस सम्बन्ध में यहाँ यह निर्देषित करना परम आवश्यक है कि यह आश्रम के प्रकार हैं। तो क्या यही दो प्रकार के आश्रम हैं? ऐसी बात नहीं है। हमने आश्रम के आधार में ही पुरुषार्थ को आधार बताते हुए यह कहा है कि प्रत्येक पुरुषार्थ की साधना एक अलग आश्रम में होता है कुछ अपवाद के साथ वह है अर्थ और काम क्योंकि दोनों की साधना एक ही आश्रम में होती है। इस प्रकार चार पुरुषार्थों की तरह चार आश्रम भी हैं। यह चारों आश्रम है: ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।[1] विद्याध्ययन की अवस्था को ब्रह्मचर्य कहते हैं; विवाह करने तथा वैवाहिक जीवन व्यतीत करने की अवस्था को गृहस्थ कहते हैं; संसार से विरक्ति

१ अधिकतर वानप्रस्थ को वाणप्रस्थ तथा संन्यास को संयास लिखा जाता है जो दोनों ही गलत हैं।

लेकर अलग रहने की स्थिति को वानप्रस्थ कहते हैं तथा विरक्ति के बाद जब मन ईश्वर में रम जाता है तो संसार छोड़ देने की स्थिति को संन्यास कहते हैं।

ऐतिहासिक क्रम

ऋग्वैदिक काल में पूर्ण स्वतन्त्र एवं खुला समाज था। किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत अथवा सामाजिक भेद नहीं था। इसी प्रकार वैदिकोत्तर काल में भी इस प्रकार की किसी व्यवस्था का ज्ञान नहीं होता। परन्तु डाक्टर अल्टेकर ने अपने व्याख्यान में एक बार यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मुनि आदि शब्द वैदिक साहित्य में बहुत पुरातन काल से ही प्रचलित हैं। अथर्व वेद में इस शब्द का प्रयोग कई बार आया है। यह संन्यास आश्रम का द्योतक है। वास्तव में विभाजन का प्रारूप भले ही इस समय नहीं बना था फिर भी यह कहना कि लोगों को जीवन के क्रम से ज्ञान नहीं था समुचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि बहुत से 'विवाह' के अध्याय में ऐसे उद्धरणों पर विचार किया जायगा जो यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल में अवस्था प्राप्त विवाह होता था। उस समय नवागन्तुक वर और वधु के हाथ में ही परिवार की सारी व्यवस्था सौंप दी जाती थी। इसके पूर्व बालक शिक्षा प्राप्त करते थे। साथ ही मुनि शब्द का प्रयोग संन्यास का द्योतक है। अतएव तीनों आश्रमों का ज्ञान क्रम से होता है। यह बात दूसरी है कि इसका न कोई निश्चित प्रारूप था न किसी तत्कालीन अन्य साक्ष्य में ही उल्लेख है। इसी से साधारणतया विद्वानों की यह धारणा है कि इस व्यवस्था का जन्म पीछे हुआ। पर यह धारणा प्रत्यक्ष गलत सिद्ध होती है क्योंकि व्यवहार जगत में तथा विचारों में जहाँ इसका स्थान था वहीं सिद्धान्तों में एवं व्यवस्था में इसका कोई स्थान नहीं था। पुनः उपनिषद साहित्य में अचानक यह सिद्ध करता है कि इसके पूर्व वैदिक काल में लोगों के स्मृति में इसका विचार अवश्य विद्यमान था।

सातवें अखिल भारतीय पुरातन ज्ञान सम्मेलन (आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फरेंस) में जैसा निश्चय हुआ है तथा डा० मोदी ने जैसा वैदिक साहित्य की सूची में निर्देशित किया है छान्दोग्य उपनिषद के समय से इस व्यवस्था का पूर्ण प्रचलन हो चला था। इस उपनिषद के आधार पर उपर्युक्त विचारकों ने यह निश्चय किया कि इसमें गृहस्थ, तपा, आचार्यकुलवासी का उल्लेख है। इस प्रकार इस समय तीन आश्रम ही प्रचलित थे। पर डा० मोदी ने इसी संदर्भ में प्रयुक्त ब्रह्मसमस्ती शब्द को जहाँ विशेषण बताया है वहीं डा० रानाडे ने इसे सन्यास की स्थिति बताया है। स प्रकार रानाडे के अनुसार इस उपनिषद के समय से ही चारों आश्रम बन चुके थे। पर डा० मोदी ने इसका विरोध करते हुए कहा है कि मनु ने केवल तीन

हो आश्रमों का उल्लेख किया है[1] तथा कल्लूक ने भी मनुस्मृति की टीका करते हुए केवल तीन ही आश्रमों की स्थिति पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार ब्रह्मसमस्ती के विशेषण मानने पर केवल तीन ही आश्रमों का ज्ञान होता है।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यहाँ यह दिखाई पड़ती है कि पहले गृहस्थाश्रम का उल्लेख है तब वानप्रस्थ का और अन्त में ब्रह्मचर्याश्रम का। परन्तु इसके बाद जाबालि उपनिषद में क्रमिक रूप में चारों आश्रमों का उल्लेख किया गया है। इसमें सबसे पहले ब्रह्मचर्याश्रम का उल्लेख है, फिर गृहस्थाश्रम का तब वानप्रस्थ का और अन्त में संन्यास का। यही चार आश्रम हैं और यह उनका क्रमिक स्वरूप।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि आश्रम व्यवस्था का सैद्धान्तिक एवं व्यवस्थित स्वरूप उपनिषदों के रचना के समय से ही प्रारम्भ हुआ। परन्तु इसका स्वरूप मानस पटल में तो वैदिक काल से ही विद्यमान था।

अवस्था

इस विषय में बड़ा मतभेद है कि किस समय किस आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। गुण और कर्म के आधार पर ही चतुर्वण का विभाजन ऊपर हमने देखा है। इसीलिए प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग समय, अलग-अलग आश्रम विभिन्न विचारकों द्वारा बताया गया है। इस सम्बन्ध में यदि ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की बात ही हम लें तो ज्ञात होगा कि विचारकों के अनुसार पाँच वर्ष से सोलह वर्ष तक की आयु वर्ण के अनुसार एवं समय के अनुसार समय-समय पर नियत की जाती रही। एक विचारक के अनुसार ब्राह्मण के बालक को पाँच वर्ष पर, क्षत्रिय के बालक को आठ वर्ष और वैश्य के बालक को बारह वर्ष पर ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर गुरु गृह में प्रवेश करना चाहिए। दूसरे विचारक के अनुसार आठ वर्ष पर ब्राह्मण के पुत्र को बारह वर्ष पर क्षत्रिय के पुत्र को तथा सोलह वर्ष पर वैश्य के पुत्र को विद्याध्ययन प्रारम्भ करना चाहिए। इस प्रकार इस से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी आश्रम के लिए कोई पूर्ण नियत अवस्था नहीं थी। इसका कारण यह था कि प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि, वातावरण, कार्यक्षमता अलग-अलग होती है। कौन अपने एक आश्रम के कार्य कितने समय में समाप्त कर लेगा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

मनु ने इसीलिए कहा है कि गृहस्थाश्रम में बालकों को ब्रह्मचर्य समाप्त करने के बाद ही प्रविष्ट होना चाहिए। इस समय वह पूर्ण युवा अवस्था में रहता है। इसीलिए ब्रह्मचर्य अवस्था के समाप्त होते ही उसका विवाह कर दिया जाता है। वैवाहिक जीवन व्यतीत करते हुए जब युवक अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ अर्थ और काम की

---

१ एव ही त्रयो लोका. त एव त्रय आश्रमाः
त एव ही त्रयो वेदा, त एवोक्ता त्रयोऽग्नः। मनु० ii, २३०.

तृप्ति कर लेता है, ऋणों का अधिकतम उपयोग कर लेता है तथा उऋण होने के लिए यज्ञ कर लेता है, तब अवस्था गिरने पर जब उसके बाल सफेद होने लगें, शरीर में झुर्रियाँ आने लगें तो उसे वानप्रस्थ में प्रवेश करना चाहिए। इस प्रकार जीवन के अनुभवों को समाज में उसे तब तक देते हुए यज्ञों आदि क्रियाओं द्वारा अपने पर धीरे-धीरे अधिकार प्राप्त करना चाहिए। जब वह इसमें पूर्ण हो जाय तब उसे संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए।[1]

महर्षि वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में यह विवेचना की है कि सामान्य प्राणी की औसत आयु सौ वर्ष होती है। इसी सौ वर्ष में उसे चार जीवन के स्तरों का उपयोग करना होता है। अतएव इसको बराबर-बराबर चार भागों में विभक्त कर चारों आश्रमों की अवधि निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम के लिए पच्चीस वर्ष की अवस्था का निर्धारण हुआ है।[2] परन्तु आगे उन्होंने इसी संदर्भ में कहा है कि जीवन फिर भी अनिश्चित है, अतएव संन्यास आश्रम जिसका कोई सम्बन्ध इस संसार में नहीं है उसे छोड़ कर शेष आश्रमों के कार्य एक साथ जैसे ही सुविधा से वह सामने आते चलें उनका प्रयोग होता रहना चाहिये।

इस प्रकार साधारणतया वात्स्यायन की ही मान्यता को हम स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक आश्रमों की लगभग पच्चीस वर्ष की अवधि होनी चाहिए।

आश्रम धर्म

ऊपर हमने वर्ण धर्म की व्याख्या करते हुए देखा है कि धर्म से क्या अभिप्राय है। यहाँ धर्म से हमारा अभिप्राय इसके बाह्य रूप से नहीं है इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है क्योंकि किसी भी धार्मिक क्रिया (रेलीजस सरीमनी) का इसमें स्थान नहीं है पर कोरी व्यावहारिक क्रिया का स्थान है। व्यावहारिक औचित्य को भी धर्म की ही संज्ञा देते हैं क्योंकि धर्म के दो पक्ष हैं: श्रौत एवं स्मार्त। जैसे पुरुषार्थ में विवेचन किया जा चुका है। व्यावहारिक धर्म के अथवा औचित्यजन्य क्रिया को ही हम दूसरे शब्दों में धर्म कहते हैं। यहाँ इस धर्म से अभिप्राय है स्मार्त धर्म से। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम में मनुष्य को क्या करना चाहिए यही दूसरे शब्दों में आश्रम धर्म कहलाता है। इसी का अध्ययन अलग-अलग आश्रमों के सम्बन्ध में हम करेंगे।

१. ब्रह्मचर्य आश्रम

यह सर्वप्रथम आश्रम है। जन्म से प्रत्येक बालक शूद्र होता है पर जब उसका उपनयन संस्कार करा दिया जाता है तो वह द्विज बन जाता है। इस सम्बन्ध में यह भ्रम नहीं उत्पन्न होना चाहिए कि शूद्र को भी यदि उपनयन संस्कार से संस्कारित

१ मनुस्मृति, १--३३.।

२ कामसूत्र, i, ii, १—६.।

करा दिया जाय तो वह द्विज बन सकता है। इसका कारण यह है कि शूद्र क उपनयन संस्कार इसीलिए होता ही नहीं। इसलिए उपनयन संस्कार से यह आश्र प्रारम्भ होता है। अब बालक उपनयन संस्कार से संस्कारित होकर इस आ में तब तक जीवन व्यतीत करता रहता है जब तक वह विवाह संस्कार से पु संस्कारित नहीं हो जाता। क्योंकि जिस प्रकार उपनयन इस आश्रम का प्रारम्भ है उ प्रकार विवाह इसके बाद वाले गृहस्थ आश्रम का प्रारम्भ है।

अब यदि यह स्पष्ट हो जाय कि उपनयन संस्कार की आयु क्या निश्चि की गई है तो यह भी ज्ञात हो जायगा कि ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ किस आ से होता है। साधारणतया यही धारणा है कि ८ से १२ वर्ष के बीच में वैदि साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये। परन्तु इसी प्रकार अनिश्चित विक देकर हमारे शास्त्रकार शान्त नहीं हो जाते। वह आगे प्रत्येक वर्ण के लिए अल अलग आयु निर्धारित करते हैं। आठ वर्ष की आयु ब्राह्मण के बालक के लिए निर्धा रित की गई है, ११ वर्ष की आयु क्षत्रिय के बालक के लिए बताई गई तथा वैश्य के बालक के लिए १२ वर्ष की अवस्था निर्धारित की गई है। बा के गुण आधार पर बौद्धायन ने आठ से सोलह वर्ष की आयु इसके लिए निर्धारित कि है। पर पीछे धीरे-धीरे सुशिक्षित परिवार में पाँच वर्ष से ही इस संस्कार क किया जाने लगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामान्यतया ८ वर्ष की अवस्था बालक इस आश्रम में प्रवेश करता है।

इस आश्रम में बालक पूर्ण रूपेण गुरु की आज्ञाओं का पालन करता है, उ द्वारा निर्धारित आदर्शों को चरितार्थ करता है। यदि गुरु कोई गलती करता हो उसका कर्तव्य है कि एकान्त में गुरु जी का ध्यान उनकी गलतियों की ओर आ करे। पर पुरातन काल में यह आश्रम गुरुकुल अथवा गुरु गृहों में ही व्यतीत हो था क्योंकि गुरु लोग वहीं रहते थे और यह शिक्षा प्राप्त करने का आश्रम वहीं होता था। वहाँ विद्यार्थी को गुरु का बर्तन साफ करना होता था, कुटिया में लगाना होता था, दातौन की व्यवस्था करनी होती थी, गौ चरानी पड़ती थी भोजन के लिए जंगल से लकड़ी लानी पड़ती थी। इस प्रकार गुरु की व्यक्ति सेवा करनी पड़ती थी। उसको गुरु के बीमार पड़ने पर गुरु की सेवा-सुश्रूषा क पड़ती थी।

इस आश्रम में बालक अति प्रातःकाल उठते थे और अपनी दैनिक क्रिया निवृत्त होकर स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर गुरु का चरण स्पर्श कर प्रणाम करते उसके बाद पहले के पढ़े हुए पाठ को अधिकांश दुहराते थे। पुनः गुरु के चरणों में कर नवीन पाठ का अध्ययन करते थे। यह क्रम मध्याह्न तक चलता रहता था। बाद वह भोजन के लिए छुट्टी पाते थे। इस समय वह घूम-घूम कर पड़ोस के ग्राम भिक्षा द्वारा लाए हुए अन्न को गुरु के आश्रम में पकाते और भोजन करते थे।

४ दहों शान्तपर्व—

बाद तीसरे पहर तक विश्राम करते थे। पुनः तीसरे पहर से संध्याकाल तक अध्ययन का क्रम चलता रहता था। सूर्य डूबने के समय वह शारीरिक श्रम करते थे और रात्रि होने पर अग्नि यज्ञ करते थे और तब भोजन करके विश्राम करते थे। यही उनका ब्रह्मचर्याश्रम में दैनिक जीवन होता था।

उन्हें सुगंधित तेल लगाने, कंघी का प्रयोग करने, माला पहनने, मांस भक्षण करने, छाता लगाने, जूता पहनने, स्त्रियों के साथ स्नान करने की पूर्ण मनाही थी। इसका अभिप्राय यह था कि इस अवधि में उन्हें प्रत्येक प्रकार से आगे आने वाले कठोर जीवन को सहन करने योग्य बना दिया जाय। उन्हें ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना होता था, माता-पिता एवं बड़ों के प्रति आदर तथा आज्ञाकारिता का भाव रखना होता था। इसी समय उसे धर्म की साधना करनी होती थी तथा नैतिक आदर्शों का पालन करना पड़ता था।

इस प्रकार एक बालक को अपना ब्रह्मचर्य आश्रम व्यतीत करना होता था। इसके अन्त में समावर्तन समारोह होता था। उसके बाद वह इस आश्रम को छोड़ देता था।

२· गृहस्थाश्रम

गृहस्थ शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है कि वह आश्रम जिसमें घर-गृहस्थी का बोझ किसी पर आ जाय। गृहस्थ से अभिप्राय है उस व्यक्ति से जिसने विवाह करके अपना परिवार बना लिया हो। इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त कर प्रत्येक ब्रह्मचारिन जब पुनः गुरु गृह से समाज में लौटता था तो धर्म का प्रयोग करने के लिए तथा अपने पर पड़े हुए ऋणों से उऋण होने के लिए विवाह करता था क्योंकि हमारे यहाँ कहा गया है कि वह व्यक्ति अयज्ञ है जिसकी पत्नी नहीं है (अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः)। वह मोक्ष भी प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार विवाह संस्कार से ही व्यक्ति का घर बसता है और वहीं से उसका गृहस्थ जीवन भी प्रारम्भ होता था। इसीलिए यह कहा भी गया है कि––

'नागृहं गृहमित्याहुर गृहणी गृहं उच्यते।' (महाभारत शान्ति पर्व––१४४,६)

––अर्थात् कोरे घर को ही घर नहीं कहते पर गृहणी को ही घर कहते हैं। पुनः इसी प्रकार इसी ग्रंथ के इसी पर्व में यह भी कहा गया है कि––

पुत्रपौत्रवधूभृत्यरि आकीर्णं अपि सर्वतः।
भार्या हीनं गृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत्॥ (१४४, ५)

––अर्थात् पुत्र-पौत्र, वधू, भृत्य आदि सभी के भरे रहने पर भी स्त्री के न रहने पर घर शून्य ही रहता है। इसके आगे यह भी कहा गया है कि यदि किसी घर में पत्नी न हो तो उसमें रहना और जगल में अकेले घूमना दोनों ही समान है। यथा––

यस्य भार्यया गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी।
आरण्य मेव तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥ (१४४, १२-१७)

इस प्रकार यह सभी स्थल इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि गृहणी का अथवा विवाह का हमारे जीवन में विशेष महत्व है। इसलिए गृहस्थाश्रम का पहला कार्य है विवाह करना जिसके अभाव में मनुष्य का आधा जीवन शून्य रहता है।

विवाह करने का उद्देश्य क्या है? यदि यह स्पष्ट हो जाय तो पुनः इस तथ्य पर हम पहुँच जाते हैं कि गृहस्थ का दूसरा कार्य क्या है। विवाह का उद्देश्य है धर्म (यज्ञ) के लिए सम्पूर्ण बनना। ऊपर ही हमने देखा है कि मनुष्य इसके अभाव में न मोक्ष प्राप्त कर सकता है और न यज्ञ ही कर सकता है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम का दूसरा महत्वपूर्ण कर्तव्य है कि वह यज्ञ किया करे। यह यज्ञ क्यों किया जाता है? हमारा जीवन ऋणों से भरा होता है। हम ऋणों से भरे संसार में ही जन्म लेते हैं और उसके उऋण होने के लिए सदा यज्ञ करते रहते हैं। इसे ही पञ्चमहायज्ञ की संज्ञा दी जाती है। यह ऋण हैं देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण और कभी-कभी इनके साथ एक और ऋण भी जोड़ा जाता है जिसे अतिथि ऋण कहते हैं। देव ऋण से उऋण होने के लिए उसे नित्य घर में अग्नि जलानी पड़ती है जिससे विभिन्न देवताओं के प्रति उसे होम करना होता है। इसलिए यह देवता जल, वायु, प्रकाश, भूमि आदि के रूप में समय-समय पर और सदा हमें ऋणी बनाते रहते हैं। दूसरा ऋण है ऋषि ऋण। इसमें ऋषियों के हम ऋणी होते हैं क्योंकि उन्होंने ज्ञान का अनन्त एवं अक्षुण्ण भण्डार हमें प्रदान किया है। इनसे उऋण होने के लिए उन्हें सदैव स्मृति में बनाए रखना तथा अधिक से अधिक उनका प्रचार करना आदि के द्वारा ऋषि यज्ञ करना पड़ता है। पुनः पिता हमारा प्रजनन करते हैं, हमारा पालन-पोषण करते हैं तथा हमको शिक्षा देते हैं। इस प्रकार हम उनके भी ऋणी होते हैं। यही पितृ ऋण कहलाता है। इससे उऋण होने के लिए हमें उसी प्रकार एक पुत्र का प्रजनन करना पड़ता है, उसका पालन करना पड़ता है तथा उसके शिक्षा की व्यवस्था करनी होती है इसलिए कि इस ऋण से हम उऋण हो जायँ। इसे पितृ यज्ञ कहते हैं। इसके साथ ही बालक विद्याध्ययन करते समय भिक्षाटन करता है। उसमें वह पड़ोस के गाँव के लोगों का कृतज्ञ होता है। यह अतिथि ऋण है। इससे उऋण होने के लिए यह आवश्यक है कि जब कोई अतिथि उसके यहाँ आवे तो वह अपने पकाए हुए अन्न को पहले अतिथि को खिला दे और फिर पीछे आप खाय। जो ऐसा नहीं करता, केवल अपने ही लिए पकाता है वह विष का भोजन शास्त्रकारों के अनुसार करता है। यही अतिथि यज्ञ कहलाता है। इसी प्रकार का एक पाँचवाँ यज्ञ भी गृहस्थ को करना पड़ता है उन सभी जीवधारियों के प्रति जो पशु एवं पक्षी हैं। इनके लिए उसे प्रतिदिन कुछ भोजन उनके हेतु पृथ्वी पर छोड़ देना पड़ता है।

प्रत्येक गृहस्थ को घर बनाना पड़ता है जिसमें वह स्वयं अपने बाल-बच्चों के साथ रहे तथा अपने सभी सम्बन्धी एवं रक्तसम्बन्धियों को मिला कर रखे। यही वह

स्थान है जहाँ सभी मृतक तथा जीवित व्यक्तियों का समन्वय होता है। इसका कारण यह है कि सभी मृतक प्रत्येक यज्ञ के समय मन्त्र द्वारा आमन्त्रित किए जाते हैं।

मनुष्य के चार पुरुषार्थ होते हैं। इन पुरुषार्थों की विस्तृत व्याख्या पहले ही एक अलग अध्याय में की जा चुकी है। इन पुरुषार्थों की साधना भी प्रत्येक प्राणी यहीं करता है क्योंकि अर्थ यहीं कमाया जाता है, इच्छाएँ भी यहीं संतुष्ट होती हैं एवं धर्म की साधना-भूमि भी यहीं होती है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम ही पुरुषार्थों की साधना-भूमि है।

यही वह जीवन केन्द्र है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को स्वार्थपरता से परे होकर पूर्ण परहितकारी जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि इस समय उस पर बहुत से लोगों का बोझ पड़ा होता है जिसका उसे निर्वाह करना पड़ता है। यह निर्वाह तभी हो सकता है जब उसमें पर हित कामना की भावना हो।

(इस आश्रम में उसके जीवन की दो मान्यताएँ होती हैं: एक मान्यता यह कि सारा संसार और सम्पूर्ण प्राणी क्षणभंगुर हैं तथा दूसरा यह कि सभी कार्य धर्म और कर्म के आधार पर आधारित होकर किया जाता है।)

३· वानप्रस्थ आश्रम

जब एक गृहस्थ अपने सम्पूर्ण ऋणों का अधिकतम उपयोग कर लेता है तथा इनसे उऋण होने के लिए यज्ञ भी कर चुकता है तो वह विरक्त हो जाता है। कुल से, घर से, परिवार से, और समाज से विरक्त होकर वह जंगल में जाकर रहता है। इस प्रकार का जीवन तब तक व्यतीत करता है जब तक वह धीरे-धीरे अपने ऊपर पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त कर लेता और इन्द्रियों को वशीभूत नहीं कर लेता। इन्द्रिय निग्रह करने के बाद वह संसार से अलग होकर ईश्वरमय होता है। इस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम से अभिप्राय उस आश्रम से है जिसमें मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास करता हुआ पूर्ण सफल हो जाता है।

इस समय वह समाज से अलग जंगल में रहता है; वृक्ष की छाल पहनता है; पेड़ के नीचे घास पर सोता है; पञ्चमहायज्ञ करता है; अपनी थोड़ी सी सम्पत्ति में से जो अतिथि उसके समीप आता है उसे भी उसको देना पड़ता है; वेद, उपनिषद आदि धार्मिक ग्रन्थों का उसे अध्ययन करना पड़ता है; सदा तपस्या करनी पड़ती है, आत्मनियन्त्रण, मैत्री, दया आदि गुणों से सम्पन्न उसे अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसके साथ सभी भूतों के प्रति उसे उदारता और दया की भावना रखनी पड़ती है। उसे कभी घर अथवा समाज में बने हुए अन्न, खेत की फसल तथा किसी के बगीचे का फल नहीं खाना पड़ता है।

वह कभी-कभी लौट कर समाज में आता है केवल इसी उद्देश्य से कि समाज के प्राणियों को अपने अनुभव से वह अधिक से अधिक लाभान्वित करता

रहे। इस प्रकार दो प्रमुख कार्य उसके इस आश्रम में होते हैं; अधिक से अधि अध्ययन करना तथा आत्मतुष्टि के लिए सदा यज्ञ करते रहना।

इस प्रकार वह नियतेन्द्रिय तथा जितेन्द्रिय समाज से अलग अपने को धीरे-धीरे इतना विरक्त कर लेता है कि उसे केवल ईश्वर ही दिखाई पड़ता है। सारा सं उसके लिए मोहरहित हो जाता है और वह सम्पूर्ण मोह को त्याग कर सं से अलग हो जाता है।

४. संन्यास आश्रम

वानप्रस्थ आश्रम में जब व्यक्ति सम्पूर्ण रीतियों से अपनी इच्छाओं दलित और संतुष्ट कर लेता है तथा उसे जब यह संतोष हो जाता है कि किसी प्रकार का ऋण अब उस पर नहीं है तो वह संसार छोड़ कर पूर्ण विरक्त का जीवन व्यतीत करता है। वह पुनः कभी समाज में नहीं लौटता। वह जंगलों, प की कन्दराओं में निवास करता है। उसे कोई भी नहीं देखता है। वह अ नाम परिवर्तित कर लेता है। संसार के उसके सम्बन्धी उसे मृतक मानते उसके नाम का पुतला जला देते हैं। उसका श्राद्ध कर्म कर देते हैं। इसीलिए व्यक्ति अपना नाम भी परिवर्तित कर लेता है। उसमें किसी भी प्रकार का तथा द्वेष किसी के भी प्रति नहीं रह जाता। वह अनासक्तिमय जीवन करता है। केवल एक समय ही उसे भोजन करना पड़ता है। यदि यह भी न तो उसके लिए इसका भी कोई महत्व नहीं रह जाता।

इस प्रकार इस आश्रम में वह अपना जीवन व्यतीत करता हुआ पूर्ण ईश्व हो जाता है तथा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। परन्तु इस आश्रम के सम्बन्ध में कहा गया है कि गृहस्थ के बाद भी यदि मनुष्य अपने को पूर्ण योग्य समझे तो संन्यास ग्रहण कर सकता है। यह आवश्यक नहीं कि वह वानप्रस्थ के बाद ही ग्रहण करे। जाबालि, याज्ञवल्क एवं मनु सभी इस विषय में एक मत हैं।

सापेक्षित महत्व

इस प्रकार चारों आश्रमों के विवेचन के पश्चात् अब यह जा अनिवार्य है कि क्या चारों का महत्व समान है अथवा किसी एक का अधि यदि चारों का समान है तो किसका सापेक्षिक रूप से विशेष महत्व वास्तव में चारों आश्रम जीवन काल के चार क्षेत्रों को संकेत करते हैं। किसी एक को छोड़ दें तो अगले का समुचित विकास नहीं हो सकता। बिना साधना के अर्थ और काम का क्षेत्र अधूरा रह जायगा और बिना इनकी पू मानव संतुष्ट नहीं हो सकता। अतएव वह इनके अभाव में वानप्रस्थ आश्र धर्म—इन्द्रिय निग्रह—का निर्वाह ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब तक वा

में अपने को पूर्णतया साध नहीं लेता तब तक संन्यास के लिए वह उपयुक्त होता ही नहीं। इस प्रकार चारों आश्रमों का परस्पर सापेक्षिक महत्व है। बिना एक के दूसरा सम्भव नहीं। अतएव अपने-अपने स्थान पर चारों आश्रम पूर्ण युक्तिसंगत हैं। इसलिए यह कहना कि कौन विशेष महत्व का है बड़ा ही कठिन है।

अब दूसरा प्रश्न उठता है कि यदि सभी आश्रम समान महत्व के हैं तो उनमें सापेक्षिक दृष्टि से किसका महत्व है। हाँ, यह बात कुछ विचारने की है कि कौन सा ऐसा आश्रम है जो अन्य आश्रमों के साथ कुछ विशिष्ट महत्व का है। इसके उत्तर में हम सबसे पहले यह देख चुके हैं कि आश्रमों का आधार क्या है। पुरुषार्थ, ऋण और यज्ञ यही आश्रम व्यवस्था के आधार नियत किये गये हैं। जिस आश्रम में एक ही साथ इन सभी आधारों की पूर्ति कुछ कम या अधिक होती हो, वास्तव में वही आश्रम शेष की अपेक्षा अधिक महत्व का माना जा सकता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो ब्रह्मचर्य में केवल धर्म को साधना ही होती है, वानप्रस्थ में मोक्ष की तैयारी करते हैं तथा संन्यास में ब्रह्मतत्वमय अर्थात् मोक्ष के पूर्ण समीप हो जाते हैं। अब केवल एक बचा गृहस्थाश्रम। इस आश्रम के धर्म की व्याख्या करते हुए यह बताया जा चुका है कि इसमें व्यक्ति सभी पुरुषार्थों की जहाँ साधना करता है वहीं वह ऋणों का अधिक से अधिक उपयोग भी करता है तथा उसको संपूर्ति के लिए यज्ञ भी करता है। इस प्रकार यही कर्म-भूमि है। यहीं वह लगभग सभी आधारों को साध लेता है तथा प्रथम तीन आश्रम धर्म का एक साथ हो किसी न किसी अंश में निर्वाह कर लेता है। यहाँ वह अपना अध्ययन चालू रखता है क्योंकि प्रति समावर्तन समारोह के अवसर पर उसे गुरु के सम्मुख उपस्थित होकर यह कहना होता था कि उसने कितना अपने ज्ञान में और वृद्धि की है। इसके अतिरिक्त अर्थ और काम को संतुष्टि कर वह इन्द्रिय निग्रह यहीं कर लेता है। अतएव इसके साथ ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। सीधे गृहस्थ धर्म का समुचित प्रकार निर्वाह कर वह मोक्ष को प्राप्त कर सकता है और संन्यास में प्रवेश कर सकता है। इसीलिए मनु ने कहा है कि—

यथा नदी नदः समस्ते सागरम यान्ति समस्थितिम्।
तथैवाश्रमिनः सर्वे गृहस्थे यान्ति समस्थितिम् ॥ (vi, ९०)

अर्थात् जिस प्रकार सभी नदी और नद सागर में आकर गिरती हैं उसी प्रकार सभी आश्रम के निवासी गृहस्थाश्रम में ही समावेश करते हैं।

इस सम्बन्ध की बहुत-सी कहानियाँ महाभारत में दी गई हैं जिनमें गृहस्थ आश्रम के कष्टों से अवगत होकर सीधे वानप्रस्थाश्रम में पालयित होने वाली स्त्रियों का वर्णन है। पर उन्हें या तो पुनः गृहस्थ आश्रम में लौट आना पड़ा अथवा मोक्ष से वंचित रहना पड़ा। इस प्रकार की कथा महाभारत के

पर्व में मिलती है कि युधिष्ठिर गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था को देखकर सीधे वानप्र ही ग्रहण करना चाहते थे कि अपने भाई, स्त्री तथा द्वैपायन व्यास की मन्त्रणा उन्हें पुनः अपना विचार त्याग कर गृहस्थाश्रम को स्वीकार करना पड़ा। पुनः ब्राह्मण बालक इसी प्रकार इसके कष्टों और उत्तरदायित्वों को देख कर संन्यास ग्र करने के लिए जंगल में चले गए। पर वहाँ महाराज इन्द्र मिले जिन्होंने उपदेश दिया कि बिना गृहस्थाश्रम व्यतीत किये वह अपना कल्याण नहीं कर सके अतएव वह लौट कर वापस चले गए और पुनः गृहस्थ आश्रम का धर्म निर्व करने लगे। इसीलिए महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है—

'शास्त्रादृष्टः परो धर्मः स्थितो गृहस्थमाश्रितम् ।'

अर्थात् गृहस्थ आश्रम में जीवन व्यतीत करना ही शास्त्र की दृष्टि में सर्वश्रे धर्म है।

इस प्रकार यह उपयुक्त ही है कि सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम का सापेक्षि दृष्टि से विशेष महत्व है।

आश्रम और समाज

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह जो कुछ भी करता है केवल सामाजि अभ्युत्थान के लिए, चाहे वह समाजगत दृष्टि से हो अथवा व्यक्तिगत दृष्टि इस दृष्टि से आश्रमों का भी समाज से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध हो ही। इसी का हम यहाँ अध्ययन करेंगे।

प्रथम आश्रम है ब्रह्मचर्य्य। इस आश्रम में ब्रह्मचारी को जो आचार्य कु वासी होते हैं, जो ऋषि ऋण की साधना करते हैं उनके प्रति समाज का बहुत उत्तरदायित्व रहता है। समाज ही पुरातन काल में इनके भोजन, वस्त्र, ज्ञान आदि व्यवस्था करता था। आज की भी सारी शिक्षा संस्थाएँ समाजचालित हैं। पुरा काल में इसके महत्व को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए ही भिक्षाटन व्यवस्था विद्यार्थियों के लिए की गई जो पड़ोस के गाँव से घूम-घूम कर भि माँगते थे।

दूसरा आश्रम है गृहस्थ। इसमें व्यक्ति का उत्तरदायित्व समाज के प्रति जाता है। प्रत्येक ब्रह्मचारी यह अनुभव करता है कि समाज का वह ऋणी है। अत इस आश्रम में प्रवेश करते ही जहाँ वह अर्थ एवं काम की साधना करता है तथा ऋण, पितृ ऋण एवं अतिथि ऋण से उऋण होने के लिए पञ्च महायज्ञ करता वह समाज कल्याण की ओर जुटता है। 'स्व' की भावना से दूर वह प्रत्येक कार्य की भावना से ही प्रेरित होकर करता है। अब वह सामाजिक सम्पत्ति नियन्ता और संरक्षक बन जाता है।

तीसरा आश्रम है वानप्रस्थ। इसमें व्यक्ति गृहस्थ की अपेक्षा सामाजिक कल्याण का अधिक साधक होता है। वह अपने प्रत्येक अनुभव से समाज को लाभान्वित करने के लिए ही बराबर समाज में आता है तथा यहाँ के लोगों को अपना अनुभव बताता है। यहाँ वह मोक्ष की साधना में रत रहता है।

चौथा आश्रम है संन्यास। यह आश्रम व्यक्ति और समाज से सदा अलग होता है क्योंकि इसमें प्राणी समाज में नहीं रहता। उसे मृतक समझ कर संसार में श्राद्ध कर दिया जाता है और वह संसार से विरक्त होकर मोक्ष की साधना करता है।

इस प्रकार प्रथम तीन आश्रमों का समाज के लिए महत्व है।

----o----

अध्याय ७

हिन्दू परिवार

महत्व

सम्पूर्ण सामाजिक संस्थाओं में परिवार ही वह मूलभूत सामाजिक संस्था है जिस पर सारी सामाजिक व्यवस्था आधारित है। यही वह कड़ी है जो व्यक्ति का सम्बन्ध समाज से जोड़ती है। व्यक्ति को सामाजिक बनाने के सारे उपक्रम परिवार में ही पूरित होते हैं। यहीं से बालक शब्दों का उच्चारण करना सीखता है, भाषा का ज्ञान प्राप्त करता है, विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, उनके प्रति सामाजिक व्यवहार के विषय में ज्ञान प्राप्त करता है तथा जीवन की प्रारम्भिक और आधारभूत शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आवश्यकता की तुष्टि करता है। ऊपर हमने देखा कि सम्पूर्ण सामाजिक संस्थाएँ इसी की नींव पर खड़ी हैं। इसे और स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम कह सकते हैं कि संस्कार का जन्म बालक के गर्भ में आने के पूर्व से ही प्रारम्भ होता है। क्रमशः वह आश्रम और वर्ण की संस्था के अन्दर प्रवेश करता है। उसके बाद शिक्षा और विवाह आदि दूसरी संस्थाओं द्वारा उसकी पारिवारिक क्रियाओं का पोषण होता है।

मनुष्य जन्म से ही कामातुर होता है। इस भावना का पोषण विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार से होता है। परन्तु इसके अनुचित मार्ग पर आधारित होने से जहाँ व्यक्ति बिगड़ता है वहीं उचित मार्ग पर आश्रित होने से उसका समुचित विकास होता है। इसी काम का निकृष्ट पक्ष है वासना जिसके आचरण से मनुष्य अपना मानसिक एवं शारीरिक बलांश खो बैठता है तथा उसका चरित्र भी कलंकित हो जाता है। इसकी पूर्ति भी परिवार में ही रहकर उचित रीति से हो सकती है।

भारतीय विचारकों ने जहाँ एक ओर वर्ण व्यवस्था पर बल दिया है वह दूसरी ओर बालक के सम्बन्ध में कहा है कि जन्मजात प्रत्येक बालक शूद्र होता है। परन्तु संस्कार द्वारा परिशोधित कर उसको समाज में लाया जाता है तथा वर्ण व्यवस्था के अधीन बनाया जाता है। उसमें सांस्कृतिक अवयवों का पड़ा हुआ बीज जो संशुप्त अवस्था में रहता है उसे भी यहीं उद्बोधन मिलता है। अतएव मानव का चरित्र, उसकी संस्कृति तथा उसके विचारों का रूपमान यहीं से निर्मित होता है।

नैतिकता का जागरण तथा आदर्शों का प्रतिपादन परिवार से ही होता है। बालक के जन्म पर वातावरण तथा वंशपरम्परा का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है।

जिस प्रकार के आदर्श का पालन परिवार करता है उसी प्रकार के आदर्श का पालन बालक भी जन्म से ही अनजाने में करने लगता है। यह बात दूसरी है कि कभी वातावरण के परिणामस्वरूप जिसमें परिवार से बाहर का भी प्रभाव होता है बालक पारिवारिक आदर्शों से विचलित हो जाय फिर भी उसके प्रति उसके मन में सदा निष्ठा बनी रहती है। इसका स्पष्ट उदाहरण है कि परिवार के प्रत्येक कार्य में विवेक के स्थान में परम्परा के निर्वाह पर ही बल दिया जाता है।

बालक के व्यक्तित्व का विकास परिवार में ही होता है। सांस्कृतिक प्रक्रियायें जो विशेष रूप से हमारे चरित्र को प्रभावित करती हैं वह क्रमागत रूप से पीढ़ियों तक हस्तान्तरित होती रहती हैं। इस प्रकार यही वह सामाजिक संस्था है जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के साथ सांस्कृतिक परम्पराओं का संचय किया जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक परिवार का महत्व हमारे जीवन में एक अनेक दृष्टियों से है। यहीं से हम पूर्णता की प्राप्ति करते हैं, मानवता का दर्शन करते हैं, ऋणों से परिचित होते हैं तथा इनसे उऋण होने के लिए यज्ञों की परम्परा का निर्वाह करते हैं।

आवश्यकता

यदि मानव के इतिहास को देखा जाय तो ज्ञात होगा कि प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य अकेला रहता था, जंगलों में घूमता हुआ शिकार करके अपना जीवन व्यतीत करता था। इस वन्य प्राणी की स्थिति में भी वह अपनी वासना से इतना विक्षुब्ध हो उठता था कि अपनी एक सहचरी ढूँढ़ लेता था। यह बात अन्यथा है कि विवेक के अभाव में वह सम्बन्ध केवल वासना की पूर्ति तक ही सीमित था। परन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता गया वह विवेकशील होता गया। उसने अपने भ्रमणशील जीवन को स्थिर बनाने का प्रयास किया। वह मकान बना कर रहने लगा। परन्तु साथ ही उसे स्थायी रूप से अपने पर आश्रित अपने जोड़े की आवश्यकता हुई जिसे वह अपने साथ रखता था। इसके साथ वासना की पूर्ति के परिणामस्वरूप पीछे संतति का जन्म हुआ जो अपने जोड़े के साथ पुनः वहीं रहती थी। इस प्रकार परिवार का उद्भव हुआ।

इस उद्भव क्रम को देखते हुए यह ज्ञात होता है कि वासना की पूर्ति ही वह मूक आवश्यकता थी जिससे प्रारम्भिक मानव ने परिवार को जन्म दिया जो अपने शास्वत रूप में तब से आज तक चली आ रही है।

विशेषतायें

भारतीय परिवार प्रणाली विश्व की परिवार प्रणालियों में एक विशिष्ट स्थान रखती है। इसका कारण यह है कि जहाँ विश्व के विभिन्न परिवारों का संगठन एवं उनके सदस्यों की सदस्यता स्वच्छन्द है वहाँ भारतीय परिवार इससे पूर्ण भिन्न अपनी

निश्चित मान्यताओं में आबद्ध है। इसलिए इसकी विशेषताएँ दूसरे परिवारों की अपेक्षा कुछ भिन्न हैं।

अ. संयुक्त परिवार प्रणाली

भारतीय परिवार की सर्वप्रमुख विशेषता है इसका स्वरूप। यदि विश्व के विभिन्न सभ्यताओं का अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि अधिकांश सभ्यता में आज व्यक्तिवादी परिवार परम्परा ही प्रचलित है। परिवार में केवल पति पत्नी तथा अविवाहित बालक ही सम्मिलित होते हैं। पर भारतीय परम्परा, जो प्राचीन आदर्श आज भी विद्यमान है तथा संयुक्त परिवार प्रणाली का पोषण कर है वहाँ भले ही आज एक साथ मिल कर कई पीढ़ियों तक के लोग न रहते हों पर इतना तो अवश्य ही है कि साधारणतया एक पीढ़ी के सभी सदस्य एक ही परिव में रहते हैं। चूँकि इसमें सभी सदस्य संयुक्त रूप से रहते हुए अपने उत्तरदा का निर्वाह करते हैं अतएव इसे संयुक्त परिवार प्रणाली की संज्ञा दी जाती है भारतीय आर्य हैं। भले ही इसमें सन्देह किया जाय कि यह आर्यों की जन्मभूमि परन्तु इसमें तो विरोध ही नहीं कि आर्य सभ्यता का यह केन्द्र था। मैक्समूल महोदय ने आर्यों के उद्गम स्थान के विषय में विचार करते हुए यह कहा है वह एक ही पड़ोस में केवल नहीं रहते थे पर एक ही वितान के नीचे रहते इस प्रकार संयुक्त परिवार प्रणाली इनकी आदिम परम्परा है जिसे उत्तराधि के रूप में भारत में आज भी हम पाते हैं।

संयुक्त परिवार प्रणाली व्यक्तिगत परिवार प्रणाली की अपेक्षा बड़ी ही मह पूर्ण है। इसके अपने कुछ विशिष्ट गुण हैं। इस परिवार का प्रत्येक सदस्य चाहे सशक्त हो अथवा अशक्त हो, पंगु हो अथवा स्वस्थ, समान रूप से जीवन निर्वाह कर है। सभी को अपनी रुचि, योग्यता और क्षमता के अनुसार इसमें काम दि जाता है। अतएव बेकारी की समस्या, भुखमरी की समस्या तथा भिखमंगी की सम नहीं उठने पाती। इसमें न कोई निर्धन होता है न दरिद्र क्योंकि किसी की अपनी सम्पत्ति नहीं होती। अतएव परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना का अभाव र है जिससे अपराध की समस्याएँ एवं मुकदमेबाजी की समस्या भी बहुत हद तक निय रहती हैं। परस्पर मिल-जुल कर रहने से बालक विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आ है जिससे उसका बहुमुखी विकास होता है। वह स्वार्थ की सीमा से परे होकर कुछ समूह के हित की दृष्टि से सोचता है क्योंकि इसमें व्यक्ति का सापे महत्व नहीं होता परन्तु परिवार का। अतएव मानव का संकुचित दृष्टिकोण समाप्त जाता है। वह जन कल्याणकारी भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्येक कार्य क लगता है। इसमें उसे वयोवृद्धों का संरक्षण मिलता है, अतएव अनुभव का धन सद को प्राप्त होता है। इस प्रकार एक नहीं इसमें अनेक गुण हैं।

परन्तु वह प्रत्येक व्यवस्था जिसमें कुछ गुण होते हैं, समय के प्रवाह में कुछ अवगुण भी ग्रहण कर लेती है। परिवार में भी इसके विभिन्न गुणों के साथ लगा हुआ कुछ दोष भी है। जब यह विश्वास हो जाता है कि कम या अधिक श्रम करने पर समान ही भोजन मिलेगा तो आलस्य और अकर्मण्यता आ जाती है। इसको देख कर लोगों में परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना उठती है। इसके द्वारा आत्मनिर्भरता की भावना का अभाव होने लगता है। सामूहिक उत्तरदायित्व के कारण व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व भूल बैठता है। बड़े परिवार के होने के कारण नारियों को भोजन आदि पकाने में कठिनाइयाँ होती हैं तथा परस्पर विरोध की भावना का जागरण होता है जिससे गृह-कलह उत्पन्न होता है जो जीवन की शान्ति को भंग कर देता है। पुनः व्यक्ति को जहाँ अपने दायित्व का अनुभव नहीं होता वहाँ वह व्यय का महत्व नहीं आँक सकता और न बचत का। इसलिए न इसमें अधिक बचत हो सकती है और न संतति निरोधक अधिनियम ही कार्यान्वित किए जा सकते हैं।

यही कारण है कि संयुक्त परिवार प्रणाली अपने प्राचीन स्वरूप में बहुत दिनों तक टिक नहीं सकी। इसमें ह्रास होने लगा। इसके इसी ह्रास होने को 'परिवार का विघटन' की संज्ञा से संकेत करते हैं। आगे इसी उपखण्ड में विघटन के घटकों पर विचार किया जायगा।

ब. वृद्धों का आदर

संयुक्त परिवार के कारण परिवार में बहुत से वृद्ध होते हैं। इनके प्रति उपयुक्त श्रद्धा प्रदर्शित करना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य था और है। इसीलिए हमारे यहाँ माता, पिता और गुरु इन तीनों को ही अति गुरु की संज्ञा दी गई है। धर्मशास्त्रों में इसीलिए धार्मिक एवं उत्तरदायित्वपूर्ण सामाजिक कार्य जैसे विवाह आदि तथा आर्थिक नियंत्रण आदि कार्य इन्हीं के अधीन बताया गया है। बालक को इनकी आज्ञा का अनुसरण करना मात्र ही धर्म है।

परन्तु यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि वृद्ध से अभिप्राय अवस्थाप्राप्त से है। इसीलिए धर्म में यह बताया गया है कि बड़े भाई की आज्ञा का पालन छोटे भाई को, मालिक की आज्ञा का पालन नौकर को, पति की आज्ञा का पालन पत्नी को सदा करना चाहिए। परन्तु इसके साथ ही कहा गया है कि नौकर को पुत्रवत मालिक को मानना चाहिए। अर्थात् जहाँ छोटे-बड़ों की आज्ञा का पालन करें वहीं बड़े भी छोटों के प्रति स्नेह और सद्भावना का व्यवहार करें।

स. पुरुष के समान स्त्रियों का स्थान

भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ स्त्रियों को अर्धांगिनी के रूप में स्वीकार किया गया है। उसको प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष का आधा अंग बताया गया है। धर्म के

क्षेत्र में ही कहा गया है कि वह व्यक्ति अयज्ञ है जिसको पत्नी नहीं है। पुनः आर्थिक क्षेत्र में भी कहा गया है कि पुरुष को बँटवारे के समय पारिवारिक सम्पत्ति का दो भाग अपने लिए रख कर शेष भाग अपने पुत्रों में विभाजित करना चाहिए। दो भाग में से एक भाग उसका होता है तथा दूसरा उसको स्त्री का। इसी प्रकार जहाँ पुरुषों को व्यक्तिगत सम्पत्ति की मान्यता मिली, वहाँ स्त्रियों की एक विशिष्ट सम्पत्ति स्त्री धन को भी मान्यता दी गई।

द. स्त्रियों का उच्चादर्श

विश्व की सभ्यताओं का यदि अवलोकन किया जाय और निष्पक्ष निर्णय दिया जाय तो यह ज्ञात होगा कि किसी भी सभ्यता में स्त्रियों का जीवन इतने ऊँचे आदर्शों पर नहीं आधारित था जितना भारतीय स्त्रियों का। एक सुसभ्य मानव को सम्पूर्ण विशेषताएँ उनके लिए अनुकरणीय बताया गया है। इसका कारण यह है कि भारतीय परिवारों में स्त्रियों के जीवन का अधिकांश अर्थात् विवाह के बाद एक अनजान पुरुष के साथ व्यतीत करना पड़ता है। वह तब तक उसे अपनी ओर आकृष्ट कर अपना जीवन सुखद नहीं बना सकती जब तक उसमें उच्चादर्श न हो। इसी से कहा गया है कि नारियों को सद्गुणी, पतिव्रता, सौजन्या, संतोषी, विनम्रा आदि होना चाहिए। इन विशेषताओं का उल्लेख लगभग सभी धर्मशास्त्रकारों ने किया है। इसीलिए भारतीय नारियों का जीवन जितना संयत, सुखी, आध्यात्मिक एवं आत्मीय है उतना दूसरी किसी भी नारी का नहीं।

य. पितृ प्रधान परिवार

परिवार का प्रकार यदि सामाजिक दृष्टिकोण से निर्धारित किया जाय तो प्रायः दो प्रकार के पारिवारिक परम्परा का ज्ञान होता है: एक वह जिसमें परिवार का सब कुछ पुरुष होता है तथा दूसरा वह जिसमें परिवार की सब कुछ स्त्रियाँ होती हैं। इन्हें हम पितृ प्रधान पारिवारिक प्रणाली एवं मातृ प्रधान पारिवारिक प्रणाली क्रमशः कहते हैं। ऊपर हमने देखा कि वृद्धों की श्रद्धा का विशेष महत्व है। यह स्वतः सिद्ध करता है कि पुरुषों का अधिकार एवं कर्तव्य स्त्रियों की अपेक्षा बहुत अधिक है। अतएव यह पारिवारिक प्रणाली पितृ प्रधान पारिवारिक प्रणाली के नाम से सम्बोधित की जाती है।

र. ऋणों एवं यज्ञों की महत्ता

एक सामान्य भारतीय का जीवन कुछ निश्चित नियमों एवं बंधनों में बँधा हुआ माना गया है। वह इन्हीं बंधनों से मुक्ति का प्रयास करता है जिससे मानव क्रियाओं के चरम उद्देश्य एवं ... प्राप्त कर ले। यह बंधन

जन्मजात होते और मृत्युपर्यन्त उसके साथ लगे होते हैं जिससे वह इस बंधन से बाहर निकल कर स्वतन्त्रता में अपना अहित न कर बैठे। जीवन के यह बंधन हैं ऋण तथा इनसे मुक्ति पाने के साधन हैं यज्ञ। अतएव हमारी सारी क्रियाएँ इसी की ओर होती हैं। हमारा जीवन यज्ञ है, यहाँ त्याग ही आदर्श है जिसकी वेदी पर यज्ञ करना मानव का धर्म है। अतएव हम मृत्युपर्यन्त जो कुछ भी करते हैं वह स्वार्थ की भावना से अभिप्रेत होकर नहीं पर इस आदर्श को परिर्लक्षित कर। यह दूसरी बात है कि किन्हीं बाह्य प्रभावों के कारण अथवा विवेकहीनता की स्थिति में एक सामान्य भारतीय इस मार्ग से विरत हो। इन ऋणों की संख्या प्रमुख रूप से तीन मानी गई हैं, देव ऋ ण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण। पर इसी के साथ एक और ऋण भी जोड़ दिया जाता है जिसे अतिथि ऋण कहते हैं। इन ऋणों से ही उऋण होने के लिए यज्ञों का विधान है। यह यज्ञ हैं--देव यज्ञ, ऋषि यज्ञ, पितृ यज्ञ एवं अतिथि यज्ञ।

ल. जन्मना स्वत्व का आधार

भारतीय विचारकों ने प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण आर्थिक सुविधा दी है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि प्रत्येक व्यक्ति निश्चित होकर अपना कार्य करता रहे क्योंकि हमारे सभी कार्यों का आदर्श है आध्यात्मवाद। इस आदर्श की पुष्टि तब तक नहीं की जा सकती जब तक मानसिक शान्ति न हो। अतएव बालक को गर्भस्थ होते ही उसके अधिकार को पारिवारिक सम्पत्ति पर स्वीकार किया गया है। इसीलिए बँटवारा सम्बन्धी विधान बनाते हुए हमारे शास्त्रकारों ने कहा कि यदि बँटवारे के समय माँ गर्भवती हो तो भाइयों को चाहिए कि उस गर्भ में स्थित बालक के लिए भी एक हिस्सा लगा दें। यदि बँटवारे के बाद बालक का जन्म हो तो पिता का कर्तव्य होता है कि अपने हिस्से का एक भाग वह उस बालक को दे। इस प्रणाली पर आधारित बँटवारे की एक परम्परा ही याज्ञवल्क स्मृति के आधार पर जीमूतवाहन ने स्थापित की। चूंकि जन्म से ही यह बालक के अधिकार को स्वीकार करते हैं अतएव इसे जन्मनास्वत्व का सिद्धान्त कहा गया तथा बंगाल को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण भारत में इसी के आधार पर बँटवारे की समस्या का निर्णय होता है।

व. परिवार का आधार धर्म

विवाह से ही परिवारों का संगठन होता है। यह संस्था पश्चिमी सभ्यताओं में जहाँ विलासिता एवं कामुकता पर आधारित होती है वहीं भारत में धर्म पर आधारित होती है। भारतीय परम्परा में कहीं भी विवाह के पूर्व पश्चिमी सभ्यताओं की तरह प्रेमाचार (कोर्टशिप) की व्यवस्था नहीं है। यह एक धार्मिक-सामाजिक

बधन है, जो देवता, पितर आदि को सम्बोधित कर उनको साक्षी रख कर पूर्ण करते हैं। धर्मशास्त्रकारों ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि वह व्यक्ति धर्म कार्य के लिए पूर्ण अनुपयुक्त है जिसको पत्नी नहीं है--'अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः' (तैतरीय ब्राह्मण II, २,२,६)। अतएव विदेशों से पूर्ण भिन्न सैद्धान्तिक दृष्टि में जहाँ यहाँ तलाक को मान्यता दी गई वहाँ व्यावहारिक दृष्टि से इसे अत्यन्त निकृष्ट माना गया है।

१४. कर्तव्य का बंधन

यहाँ परिवार के सदस्यों को पूर्ण स्वतन्त्र नहीं छोड़ दिया गया कि वह अपनी रुचि के अनुसार चाहे जिस प्रकार भी कार्य करें। इसका कारण यह है कि प्रत्येक कार्य का उद्देश्य है ऋणों से उऋण होना तथा आदर्श है यज्ञ का स्वरूप धारण करना। अतएव धर्म शास्त्रकारों ने प्रत्येक सदस्य का प्रत्येक दृष्टिकोण से अधिकार एवं कर्तव्य दोनों ही निश्चित किया है। इस प्रकार उसका जीवन इतना अधिक कस दिया गया है कि कहीं भी थोड़ी सी ढिलाई न रह जाय जिससे स्वेच्छाचारितापूर्वक व्यवहार करता हुआ वह पारिवारिक जीवन को कलुष बना दे।

इस प्रकार भारतीय परिवार प्रणाली में एक नहीं अनेक विशेषताएँ हैं जो इसके स्वरूप को दूसरे देशों के पारिवारिक स्वरूप की अपेक्षा भिन्नता प्रदान करती है।

उत्पत्ति का सिद्धान्त

भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने स्पष्ट रूप से तत्कालीन इतिहास एवं सिद्धान्त का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है जिससे यह निश्चित किया जा सके कि परिवार की उत्पत्ति कैसे हुई? परन्तु फिर भी कुछ फुटकर प्रमाणों को एकत्रित कर इस सम्बन्ध में अटकल भिड़ाने का प्रयास किया गया है। फुटकर साधनों में कहीं दन्तकथाएँ हमारा साथ दे जाती है और कहीं ऐतिहासिक तथ्य। इसके साथ ही जीवविज्ञान शास्त्रियों ने भी अपना अटकल भिड़ाया है। परन्तु सबसे प्रामाणिक प्रतीत होता है भाषातत्ववित्तों का आधार। इन्हीं चार आधारों पर क्रम से चार उत्पत्ति के सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं यथा:--

१ दन्तकथाओं के आधार पर वेश्यावृत्ति का सिद्धान्त,
२ ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर बहुपति प्रणाली का सिद्धान्त,
३ जीवविज्ञानशास्त्रियों के आधार पर मातृ प्रधान प्रणाली का सिद्धान्त,
४ भाषातत्ववित्तों के आधार पर पितृ प्रधान प्रणाली का सिद्धान्त।

इन प्रत्येक सिद्धान्तों का निष्पक्ष विवेचन करने के बाद ही हम किसी निश्चित तथ्य पर पहुँच सकते हैं कि परिवार का वास्तविक स्वरूप प्रारम्भ में कैसा था जो आज इस विकसित रूप में चला आ रहा है।

१. दन्तकथाओं के आधार पर वेश्यावृत्ति का सिद्धान्त

दन्तकथाओं को आधार मानकर चलने के पहले इतना स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि दन्तकथाओं के साथ लोककथाएँ भी सम्मिलित हैं। इन कथाओं के अनुसार सबसे पहले यह ज्ञात होता है कि सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में हिन्दू परिवार का न कोई बंधन था न कोई व्यवस्था थी। समाज पूर्ण स्वतन्त्र था। मानव अपनी इच्छानुसार किसी से भी वासना की तृप्ति करता था जो पीछे धीरे-धीरे संगठित परिवारों के रूप में सम्भव हो सका। इसी स्थिति को वेश्यावृत्ति की अवस्था कह सकते हैं।

इस सम्बन्ध में हम महाभारत में वर्णित विजेता सहदेव के इस कथन को प्रमाण मान सकते हैं कि इस समय स्त्रियाँ स्वैरिणी होकर विचरण करती थीं[1]। पुनः मद्र देश की स्त्रियों के विषय में कहा गया है कि वह स्वेच्छाचारिणी थीं, नंगा नृत्य करती थीं तथा स्वतन्त्र मैथुन करती थीं।[2] पाण्डु ने भी कहा है कि पुरातन काल में यह अनावृता थीं तथा कामाचार विहारिणी थीं।[3] शर्मिष्ठा का यह कथन कि पति और पति के सखा का स्थान पत्नी के लिए समान है इसी स्थिति की पुष्टि करता है।[4] दीर्घतम ने भी यही कहा कि आर्यों का आदर्श कि अब से एक विवाह की व्यवस्था को अपनावें, उसकी मृत्यु पर भी उसी के साथ सम्बन्धित रहें तथा दूसरी नारी से सम्बन्धित होने पर उनका पतन हो जायगा।[5] पुनः श्वेतकेतु ने भी यह कहा है कि वेश्यावृत्ति के स्थान व्यवस्थित परिवार परम्परा स्थापित होनी चाहिए।[6] यह कथन भी सिद्ध करता है उनके पूर्व वेश्या वृत्ति ही समाज में व्याप्त थी जो पीछे व्यवस्थित परिवार प्रणाली के स्वरूप में परिवर्तित हो गई।

परन्तु इन कथनों पर कोई बल नहीं दिया जा सकता है। यह उन्माद और अविवेकी तथा कुछ विशिष्ट परिस्थितिगत कथन प्रतीत होता है। सहदेव ने जो कुछ भी कहा है एक विजेता की हैसियत से। अतएव इनके कथन का कोई मूल्य नहीं है। मद्र देश के सम्बन्ध का कथन कर्ण द्वारा इसलिए किया गया कि वहाँ के शासक ने इसकी निन्दा की थी। अतएव कर्ण ने उसके तथा उसके देश की निन्दा करते हुए इस प्रकार का शब्द उच्चारित किया। शमिष्ठा एक चरित्रभ्रष्ट स्त्री थी। यदि उसने

---

१ महाभारत, २, ३१।
२ वही कर्ण पर्व, ८, ४०।
३ वही, १, १२२, ३।
४ 'समवेत्ता मतौ राजन् पतिः सखाश्च यः पतिः।
५ महाभारत—१, १०४, ३४—६।
६ हिन्दू परिवार की मीमांसा, वेदालंकार, पृ० ३।

नारीचरित्र के विषय में अपने रक्षार्थ कोई तर्क दिया तो वह सर्व प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार अन्य उद्धरणों का भी कोई विशेष महत्व नहीं अतएव परिवार के उद्भव का यह सिद्धान्त अमान्य है।

२. ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर बहुपति प्रणाली का सिद्धान्त

इस पक्ष के सर्व प्रमुख समर्थक डाक्टर जौली हैं। इन्होंने दो ऐतिहा तथ्यों के अनुसरण द्वारा इस मत का प्रतिपादन किया है। उन्होंने सोम सूर्या द्रौपदी एवं पञ्च पाण्डवों के विवाह को देख कर यह निश्चय किया कि पुरातन में बहुत से पुरुष मिल कर एक स्त्री के साथ विवाह करते थे।[1] धीरे-धीरे व्यक्ति पत्नी की प्रथा का प्रचलन हुआ अन्यथा समूहगत पत्नियाँ होती थीं। इस प्र की वैवाहिक परम्परा आज भी कमायूँ और शिवालिक की पहाड़ियों में प्रच है। पहले की प्रथा तथा आज की प्रथा में अन्तर केवल इतना ही है कि पहले प्रकार उत्पन्न सन्तति सब की होती थी पर आज केवल सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति की होती है।

परन्तु यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि इस प्रकार के हरण बड़े ही न्यून हैं। अतएव थोड़े से प्रमाणों के आधार एक नवीन मत स्था करने का कोई महत्व नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि वैदिक साहित्य का अवलो किया जाय तो स्पष्ट होता है कि उस समय एक पति विवाह प्रथा ही समाज प्रचलित थी।[2]

३. जीवविज्ञान शास्त्रियों के आधार पर मातृ प्रधान प्रणाली का सिद्ध

जीवविज्ञान शास्त्रियों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि पुरातन का मानव एक वन्य जीव था। वह आखेट में ही अपना जीवन व्यतीत करता था। ही शिशुओं का पालन करती थी। अतएव पौगण्ड की स्थिति के पूर्व बालक केवल को ही पहचानता था। उसके बाद पिता के सम्पर्क में वह धीरे-धीरे आने लगा क्योंकि उसी के साथ वह शिकार खेलने जाता था। इस प्रकार बालक पि अपेक्षा माता को ही अधिक पहचानता था। अतएव इनके अनुसार मातृ प्रधान प्रणाली ही समाज में प्रचलित थी।

परन्तु जीवविज्ञानशास्त्रियों का यह विचार मान्य नहीं प्रतीत होता। वर्ष तक बालक अपने पिता को न पहचाने यह बड़ा ही अस्वाभाविक-सा लगा पुनः ऊपर ही हमने देखा है कि भारतीय परिवार की प्रमुख विशेषता है इसक प्रवृति। वैदिक साक्ष्य भी इसी बात पर बल देता है।

---

१ डा० जौली कृत–हिन्दू ला ऐण्ड जूरिसप्रूडेन्स।

२ अथर्ववेद, १४, १, ५२।

४. भाषातत्ववित्तों के आधार पर पैतृक परिवार प्रणाली

जिन्हें आज हम हिन्दू कहते हैं तथा जिनमें शुद्ध भारतीय रक्त विद्यमान है वे आर्यों की संतान हैं। आर्य अपने आदि स्थान से, चाहे वे जहाँ भी रहे हों विभिन्न शाखाओं में विभक्त होकर जहाँ एक ओर भारत में फैल गए वहीं दूसरी ओर विश्व की दूसरी विभिन्न सभ्यताओं में भी फैले। इसलिए भाषा की कुछ समानता स्वाभाविक रूप से आज भी इन सभ्यताओं में दिखाई पड़ती है। यदि परिवार शब्दी प्रचलित समान शब्दों की तालिका बनाकर हम इनका अध्ययन करें तो ज्ञात हो जायगा कि किस प्रकार के सदस्य के लिए अधिक शब्द प्रयुक्त किए जाते थे। इस प्रयोग के करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि हम सुविधाजनक रीति से निश्चित कर सकते हैं कि किस प्रकार की परिवार प्रणाली प्रचलित थी। इस तालिका का अध्ययन सर विलियम जोन्स ने सबसे पहले किया। इसमें यह देखा जाता है कि हिन्दी में प्रयुक्त पिता शब्द के लिए संस्कृत में पितृ, लेटिन में पेटर तथा अंग्रेजी में फादर शब्द प्रयुक्त है; इसी प्रकार संस्कृत में देवृ, लैटिन में देवर, संस्कृत में श्वसुर का लैटिन रूपान्तर सोसर है; संस्कृत के नाप्ता का लैटिन रूपान्तर नूरूस तथा संस्कृत के मातृ शब्द का लैटिन रूपान्तर मेटर एवं अंग्रेजी रूपान्तर मदर है। इस प्रकार पितृ शब्दों की ही प्रधानता का ज्ञान होता है। मातृ शब्दों का प्रयोग बड़ा ही न्यून है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरातन काल में परिवार का स्वरूप पितृ प्रधान था। यह तर्क पूर्ण वैज्ञानिक प्रतीत होता है, अतएव इस मत को एक वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से उपयुक्तता के कारण हम वास्तविक मान सकते हैं। अतएव यह सिद्ध हुआ कि भाषातत्ववित्तों का ही सिद्धान्त मान्य है।

परिभाषा

ऊपर हमने परिवार की विशेषताओं का अध्ययन करते हुए यह देखा कि भारतीय परिवार की प्रमुख विशेषता है संयुक्त परिवार प्रणाली। अर्थात् इस परिवार में कई पीढ़ी तक के लोग एक साथ में मिलजुल कर रहते हैं। दूसरी विशेषता इस सम्बन्ध में हमने देखा कि हमारा परिवार पितृ प्रधान है। पिता का परिवार में आदर किया जाता है। उसी का अधिकार सर्वोपरि है। अतएव इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर हम परिवार की, विशेष रूप से भारतीय परिवार की, परिभाषा निर्धारित कर सकते है।

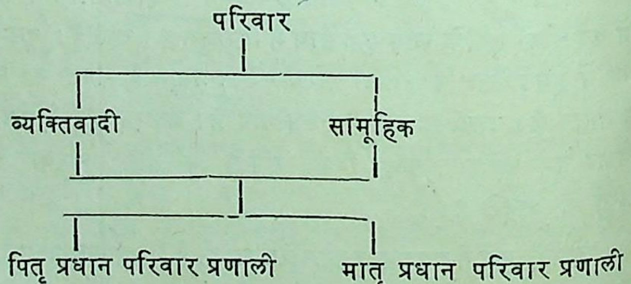
श्रीमती कर्वे ने इस प्रकार की परिषाभा दी है कि संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो सामान्य तौर पर एक वितान के अन्दर रहते हैं, एक चूल्हे की पकी रसोई खाते हैं, समान रूप से सम्पति के उत्तराधिकारी बनते हैं, समान रूप से पूजा में भाग लेते हैं तथा परस्पर रक्त-सम्बन्ध में बँधे रहते हैं।

श्री आई० पी० देसाई ने परिवार की परिभाषा बताते हुए कहा है कि सं परिवार एकाकी होने की अपेक्षा वंश की गहराई अधिक रखता है तथा वह पर दाय, आय, उत्तराधिकार कर्त्तव्य एवं अधिकार में सहसम्बन्धित होते हैं।

परन्तु यह दोनों परिभाषायें एक समाजशास्त्री के दृष्टिकोण से इसमें एक विशेषता अछूती रह जाती हैं वह है पितृ प्रधान परिवार प्रणाल अतएव भारतीय परिवार की परिभाषा करते हुए यह कह सकते हैं कि भारत परिवार से अभिप्राय उस पैतृक परिवार से है जिसमें एक साथ विभिन्न क्षे में समान दायित्व का निर्वाह करते हुए कई पीढ़ियों तक के लोग परस्पर रहते हैं त समान चूल्हे पर पके हुए अन्न का भोजन करते हैं।

प्रकार

यदि सामान्य रूप से परिवार के प्रकारोंपर ध्यान दिया जाय तो यह ज्ञात हो कि दो प्रकार की परिवार परम्परा प्रचलित है। एक में केवल माता-पिता और अ वाहित पुत्र रहते हैं तथा दूसरे में कई पीढ़ियों तक के लोग मिलजुल कर रहते हैं। इ व्यक्तिवादी परिवार तथा सामूहिक परिवार की संज्ञा से इंगित कर सकते हैं। यह दोन प्रकार के परिवार पुनः दो उपखण्डों में विभाजित किये जा सकते हैं। एक वह जिस मातृ पक्ष की प्रधानता हो, दूसरा वह जिसमें पितृ पक्ष की प्रधानता हो। जिसमें मा पक्ष की प्रधानता होती है (मैट्रीआरिकल) उसमें माता के घर ही पिता भी रहता अतएव इसे मातृमूलक (मैट्रीलोकल) परिवार भी कहते हैं। इसके साथ ही इसमें पु आदि का नाम माता के नाम पर आधारित होता है, अतएव इसे मातृ सत्तात्मक (मैट्री लीनियल) परिवार भी कहते हैं। इसी प्रकार पितृ प्रधान (पैट्रीआर्कल) परिवार पुनः उन्हीं विशेषताओं के कारण जिन्हें मातृ प्रधान परिवार में देखा गया है, पि सत्तात्मक (पैट्रीलीनियल) तथा पितृमूलक (पैट्रीलोकल) परिवार भी कहते हैं।



जहाँ तक भारतीय समाज का प्रश्न है इसमें केवल सामूहिक परिवार प्रणाल ही हम पाते हैं। व्यक्तिगत परिवार प्रणाली का कोई स्थान ही नहीं है भले ही व्यक्तिग परिवार प्रणाली की ओर झुकता अवश्य जा रहा है। यहाँ का परिवार पूर्ण पैतृक है जैस

हमने देखा है। परन्तु कुछ जनजातियों में जो हिमालय, शिवालिक और कुमायूँ की ओर हैं मातृ प्रधान परिवार प्रणाली विद्यमान है।

ऐतिहासिक सर्वेक्षण

पश्चिमी सभ्यताओं में परिवार का स्वरूप पूर्ण व्यक्तिवादी होता है। इसमें पुरुष, स्त्री तथा अविवाहित बच्चे होते हैं। जैसे ही बच्चे का विवाह होता है वह अपनी पत्नी के साथ एक अलग परिवार स्थापित करता है। यही वहाँ धर्म माना गया है। बाइबिल भी इसी बात की पुष्टि करती है कि भगवान ने स्वयं कहा है कि विवाह होने के बाद लड़का माता-पिता को छोड़ देगा और अपनी पत्नी के साथ अलग रहेगा।[1] परन्तु भारत में धर्मशास्त्रों ने ठीक इसके विरुद्ध कहा है कि बालक को यद्यपि सम्पत्ति में जन्मना स्वत्व अधिकार है फिर भी पिता के जीवित रहते भाइयों को उसका बँटवारा कर एक दूसरे से अलग नहीं होना चाहिए अन्यथा उसे श्राद्ध में भी नहीं बुलाया जायगा।[2] इस प्रकार दोनों सभ्यताओं के पारिवारिक संगठन भिन्न प्रतीत होते हैं। अतएव भारतीय परिवार के ऐतिहासिक सर्वेक्षण से अभिप्राय है संयुक्त परिवार प्रणाली के कालगत सर्वेक्षण से।

पूर्व वैदिक काल तथा वैदिक काल में सामूहिक परिवार प्रणाली विद्यमान थी। सिन्धु घाटी की सभ्यता में मकानों के आकार-प्रकार को देखने से यह ज्ञात होता है कि केवल एक ही व्यक्तिगत परिवार के रहने के लिए इतने बड़े-बड़े मकानों के निर्माण की योजना कभी नहीं की गई होगी।[3] इसके बाद ऋग्वैदिक साहित्य से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि विवाह करके जब लड़का तथा उसकी स्त्री पिता के घर आती थी तो बधू के सम्बन्ध में यह कामना की जाती थी कि वह परिवार के विभिन्न सदस्यों पर शासन करती रहे।[4] पुत्र-बधू के समान पुत्र से भी इसी प्रकार की कामना की गई है। ऋग्वेद के दो सूक्त स्वापन और सामनस्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय परिवार के संगठन का स्वरूप कैसा था। इन दोनों ही सूक्तों में सामूहिक परिवार के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। परिवार में तीन पीढ़ी तक के सदस्य परस्पर मिल-जुल कर रहते थे। इसके साथ ही परिवार के मृतकों के प्रति भी श्रद्धा रखी जाती थी। इसी का परिवर्तित स्वरूप आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। पूर्वी उत्तर

---

१ बाइबिल–जेनेसिस २, २४।
२ आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२, ६, १४, १९।
३ इण्ड्स सिविलिजेशन—ह्वीलर।
४ ऋग्वेद—१०, ८५, ४२, ४६।

प्रदेश तथा बिहार में प्रत्येक शुभ कार्यों पर 'पितर नेवतने' को क्रिया की जाती अर्थात् उन मृतकों का भी सहयोग माँगा जाता है।

परन्तु सामूहिक परिवार प्रणाली का स्वरूप भले ही आज तक बना हो, फि भी उसका वह स्वरूप वैदिक काल के बाद से समाप्त हो गया जो उसके पूर्व त उस समय था। इसका कारण था कि क्रमशः मानव के चेतनाशील होने से विभि ऐसे कारणों का अभ्युदय होता गया जिससे व्यक्ति को भी समाज में एक स्व स्थिति विभिन्न क्षेत्रों में प्रदान की जाने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि का संगठित परिवार समूह के साथ ही व्यक्तिगत भावना की ओर झुकने लगा। इ साथ ही विदेशी आक्रमण भी इसी काल के बाद होने प्रारम्भ हुए जिससे हमारे विच पर पश्चिमी प्रभाव का असर होने लगा। यह भी एक प्रमुख कारण रहा है हम संयुक्त परिवार की सुदृढ़ परम्परा की अनवरतता को उद्वेलित करने का। फिर इन सभी पक्षाघातों के होने पर भी आज तक पुरातन आदर्श पर ही सम्पूर्ण पा वारिक व्यवस्था किसी न किसी प्रकार संगठित है।

ब्राह्मणों के रचना काल में पुत्र के व्यक्तिगत अधिकार का सूत्रपात हु परिवार की सामूहिक सम्पत्ति में पुत्र अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने लगे तथा उस बँटवारा भी पिता के जीवित रहते ही कराने लगे। इसके विभिन्न प्रमाण प्राप्य तैतरीय संहिता में मनु के पुत्रों का उल्लेख है जिन्होंने अपने पिता के जीवित रहते आपस में पारिवारिक सम्पत्ति का बँटवारा कर लिया।[1] इसी प्रकार जैमिनीय ब्रा ने एक स्थल पर यह वर्णन किया गया है कि भाइयों ने परस्पर, अपने वृद्ध पित जीवन काल में ही, सम्पत्ति का बँटवारा कर लिया।[2] कुछ ऐसे भी प्रमाण मिल कि हिस्सा के लिए हिस्सेदारों में झगड़ा भी होने लगा। यह परस्पर एक दूसरे को दृष्टि से देखने लगे। इस सम्बन्ध में 'भ्रातृव्य' शब्द को ले सकते हैं। इस शब्द अर्थ वैदिक साहित्य में भतीजा से किया गया है।[3] इसका स्थान परिवार में पुत्र समान ही माना जाता था। यह पुत्रों के साथ दाय[4] के भी उत्तराधिकारी होते इनके उत्तराधिकारी होने के ही कारण सम्भवतः पुत्र, शत्रु एवं पापी आदि समझे थे। इसीलिए ब्राह्मण साहित्य में इस शब्द का प्रयोग शत्रु एवं पापी आदि अ हुआ है।[5] इससे यह सिद्ध होता है कि पुत्रों के उनके प्रति कलुषित भावना

---

१ ३, १, ९, ४।

२ ३, १५६,।

३ अथर्ववेद ५, २२, १२.।

४ दांय से अभिप्राय है परिवार की सामूहिक सम्पत्ति से। आगे इसकी व उत्तराधिकार के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से की जायगी।

५ शतपथ ब्राह्मण १, १, १, २१।

कारण इस प्रकार का शब्दार्थ किया गया। इसके साथ ही कुछ दूसरे सामाजिक, आर्थिक धार्मिक आदि कारण भी इस समय उपस्थित हो गए जिससे बटवारे को बल मिला।

ब्राह्मणों के बाद जब हम बौद्ध कालीन भारत तथा उसके बाद के युगों पर दृष्टिपात करते हैं तो बाह्य रूप से यही दिखाई पड़ता है कि उस समय का समाज संयुक्त परिवार प्रणाली पर आधारित था। पर इतना ठोस आधार आन्तरिक विवेचन से नहीं ज्ञात होता। इसका कारण यह था कि सम्पत्ति-विभाजन के नियमों को जहाँ एक ओर एक निश्चित स्वरूप दिया जाता था वहीं दूसरी ओर इसका व्यावहारिक पक्ष भी परिवार के बँटवारे में प्रयुक्त था। बँटवारे के सम्बन्ध में तथा सम्पत्ति के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में निश्चय किया गया, साथ ही बँटवारे का समय भी निर्धारित किया गया। समय के सम्बन्ध में भारतीय शास्त्रकार दो प्रकार का मत व्यक्त करते हैं। एक मत के अनुसार यह व्यक्त किया जाता है कि पिता की मृत्यु के बाद पुत्र परिवार की सम्पत्ति का बँटवारा कर सकते हैं तथा दूसरे मत के अनुसार पिता के जीवन काल में ही उन्हें बँटवारा करने का अधिकार दिया गया पर यह बंधन लगा दिया गया कि यह पिता की रुचि के अनुसार होना चाहिए[1] फिर भी गौतम युग धारा के इस विचार को पूर्ण मान्यता नहीं देते थे। इसी से इन्होंने कहा कि यद्यपि यह बँटवारे का अधिकार पुत्र को दिया गया है परन्तु जो पुत्र पिता के जीवन काल में ही बँटवारा करेगा उसे उसके श्राद्ध में भी आमन्त्रित नहीं किया जायगा। गौतम सब कहने के बाद भी इसी तथ्य पर पहुँचते हैं कि बँटवारा होना चाहिए, क्योंकि इससे धर्म कर्म में वृद्धि होती है। जहाँ सामूहिक परिवार से एक ही घर में धर्म कार्य होता हो वहाँ बँटवारे होते ही सभी सहउत्तराधिकारियों में धर्म कार्य प्रचलित हो जाता है।[2] यही बात आपस्तम्ब ने भी कहा।[3] इसके अतिरिक्त सम्पत्ति को भी विभिन्न प्रकारों में उसकी प्रकृति के अनुसार विभक्त किया गया यथा : परम्परागत सम्पत्ति; पिता द्वारा अर्जित सम्पत्ति; अन्य सदस्यों की वह सम्पत्ति जो परिवार के सहयोग से कमाई गई हो। इसके अतिरिक्त व्यापार एवं व्यवसाय की वृद्धि के कारण बहुत से लोग अपना घर एवं पैतृक सम्पत्ति छोड़-छोड़ कर अलग-अलग स्थानों में बसने लगे। गुप्तकालीन भारत की आर्थिक स्थिति के अध्ययन से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है। बौद्ध काल के बाद से

---

१ गौतम, १५, १९।
२ विभागेतु धर्म वृद्धि (१८, ४)।
३ आपस्तम्ब २, ११४।

ही विभिन्न व्यवसायिकों की अलग-अलग श्रेणियाँ[१] वनीं तथा इसी समय से व्यापार ... धर्मप्रचारार्थ लोग विदेशों की यात्रा करने लगे जिससे पश्चिमी प्रभाव भी उन ... पड़ने लगा। यह सभी कारण सिद्ध करते हैं कि बाह्य दृष्टि से इस समय (बौद्ध ... से हर्ष काल तक) जहाँ संयुक्त परिवार प्रणाली थी वहाँ विघटन का सांगोपांग स्वरू... जन्म ले चुका था।

इसके बाद पारिवारिक सम्पत्ति को बँटवारे के लिए दो दृष्टिकोणों से आं... गया। एक विचार के अनुसार सम्पूर्ण सम्पत्ति पर सम्पूर्ण सह-सम्बन्धियों (कोपा... नर्स) का जन्मजात अधिकार स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि गर्भस्थ बाल... का भी अधिकार उस पर स्वीकार किया गया है। अतएव वैधानिक दृष्टि में बाल... जब चाहे अपने हिस्से की माँग कर सकता है। परन्तु धर्म की दृष्टि से अनौचित्य हो... के कारण यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि जो पिता के जीवित रहते इस प्रकार के अधिका... के प्रयोग की याचना करता है वह पिता के श्राद्ध में भी नहीं बुलाया जायगा। चूंकि इसमें जन्मजात अधिकार स्वीकृत है अतएव इसे जन्मना स्वत्व का अधिकार कहते हैं। इस विचार के प्रणेता हैं विज्ञानेश्वर। दूसरे विचार के अनुसार सम्पत्ति का अधिकार परिवार का सबसे बड़ा व्यक्ति स्वीकार किया गया। इसमें चूंकि सबसे ऊपर के व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार किया गया है अतएव इसे उपयस्वत्व का सिद्धान्त कहते हैं। इसके प्रणेता जीमूतवाहन हैं। इस प्रकार जन्मनास्वत्व द्वारा भी परिवार के विघटन में बड़ी सहायता मिली।

मुसलमानो के आक्रमण के समय से अंग्रेजों के शासन काल तक यदि परिवा... के स्वरूप पर ध्यान दिया जाय तो यह ज्ञात होता है कि पुनः विघटन होता रहा। इनके आने के पूर्व हिन्दू समाज का स्वरूप विभिन्न विदेशी आक्रमणकारी तथा हूण आदि के आक्रमणों के कारण जर्जरित हो चुका था। इनके आक्रमण के परिणा... स्वरूप इस स्थिति को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। इसे रोकने के लिए हिन्दुओं ने जहाँ कट्टरता अपनाई वहीं कुछ हिन्दुओं ने बलात्कार शासन के भय से तथा प्रलोभन से स्वेच्छापूर्वक इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। चूंकि भारतीय रक्त की अशुद्धता नहीं सहन कर सकते थे अतएव इन्हें वंश बहिष्कृत कर दिया। इस समय जन्मनास्वत्व का प्रयोग बँटवारे में किया जाने लगा जिससे भूमि छोटी-छोटी इकाइयों में तथा अनुपयोगी जोतों में बँट गयी। इससे अब संभव नहीं था कि सभी परिवार के सदस्य भूमि पर निर्भर रह कर गाँव में ही रहें। अतएव वह घर से दूर-दूर व्यापार आदि के लिए जाकर बसने लगे। इसी समय अकाल तथा महामारी का भी प्रकोप हुआ जिसने

१ 'एकेन शिल्पेन ये जीवेत तेषाम् समूहः श्रेणी' (याज्ञ०)

बहुत से लोग घर छोड़ कर भागने लगे। मुसलमानों ने जनकल्याणार्थ दरिद्र गृहों (पुअर हाउसेज) का निर्माण किया। इससे बहुत से अपंगु तथा अकर्मंठ व्यक्ति अपना घर छोड़ कर इन्हीं केन्द्रों में रहने लगे। इस प्रकार के एक नहीं अनेक कारण इस समय समाज में ऐसे पैदा हुए कि परिवारों का संयुक्त स्वरूप यहाँ न रह सका परन्तु यह विघटित होते गए।

इस दिशा में विशेष प्रगति अंग्रेजों के शासन काल में हुई। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व ही औद्योगिक क्रान्ति पश्चिम में हो चुकी थी। अतएव इनके आगमन के साथ ही यह प्रवृत्ति भी भारत में आई। इसका परिणाम यह हुआ कि कुटीर उद्योगों का कोई महत्व नहीं रह गया जो पैतृक व्यवसाय था। लोगों का जीवन इन व्यवसायों के कारण दूभर हो गया। अतएव वह अपना व्यवसाय छोड़ कर गाँवों से बाहर निकल पड़े और उद्योग केन्द्रों में कार्य करने लगे। इसी के साथ श्रम विभाजन भी प्रारम्भ हो गया। अगणित व्यक्ति अपनी रुचि एवं योग्यतानुसार इन केन्द्रों में कार्य करने लगे जिससे किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण एवं स्वतन्त्र उत्पादन से विरत रहे। विदेशी यात्राएँ एवं विभिन्न प्रकार के कार्यों के प्रचलन के कारण श्रम की आवश्यकता पड़ी। इसलिए भी परिवार के अधिकांश सदस्य गाँव के बाहर खिंचते गए। जो जहाँ काम करता था वह वहीं बसता गया। इसी समय अंग्रेजी शिक्षा का भी प्रचलन हुआ जिसमें पश्चिमी विचार पिरोये थे। इस शिक्षा के कारण विदेशी विचारों का प्रभाव भारतीयों के विचारों पर पड़ने लगा। इसके कुछ ही पूर्व फ्रांस में रक्तरञ्जक क्रान्ति हुई थी जिसने समानता तथा व्यक्तिवादी भावना को बल दिया। अंग्रेजों ने पुनः भारतीय परिवार में विवाह करना भी प्रारम्भ कर दिया। इसी समय विदेश यात्रा प्रारम्भ हुई। इन विदेशयात्रियों को तथा उनके साथ विवाह करने वाले को परिवार बहिष्कृत मानते थे। इसी प्रकार के अनेक कारण इस समय ऐसे उपस्थित होते गए जिससे हमारा परिवार और भी अधिक विघटित होता गया।

यद्यपि आज वह युग पुनः प्रारम्भ हो रहा है जिससे सभी लोग गाँवों की ओर चले आ रहे हैं, सामूहिक खेती की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है, लघु उद्योग-धंधों पर फिर से बल दिया जा रहा है। यह सभी कारण ऐसे हैं जो एक बार फिर पूर्व संगठित परिवार प्रणाली को पुनः स्थापित कर सकेंगे।

परिवार के कार्य

परिवार के कार्य दो प्रकारों में विभक्त किए जा सकते हैं। एक प्रकार का वह कार्य जो जीवित रहने के लिए अनिवार्य हैं तथा दूसरे प्रकार के वे कार्य जो सामाजिक दृष्टि से समुन्नतिशील बनने के लिए अनिवार्य हैं। दूसरे अर्थ में एक वे कार्य

जिसके द्वारा मनुष्य का जीवन सम्भव होता है जैसे रक्षा, भोजन, वस्त्र आदि; दूसरे वह कार्य जिसके द्वारा उसका सामाजिक अभ्युदय होता है जैसे शिक्षा, सामाजिक नियन्त्रण, मनोरञ्जन, सम्पत्ति संरक्षण आदि।

अ. जीवित रहने के लिए आवश्यक कार्य

१. शरीर रक्षा—बालक के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता होती है शरीर की रक्षा की। उसका शरीर बड़ा ही कोमल होता है। थोड़ा सा भी परिवर्तन वह सहन नहीं कर पाता साथ ही उसे बुद्धि और शक्ति भी नहीं होती कि विपदाओं से अपने को बचा सके। इसलिए परिवार ही इस अवस्था में रक्षा करता है।

२. भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था—एक सामाजिक प्राणी भोजन के अभाव में तथा वस्त्र के अभाव में कुछ दिन ही जोवित रह सकता है। अन्यथा उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। इसकी व्यवस्था उसकी अशक्त स्थिति में परिवार ही करता है।

ब. सामाजिक अभ्युदय का कार्य

१. शिक्षा का कार्य—परिवार का कार्य है बालक को पढ़ने, लिखने तथा गणित की प्रारम्भिक शिक्षा देना। यहीं वह गिनती, शब्द, भाषा, लेखन आदि का ज्ञान प्राप्त करता है। इसीलिए सुदूर अतीत में प्रारम्भिक पाठशालाओं का पूर्ण अभाव था।

२. सामाजिक नियन्त्रण—परिवार ही वह प्रारम्भिक संस्था है जहाँ बालक सामाजिक प्रथाओं का पालन करता है। उसे यहीं यह शिक्षा मिलती है कि जहाँ वह परम्परा का निर्वाह करे वहीं विधर्मी परम्परा का बहिष्कार करे। इसे समाजशास्त्री के शब्द में सामाजिक नियन्त्रण कहते हैं।

३. सांस्कृतिक मनोरंजन का कार्य—बालक परिवार में ही खेलता है, मिल जुलकर प्रहसन करता है, बैठ कर हँसता-बोलता है आदि। इस प्रकार का सांस्कृतिक मनोरञ्जन यहाँ होता है।

४. धार्मिक कार्य—प्रत्येक प्रकार के धार्मिक कार्य परिवार में ही होते हैं। प्र धार्मिक भावना का स्थानान्तर उत्तराधिकार स्वरूप होता है, यहीं व्यक्तिगत रीति सभी धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं।

५. सम्पत्ति सम्बन्धी कार्य—परिवार ही सम्पत्ति को अर्जित करता है। स सदस्यों की अर्जित सम्पत्ति परिवार की सम्पत्ति कहलाती है और उनमें बाँटने विधान भी यही बनाता है।

इस प्रकार परिवार सामाजिक संस्था की वह लघुतम इकाई है जो व्यक्ति के जीवन सम्बन्धी तथा विकास सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। इसके इस प्रकार के एक नहीं अनेक कार्य हैं।

विघटन के कारण

ऊपर हमने परिवार के ऐतिहासिक सर्वेक्षण करते समय देखा कि वैदिक काल के बाद का इतिहास परिवार के विघटन का इतिहास है। परन्तु तब तक इसके विघटन के सम्बन्ध में हम पूर्ण परिचित नहीं होते जब तक विघटन के कारणों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन न कर लें। इस सम्बन्ध में अध्ययन करते हुए हम निम्नांकित कारणों की ओर आकृष्ट होते हैं—

अ. हिन्दुओं में धार्मिक कट्टरता

भारतीय इतने अधिक अपने धर्म में कट्टर हो गए थे कि वह दूसरे धर्म वालों को थोड़ी भी सुविधा नहीं दे सकते थे। अपने धर्म का भी व्यक्ति यदि थोड़ी सी भी चूक कर बैठे तो उसे भी विधर्मी घोषित कर देते थे और समाज बहिष्कृत कर देते थे।

ब. विदेशी आक्रमण के कारण रक्त की अशुद्धता

भारत में विदेशी आक्रमणकारी, जिनमें प्रमुख रूप से मुसलमान और अँग्रेजों को परिगणित किया जा सकता है, शासक बन गए और यहाँ के समाज में बलात्कार विवाह सम्बन्ध स्थापित करने लगे। दूसरी ओर हिन्दू रक्त शुद्धता के इतने कट्टर अनुयायी थे कि अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों को हेय दृष्टि से देखते थे तो विजातीय विवाह का क्या कहना। अतएव ऐसे सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यक्ति परिवार से निकाल दिए जाते थे।

स. औद्योगिक क्रान्ति

औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव भारत पर यह पड़ा कि विस्तृत पैमाने पर उत्पादन होने लगा। लघु उद्योगों को हेय दृष्टि से देखा जाता था। इनका भविष्य अन्धकारमय हो गया। अतएव लोग ग्रामों से हट कर औद्योगिक केन्द्रों में बसने लगे जिससे परिवार से उनका सम्बन्ध शीघ्र ही छूट जाता था और वह नया परिवार बसा लेते थे।

द. जन्मनास्वत्व का अधिकार

विज्ञानेश्वर ने जन्मनास्वत्व के अधिकार को स्वीकार किया। इसका

परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक खेत पर परिवार के प्रत्येक सदस्य का अधिकार होने लगा। इसके कारण जोत छोटी-छोटी और अनुपयोगी इकाइयों में बँट गया। अतएव गाँवों में केवल कृषि पर आधारित रहना एक परिवार के लिए सम्भव नहीं रहा। अतएव वह नगरों की ओर बढ़कर अलग-अलग स्थानों में बस गए।

य. अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव

अंग्रेजी साहित्य एवं शिक्षा का प्रचलन समाज में हुआ जिससे विदेशी विचारों से भारतीय भी अवगत हो गये। विदेशी भावना व्यक्तिवादी थी, अतएव बहुत से भारतीय इसी व्यवस्था की ओर झुके।

र. स्त्री परित्याग सम्बंधी नियम

इसी समय स्त्री परित्याग सम्बन्धी नियम बने। यद्यपि इनका स्थायित्व तो बहुत पुरातन काल से था पर केवल। सैद्धान्तिक रूप में ही जब अंग्रेज भारत में आए तो उन्होंने इस दिशा में व्यवस्थित विधान बनाया तथा नारी शिक्षा द्वारा उन्हें उकसाया। इसका परिणाम यह हुआ कि परिवारों की इकाइयाँ छोटी होने लगीं।

इस प्रकार अन्य विभिन्न कारणों के सम्मिलित प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि भारतीय संयुक्त परिवार प्रणाली विघटित हो गई।

अब तक के विवेचन के बाद इतना स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परिवार प्रणाली चिर पुरातन से आज तक अपने संयुक्त स्वरूप में विद्यमान है। भले ही वह सभी कारण यहाँ उत्पन्न हों जिनसे इसका विघटन संभव हो सका है। फिर भी इसका निर्धारित स्वरूप हमारी पारिवारिक व्यवस्था को वह स्वरूप नहीं प्रदान कर सका है जो इंगलैण्ड तथा अमेरिका के परिवारों का है। वहाँ के परिवार को जहाँ आज "व्यक्तिगत परिवार' कहते हैं। वहीं इतना विघटित होकर भी भारतीय परिवार संयुक्त ही हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि पहले की तरह कई पीढ़ियों तक के लोग अब इतने नहीं रहते पर इतना तो अवश्य ही है कि जिस किसी भी भाग के परिवार के सदस्यों का सर्वेक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि एक परिवार में पिता, माता, पुत्र, पुत्री, भाई, पुत्रबधू अवश्य ही एक साथ रहते हैं।[1] एक चूल्हे की पकी रसोई खाते हैं तथा एक ही मकान में निवास करते हैं।

ऊपर परिवार की विशेषताओं का अध्ययन करते हुए हमने देखा है कि परिवार की यह भी एक विशेषता है कि इसके सदस्य एक निश्चित विधि के अनुसार अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं। इसके साथ ही उनके जीवन को विभिन्न

---

१ हिन्दू सोसाइटी, के० डेविस, पृ० ४१९।

मान्यताओं में बाँध दिया गया है। अतएव इन सदस्यों की क्रियाओं का अध्ययन किए बिना परिवार का अध्ययन अधूरा रह जाता है। अतएव अब हम प्रत्येक सदस्यों के अधिकार एवं कर्तव्य से परिचित होने का प्रयास करेंगे।

पिता का परिवार में स्थान

पिता शब्द की व्युत्पत्ति सेण्ट पीटर्सबर्ग कोष के अनुसार ज्ञात होता है कि 'पा' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'रक्षा करना'। जैसा इसके अर्थ से ही स्पष्ट होता है पिता का कार्य है अपने परिवार के सदस्यों की रक्षा करना। यह रक्षा वह दो प्रकार से करता है: सामाजिक मर्यादा के सम्बन्ध में तथा शारीरिक विकास के सम्बन्ध में। इसीलिए सभी पुरातन ग्रंथों में परिवार में पिता के लिए बड़े ही समादृत स्थान का वर्णन है। पिता ही पुत्रों को प्रारम्भिक शिक्षा देता था। जब वह स्वयं किसी विषय का पारंगत विद्वान होता था तो उस विषय की विशिष्ट शिक्षा भी पिता ही देता था। अरुणेय स्वयं बड़ा विद्वान था, अतएव उसने अपने पुत्र श्वेतकेतु को भी विद्वान बना दिया। आज भी पिता बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा देता है। पिता का स्थान इतना समादृत है कि इसे अति गुरु की संज्ञा दी गई है। इसे माता तथा गुरु की कोटि में माना गया है। मनुस्मृति में भी कहा गया है 'पिता मूर्तिः प्रजापतयते'[१] अर्थात् पिता अपनी संतान के लिए आदर्श होता है। तैतरीय उपनिषद् में समावर्तन समारोह के अवसर आचार्य स्नातकों को उपदेश देते हुए कहते हैं 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव' अर्थात् पिता को और माता को देवता के समान मानो। यह सिद्ध करता है पिता का स्थान पुत्र के लिए देवता का होता है।

यदि हम रोम की सभ्यता में पिता के स्थान का अध्ययन करें तो स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि भारतीय सभ्यता, पैतृक परिवार सम्बन्धी पश्चिमी देश की रोमन सभ्यता की तुलना में कितनी अधिक विकसित थी। रोम में पिता पुत्र को कोई भी आज्ञा दे सकता था तथा उसे कोई भी दण्ड दे सकता था। यह अधिकार सिद्धान्ततः भारत में भी प्रचलित था। पर धन के सम्बन्ध में रोमन अधिनियम पिता को बड़ा ही नृशंस अधिकार प्रदान करता है। इतना नृशंस अधिकार दूसरी किसी भी सभ्यता को नहीं प्राप्त है। वहाँ यह विधान था कि पुत्र जो कुछ भी अर्जित करता है वह पिता का हो जाता है। इसके बाद वहाँ यह भी कहा गया कि यदि पुत्र ने किसी से ऋण लिया हो तो पिता को अधिकार था कि वह स्वयं उस ऋण का भुगतान न करे परन्तु ऋण दाता से कह दे कि वह उसके लड़के को ले जाकर जिस किसी भी प्रकार उचित हो अपने ऋण का भुगतान करा ले। केवल वही पुत्र जो राजकीय सैन्य

---

१ २, २२५।

विभाग में सेवा कर रहे थे अपने पिता के इस कठोर आज्ञा के अपवाद थे। फि- कभी भी भारतीय विचारकों ने इस प्रकार का नृशंस व्यवहार पुत्र के प्रति न किया। इसका कारण यह था कि पुत्र को एक धार्मिक यज्ञ माना जाता जिसके द्वारा पिता अपने सामाजिक एवं धार्मिक ऋणों से मुक्त होने का प्रया करता था। अतएव भारतीय परिवार में पुत्र बड़े आदर भाव से देखे जाते यदि उनके साथ कुछ कठोरता का भी व्यवहार किया जाता था तो कुछ वि परिस्थितियां में जिससे उसे इसकी कोई दुखद अनुभूति न हो।

फिर भी कुछ विशेषाधिकार पुत्र के शारीरिक, चारित्रिक, धार्मिक एवं आ अधिकारों पर पिता का व्याप्त होता था। अतएव यह पूर्ण समीचीन है कि पिता पुत्र पर क्या अधिकार था इसका अलग-अलग अध्ययन किया जाय।

अ. दण्ड देने का अधिकार

पिता को यह अधिकार था कि वह अपने पुत्र को चाहे जिस प्रकार का द दे। इस सम्बन्ध में उसके अधिकार का यह कारण स्वीकार किया गया है पुत्र प्रजनन एवं पोषण पिता ही करता है। महाभारत में कहा गया है कि पिता को अ कार है कि अपने पुत्र को पलाश के दण्ड से अथवा रस्सी से ठीक रास्ते लाने के लिए कभी-कभी दण्ड दे। परन्तु केवल पीठ पर ही मारने का आदेश दि गया है, क्योंकि कहा गया है मुख पर मारने से उतावलेपन में यदि क अनुचित स्थान पर चोट लग जाय तो उसका व्यक्तित्व ही बिगड़ जायगा।[1] इ प्रकार की एक कथा रिजराश्व की है। उसके पिता ने रिजराश्व को भेंड़ चर के लिए भेजा था परन्तु बहुत सी भेड़ें उसके गिरोह से गायब हो गई। लिए उसके पिता ने उसे अन्धा बना दिया। 'रिजराश्वं तम् पिता अंधं चकारा:'। तक ताड़ना का अधिकार है उस सम्बन्ध में सोलह वर्ष तक की आयु तक के बालक पर पिता के इस अधिकार की मान्यता मिली है।[2] दूसरे देशों में प्राण दण्ड तक देने की मान्यता मिली थी। रोम में इस प्रकार के अधिकार पिता के हाथों को पुष्ट किया गया था। पर जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि एक धार्मिक यज्ञ का होता माना जाता था, इसलिए उसे कहीं भी भारतीय साहि में इस प्रकार के अधिकार के पीछे नहीं बाँधा गया है। ऊपर के अधिकार सं अध्ययन से तो यहाँ तक ज्ञात होता है कि पिता को यद्यपि पीटने का अधिकार फिर भी एक निश्चित सीमा में कुछ निर्धारित मान्यताओं के अन्तर्गत।

---

१ महाभारत, १३, १००४, ३७; मनु, ४, २९९–३००।

२ वही।

ब. आज्ञा देने का अधिकार

पिता के ही द्वारा पुत्र होता है, इसलिए पुत्र पर सदा पिता का अनियन्त्रित अधिकार स्वीकार किया गया है। वह कोई भी आज्ञा अपने पुत्रों को दे सकता और पुत्र को यह अधिकार नहीं है कि उसकी आज्ञाओं में किसी भी प्रकार का ननुनर्च लगावे। उसको ज्यों का त्यों पालन करना धर्म होता था। इस सम्बन्ध में परशुराम की एक कथा आती है। परशुराम के पिता ने उनको यह आदेश दिया कि वह गौ-हत्या करें। चूँकि पिता चाहते थे कि वह गोहत्या करें अतएव उन्होंने पिता के आदेश पर गोहत्या किया यह जानते हुए कि अधर्म है परन्तु पिता की आज्ञा को टाल नहीं सकते थे, अतएव ऐसा करना पड़ा। माता की हत्या निकृष्ट मानी गई है। इसे जानते हुए भी परशुराम को यह पाप भोगना पड़ा क्योंकि पिता ने इसके लिए इन्हें आज्ञा दिया था। पुनः पिता की ही आज्ञा के कारण सगर यज्ञ का घोड़ा खोजते हुए पाताल खोदते रहे। पिता के आदेश के कारण वह यहाँ तक पृथ्वी खोदते गए कि वह उन पर गिर पड़ी और दब कर उनका प्राणान्त हो गया। इसी प्रकार भीष्म ने अपने पिता से प्रतिज्ञा किया था कि वह कभी विवाह नहीं करेंगे, अतएव उन्होंने जीवन पर्यन्त विवाह ही नहीं किया। इसी प्रकार की एक कथा आती है जिसमें एक पिता ने अपने बालक को आदेश दिया था कि तुम अपनी माँ की हत्या करो। बालक यह विचार करने लगा कि इस सम्बन्ध में पिता का आदेश कहाँ तक मान्य है अतएव उसे देर हो गई। इसलिए उस बालक का ही नाम चिर-कारिन अर्थात् देर से काम करने वाला रख दिया गया। इसीलिए मनु ने कहा है कि 'गुरोराज्ञा परो धर्मः'। यहाँ गुरु से अभिप्राय है माता, पिता एवं गुरु से। आज्ञा पालन की महत्ता भारतीय समाज में इतनी अधिक स्वीकार की गई है कि इससे विरत होने वाले व्यक्तियों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। विश्वामित्र एवं ययाति को इसीलिए कुख्याति मिली थी कि उन्होंने पिता की आज्ञाओं का उल्लंघन किया था।[१]

स. दान देने का अधिकार

भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने पिता को यह अधिकार दिया है कि वह अपने द्वारा प्रजनित बालक को चाहे जिसे भी दान दे। इसीलिए गोद लेने की प्रथा में जैसा आगे पुत्रों के प्रकार के सम्बन्ध में अध्ययन करते हुए देखेंगे कि पिता को ही एक मात्र यह अधिकार है कि अपने पुत्र को जिसे उचित समझे गोद दे सकता है। उसके अभाव में माता तभी गोद दे सकती है जब वह पिता

---

१ शुक्रनीति, ३८–८५।

की अनुमति प्राप्त कर चुकी है। यदि पिता की मृत्यु हो गई हो तो माता इसी निश्‍चय के बाद ही गोद दे सकती है जब उसे यह दृढ़ विश्‍वास हो कि उसके पति जीवित रहते तो उनकी इसमें कोई आपत्ति नहीं होती। इस प्रकार पिता के सम्बन्धी अधिकार की बात स्पष्ट हो जाती है। इसी सम्बन्ध में कठ उपनिषद् एक कथा का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसके अनुसार कोई विस्वजित यज्ञ रहा था। उस समय उसका लड़का पढ़ने गया था। विधानतः इस यज्ञ में पिता लिए कुछ भी नहीं रखते हैं, सब कुछ पुरोहित को दान दे देते हैं। ऐसा ही उसने किया। जब उसका बालक विद्यालय से लौटा तो उसने देखा कि पिता ने सब दान में दे दिया है तो उसने पूछा कि आपने मुझे किसको दिया है। पर पिता चुप परन्तु बालक जब कई बार इस प्रश्‍न की आवृत्ति करता रहा तो क्रोध से पिता ने कि मैंने तुमको यम को दिया है। इतना सुनना था कि यम के यहाँ पहुँचने के बालक जाकर एक खाई में कूद गया और अपना प्राण त्याग दिया। यद्यपि उ निष्ठा देख कर पीछे अश्‍विनाकुमारों ने उसे चंगा कर दिया।

द. बेचने, दान देने और छोड़ देने का अधिकार

रोम और यहूदी सभ्यताओं में यद्यपि यह बात प्रचलित थी कि पिता पुत्र को बेच सकता था। पर भारतीय सभ्यता में वाह्य रूप से यह बात कुछ जंचती नहीं तथा इसका प्रयोग भी तभी हुआ होगा ऐसा विश्‍वास ही नहीं होता। परन्तु भी वैदिक काल के अध्ययन से इस बात की प्रामाणिकता का ज्ञान होता है। ऐ ब्राह्मण के ३३वें अध्याय में एक धनलोलुप पिता की कथा आती है जिसने केवल गाँवों के लोभ में ही अपने मझले पुत्र शुनःशेप को बेंच दिया तथा दो बार गौवों के लोभ में उसे बाँध कर मारने को भी उद्यत हुआ यद्यपि वह अपने सुकर्म फलस्वरूप बच गया। परन्तु इस प्रकार का प्रसंग आकस्मिक है। अतएव मैकडा एवं जिम्मर आदि विद्वानों ने इसे क्षेपक माना है। आगे जब हम पुत्रों के प्रकार के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह प्रथा प्रचलित थी क्योंकि प्रकार का पुत्र ऐसा भी माना गया है जो खरीदा जाता था।

जो भी हो जहाँ तक छोड़ देने की बात है इस सम्बन्ध में हम पुत्र प्रकार का अध्ययन करते हुए इसी अध्ययन में देखेंगे किस एक प्रकार का पुत्र ऐसा है जिसे 'अपविद्ध' कहते हैं। यह पुत्र जब अपने पिता एवं माता द्वारा निकाल जाता है तब दूसरा कोई भी इसे लेकर इसका पालन-पोषण करता है। दान के सम्बन्ध में तो ऊपर चर्चा की जा चुकी है। नारद ने कहा है कि जो स्थान का प्रजा पर होता है वही स्थान पिता का पुत्र पर होता है। वशिष्ट ने आगे कहा पिता बालक को घर से भगा सकता है तथा बेच सकता है।

परन्तु इस अधिकार के पालन की यथार्थता के सम्बन्ध में बड़ी ही कटु आलोचनाएँ की गई हैं। आपस्तम्ब ने स्पष्ट रूप से कहा है कि बालक के सम्बन्ध में दान और क्रय का अधिकार पिता को नहीं है। वशिष्ट ने भी आपस्तम्ब के साथ इस अधिकार को स्वीकार नहीं किया है। जैमिनी ने यहाँ तक कहा है कि यद्यपि विश्वजित यज्ञ में परिवार का सर्वस्व पुरोहित को दे दिया जाता है इसका अर्थ यह नहीं है कि इतना दे दिया जाय कि पुत्र और स्त्री भूखों मरें। याज्ञवल्क ने कहा है कि तुम दान दे सकते हो परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परिवार की जीविका को ही दान दे दिया जाय। नारद ने इसलिए उस प्रकार के दान को अस्वीकार किया है जिससे परिवार दरिद्रता की स्थिति को प्राप्त हो जाय।

य. सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी

पिता अपने जीवन काल में परिवार के सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी होता है। वह पूर्वजों द्वारा प्राप्त सम्पत्ति का संरक्षक होता है। अपनी अर्जित सम्पत्ति का पूर्ण स्वामी होता है। बालक, नौकर और स्त्री जो कुछ भी कमाते हैं वह उसी का होता है। इसीलिए मनु, नारद, मिताक्षरा, महाभारत आदि सभी ने एक स्वर से कहा है—'भार्या पुत्रश्च दासस्च त्रय एवाधनः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्।' (मनु—८,४१६; महाभारत—२, ७१, १) यह कुछ ठीक उसी प्रकार प्रतीत होता है जैसे रोमन संविधान का अधिनियम। उसे यह छूट दी गई है कि परिवार के अभ्युदय के लिए, धार्मिक कार्यों के लिए पैत्रिक सम्पत्ति का, जिसका वह संरक्षक है, चाहे जिस प्रकार उचित हो वह खर्च करे। साथ ही सब अर्जित सम्पत्ति पर भी उसका पूर्ण अधिकार स्वीकार किया गया है।

जहाँ तक सिद्धान्त में बँटवारे का प्रश्न है भारतीय विचारकों ने पारिवारिक सम्पत्ति पर जन्मनास्वत्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार गर्भ से ही परिवार की सम्पत्ति में बालक का अधिकार भारत में स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु फिर भी व्यवहार में यह वर्जित है कि वह तब तक बँटवारा करने के लिए उद्यत हो जब तक पिता जीवित है। जो व्यक्ति पिता के जीवित रहते हुए सम्पत्ति में बँटवारे का सवाल उठाता है उसे पिता के श्राद्ध में भी भाग लेने से वर्जित किया जाता है।

पुनः व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी इस समय स्वीकार किया गया। नारद, विष्णु, कौटिल्य सभी ने इस प्रकार की सम्पत्ति को स्वीकार किया है। इस सम्पत्ति से हमारा अभिप्राय है वह धन जो व्यक्तिगत परिश्रम से कमाया गया हो। पर इसकी व्याख्या कुछ विशिष्ट है। एक वैद्य जिसने बिना किसी पारिवारिक सहायता के वैद्यक की शिक्षा प्राप्त किया तथा वैद्य होकर धन कमाने लगा उसकी सम्पत्ति व्यक्तिगत सम्पत्ति की कोटि में परिगणित की जायगी ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार

परिवार को सहायता से पढ़े वैद्य की सम्पत्ति। परन्तु पहले प्रकार की व्यक्ति सम्पत्ति जिसमें परिवार का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कोई भी सहयोग नहीं रहा है परिवार के सदस्य भाग नहीं ले सकते पर जो परिवार के सहयोग द्वारा क जाता है उसका आधा भाग परिवार के सदस्यों में विभाजित कर दिया जाता

इस प्रकार पिता का अधिकार, हमने देखा कि, पुत्र के ऊपर विभिन्न दृ कोणों से व्याप्त है। पर यह एकपक्षीय अध्ययन है क्योंकि अधिकार की कर्तव्य के बिना महत्वशून्य हो जाती है। इसलिए यहाँ यह भी अध्ययन क आवश्यक है कि पिता के कर्तव्य पुत्र के प्रति क्या हैं।

कर्तव्य

अ. भरण-पोषण करना

भारतीय धर्मशास्त्रों में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि बा चाहे वैध हो अथवा अवैध उसका प्रजनन पिता से हुआ है। अतएव उनके पो का कर्तव्य पिता को ही है। मनु ने कहा है कि चाहे अनुचित प्रकार के सं कार्य भले ही पिता को करना पड़े फिर भी उसका धर्म है कि वह उसके भी अपने बालक का पोषण करे।[1] अवैध सम्बन्ध का दण्ड माता-पिता मिलना चाहिए, निरीह बालक को नहीं। इसीलिए पुत्रों में बँटवारे के सम्बन्ध भारतीय हिन्दू अधिनियम में तेरहों प्रकार के पुत्रों के भरण-पोषण का अधि स्वीकृत है।

ब. पालन एवं संक्षरण करना

पिता का कर्तव्य है कि वह अपने संतान का पालन करे और ज बालक नादान रहे तब तक वह उनका संरक्षण करे। यह पिता के पुत्र के स्वाभाविक प्रेम से ही सम्भव है। संस्कारों में जातकर्म, पुंसवन आदि संस्का प्रकार के कर्तव्य के प्रमुख प्रमाण हैं। इसीलिए पितृ ऋण का बोझ पिता पर गया कि वह बालक का केवल प्रजनन मात्र ही न करे परन्तु उसके साथ भरण-पोषण करे एवं उपयुक्त शिक्षा दे। लड़कियों का संरक्षण पिता अपने स्वयं करता था।

स. बालक का विवाह करना

लड़के और लड़की दोनों का विवाह करना पिता का ही कर्तव्य था। के लिए उपयुक्त वर खोजना और रीति रिवाज द्वारा विवाह करना पिता के

---

१ मनुस्मृति, ९, ११।

था। मनु ने विवाह की आयु आदि के सम्बन्ध में व्याख्या करते हुए कहा है कि यदि शादी अवधि से देर में निश्चित हो तो पिता ही उसका दोषी होता है। यही बात याज्ञवल्क आदि ने भी कहा है।

इस प्रकार परिवार में पिता के व्यापक अधिकार के साथ संलग्न कुछ कर्तव्य भी हैं।

माता का परिवार में स्थान

भारतीय परिवार नारी प्रधान नहीं था। यहाँ पुरुषों की विशेष प्रतिष्ठा होती थी। माता का इस दृष्टिकोण से कोई महत्व का स्थान विधानतः नहीं है। पर भारत एक धर्मप्रधान देश है। यहाँ के निवासी पितरों पर विशेष श्रद्धा रखते हैं और उन्हें इस भूतल पर देवता सदृश्य ही मानते हैं। इस दृष्टिकोण से अवश्य ही भारत में चिर अतीत से आज तक माता का पद समादृत रहा है और रहेगा। माता को भारतीय विचारक 'जाया' भी कहते हैं क्योंकि यही बालक को जन्म देती है। इसलिए उसको बालक का सर्वप्रिय हितैषी माना गया है। ऊपर हमने तैतरीय उपनिषद का आदेश वाक्य स्नातकों के सम्बन्ध में देखा कि 'मातृदेवो भव'।

प्रायः विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में माता के गौरवगान का उल्लेख है। वैदिक काल का उदाहरण हमने ऊपर ही किया है। महाभारत में माता का वर्णन बड़े ही धार्मिक शब्दों में किया गया है—'नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः। नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया' (१२,२६६,३१)। इसी प्रकार विभिन्न स्मृतिकारों ने भी माता का बहुत ऊँचा पद बताया है। साहित्यिक ग्रंथों में भी इसी प्रकार का महत्वपूर्ण वर्णन माता के सम्बन्ध में प्राप्य है। कालिदास के ग्रंथ इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। पुनः भारत में यद्यपि पितृहन्ता सम्राटों की बड़ी ही न्यूनता है, फिर भी इतिहास के पृष्ट एक-दो इस प्रकार के सम्राटों का उल्लेख करते ही हैं। परन्तु शायद ही यहाँ एक भी ऐसा उदाहरण मिले जिसमें मातृहन्ता व्यक्ति का उल्लेख हो। यदि एक दो हैं भी तो दन्तकथाओं में।

अधिकार

माता का व्यावहारिक दृष्टि से केवल एक अधिकार का ज्ञान प्राप्त होता है, वह है अपनी संतान के विवाह के विषय में निर्णय करना। यद्यपि शास्त्रकारों द्वारा इनके लिए प्रयुक्त अर्धांगिनी शब्द से यह स्पष्ट होता है कि माताएँ भी इसी प्रकार अधिकार रखती थीं जैसे पिता। पर दोनों में यह अन्तर था कि पिता अपने अधिकारों का प्रयोग करता था, उसे इसकी मान्यता थी क्योंकि समाज पितृ प्रधान था। परन्तु माताएँ न उनका प्रयोग कर सकती थीं और न उन्हें अधिकार ही था। ऋग्वेद के समय से ही विवाह सम्बन्धी अधिकार का प्रयोग ये करती

थीं क्योंकि श्यावाश्व की इच्छा दार्भ की कन्या के साथ पाणिग्रहण करने की थी पर कन्या की माँ ने श्यावाश्व के गरीब होने के कारण इस सम्बन्ध को इन्कार कर दिया।

कर्तव्य

माता का कर्तव्य था बालक का पोषण। परन्तु इसकी पूर्ति कर्तव्य की दृष्टि से नहीं की जाती थी। वात्सल्य-प्रेम से विह्वल होकर वह इसके निमित्त में अनेक प्रकार की यातनाएँ और कष्टों के होते हुए भी आनन्द का अनुभव करती थी।

उनका दूसरा कर्तव्य था बालक को प्रारम्भिक शिक्षा देना। गौतम ने अपने धर्मसूत्र में कहा है कि 'आचार्यः श्रेष्ठः गुरुणां मात्येतके' (२, ५६) अर्थात् आचार्यों में श्रेष्ठ गुरु माता है। इसी प्रकार वशिष्ठ ने भी धर्मसूत्र में कहा है कि "उपाध्यायाद्दशश्चार्य आचार्याणांशतं पिता। पितुर्दशशतं मातागौरवेणातिरच्यते।" (१३,४८) अर्थात् दस उपाध्यायों से आचार्य श्रेष्ठ है, सौ आचार्य से पिता श्रेष्ठ है तथा सहस्र पिता से माता श्रेष्ठ है। इसी प्रकार महाभारत में भी कहा गया है 'माता परमेको गुरुः, नास्ति मातृसमो गुरु' (१२, १०८, १८)।

माता के प्रति पुत्र का कर्तव्य

जब हम इसके साथ पुत्र का कर्तव्य माता के प्रति अध्ययन करते हैं तो इसकी महत्ता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। अथर्ववेद में ही कहा गया है कि 'मात्रा भवतु सम्मनाः' (३, ३०, २)। अर्थात् माता के मन के अनुकूल होकर रहो। धर्मसूत्रों में इसके साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि माता के पतिता होने पर भी उसके भरण-पोषण का कर्तव्य पुत्र का ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि माता चाहे कैसी भी हो उसका भरण-पोषण करना पुत्र के लिए अनिवार्य था। वशिष्ठ धर्मसूत्र में कहा गया है कि पिता यदि पतित हो तो पुत्र उसे छोड़ सकता है परन्तु माता पुत्र के लिए कभी पतित नहीं होती। शंखलिखित ने यह बताया है कि यदि माता और पिता में परस्पर विरोध हो गया हो तो पुत्र का कर्तव्य है कि इस बीच में न पड़े।

इस प्रकार माता का स्थान भारतीय परिवार में सदा से बड़ा ही ऊँचा और श्रद्धापूरित माना गया है।

पति का परिवार में स्थान

ऊपर ही हमने देखा है कि भारतीय परिवार एक पूर्ण पितृ प्रधान परिवार है। इसलिए इस परिवार में पुरुषों का प्रत्येक क्षेत्र में सदा स्त्रियों की अपेक्षा अधिक आदर रहा है और वह बना रहेगा। यही स्थिति पति एवं पत्नी के सम्बन्ध में पति की है। पति का अर्थ है रक्षा करना। चूंकि यह अपनी स्त्री का संरक्षक होता है इसी

इसे पति कहा जाता है। भारतीय सभ्यता के क्रमशः विकास के साथ-साथ इसकी स्थिति में परिवर्तन होता गया। पहले अवस्था प्राप्त अर्थात् प्रौढ़ विवाह की परम्परा थी। परन्तु पीछे यह स्थिति समाप्त होती गई और विवाह की अवस्था में नारियों की कमी होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि पति का जो स्थान उन्होंने पहले आँका था वह क्रमशः ऊँचा होता गया। वैदिक काल में तथा बौद्ध काल तक दोनों एक पथ के दो सहचारी पथिक के रूप में स्वीकार किए जाते थे; परन्तु ६०० ई० पू० के बाद इनकी अवस्था कम हो गई और यह कहा गया कि बारह वर्ष के लगभग इनका विवाह कर दिया जाय। इसलिए उनका विद्यालय का अध्ययन समाप्त हो गया। अब उनका विद्यालय उनका पति-गृह, गुरु, पति तथा पाठ्यक्रम पति के गृह का कार्य बन गया। अतएव अब तक के पति का सखा स्थान बदल कर स्त्री के लिए गुरु का स्थान बन गया। परन्तु स्मृतिकारों ने कहा कि आठ और दस वर्ष के भीतर ही विवाह कर देना चाहिए क्योंकि इसके बाद वह रजस्वला हो जाती हैं और इसी समय पुराण के रचयिताओं ने यह अवधि घटाकर चार वर्ष कर दिया। अतएव उनके लिए ज्ञान का, धन का, शिक्षा का तथा कल्याण का एक मात्र माध्यम पति बन गया। अतएव अब पति ने देवता का सा स्थान आदर और श्रद्धा में अपनी पत्नी के हृदय बना लिया। यही स्थान तब से आज तक किसी न किसी रूप में पति का पत्नी के हृदय में व्याप्त है।

पति के इस प्रकार स्थान के कारणों पर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों की आयु में कमी के कारण उनकी बुद्धि पूर्ण विकसित नहीं होती थी कि वह किसी भी बोझ का विरोध कर सकें। परम्परागत रूप से पुरुषों का प्रभुत्व समाज में चला आ रहा था, अतएव स्त्रियाँ यह दुस्साहस नहीं कर सकती थीं कि इस परम्परा का विरोध करें। शिक्षा और उपनयन दोनों ही व्यवस्थाएँ बन्द कर दी गईं, इसलिए उनका संसार केवल आँगन तक ही सीमित हो गया। इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से नारियों का केवल सैद्धान्तिक अधिकार मात्र था, अतएव इस बंधन से बंधित होकर उन्हें पति का मुंह देखना पड़ता था।

१. शासन का अधिकार

भारतीय धर्मशास्त्रों ने जहाँ पति को पत्नी का देवता माना है वहीं यह स्वतः स्वीकृत हो जाता है कि पति की प्रत्येक आज्ञाओं को समुचित रूप से पत्नी को पालन करना होता था। वह घर का मालिक होता था, अतएव पत्नी को उसकी अधीनता में रहना होता था। इस बात की पुष्टि हरदत्त से होती है, जिन्होंने

आपस्तम्ब धर्मसूत्र पर टीका करते हुए लिखा है कि 'वह घर में वैसे ही स्वतन्त्र है जैसे राष्ट्र में राजा'।[१]

२. बेचने तथा दान देने का अधिकार

पुरातन काल में स्त्रियों को क्रय-विक्रय की सामग्री माना जाता था। यद्यपि यह व्यापक रूप से प्रचलित तो नहीं था परन्तु बहुत अंशों में यह व्याप्त था। महाभारत में इस प्रकार के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। इसी प्रकार स्त्रियों के दान देने का भी वर्णन महाभारत में चार स्थलों पर किया गया है जहाँ दाता तो अलग-अलग व्यक्ति हैं पर दान लेने वाला एक ही व्यक्ति है वशिष्ठ। इसी प्रकार बेंचने के सम्बन्ध में हम द्रौपदी का उदाहरण ले सकते हैं जिसे दाँव पर रखा गया।[२]

३. हत्या का अधिकार

बहुत-सी सम्यताओं में पति पत्नियों की हत्या कर सकता था। परन्तु जहाँ तक भारतीय नारियों की बात है वे कभी अशुद्ध नहीं मानी गई हैं। यहाँ तक कि व्यभिचार करने के बाद भी वे मासिक तक ही अशुद्ध रहती हैं, उसके बाद वे शुद्ध हो जाती हैं। इसीलिए उन्हें कभी भी हत्या करने का अधिकार भारतीय पतियों को नहीं दिया गया है।

४. पीटने का अधिकार

पुरातन रूप में श्वसुर अपने दामाद को एक कोड़ा विवाह के समय देता था जो युगल की सोने वाली चारपाई के सामने टँगा होता था। इससे यह सिद्ध होता है कि यह दण्ड के अधिकार के लिए दिया जाता था। जर्मनी में एक इसी प्रकार की कहावत भी प्रचलित थी कि 'नारियाँ और गधे पीटने के लिए ही हैं' (वीमेन एण्ड ऐसेस इक्जिस्ट ओनली टू बी बीटेन)। पुनः इंगलैण्ड में भी इसी प्रकार की बात प्रचलित थी। यह सिद्ध करता है कि पुरातन विश्व में नारियों को पीटा जाता था। महाभारत में भी कहा गया है कि पलाश दण्ड से अथवा रस्सी से स्त्रियों को पीटना चाहिए पर उनके मुख पर नहीं पीठ पर जिससे उनका व्यक्तित्व न बिगड़े। परन्तु इस प्रकार के अमानुषिक व्यवहार के युग में जहाँ विश्व में उपर्युक्त प्रकार का कठोर व्यवहार नारियों के साथ किया जाता था वहाँ यदि केवल सौ

---

१ **आपस्तम्ब धर्मसूत्र।**

२ **महाभारत—२, ३३, ५२; ४, ७२, २६।**

३ **हिन्दू परिवार मीमांसा—१०५.।**

न्तिक रूप से नारियों को पीटने का अधिकार ही दिया गया तो कोई अनुचित नहीं है।

५. परित्याग का अधिकार

मनु ने कहा है कि पुरुष को अधिकार है कि वह अपनी पत्नी का परित्याग कर दे। परित्याग की विभिन्न परिस्थितियों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। उनके अनुसार यदि पुरुष और स्त्री के विचारों में यदि मेल न बैठे, यदि उनमें से कोई भी छूत के रोग से पीड़ित हो, धोखा देकर शादी करा दी गई हो आदि। इसका विस्तृत विवरण नारी की अवस्था के अध्याय में दिया जायगा।

६. आर्थिक अधिकार

पुत्र के ऊपर पिता का अधिकार बताते हुए बताया गया है कि नारी, नौकर और पुत्र जो कुछ भी अर्जित करते हैं वह उसी का होता है जिसके अधीन वह होते हैं। इससे स्त्रियों का अपना धन नहीं होता था। उन्हें भले ही अर्धांगिनी कहा गया है पर आर्थिक क्षेत्र में इस प्रकार का समान अधिकार नहीं था। यहाँ तक कि परिवार के बँटवारे में स्त्री का एक भाग होता था पर उस पर भी पति का ही एकमात्र स्वत्व रहता है। अतएव स्त्री-धन छोड़ कर स्त्रियों के सर्वस्व पर पति का ही अधिकार होता है। पति की अनुपस्थिति में ही स्त्री सम्पत्ति का कोई भाग विशिष्ट आवश्यक कार्य के लिए बिना उसकी आज्ञा के व्यय कर सकती है।

१. **भरण का कर्तव्य**—अथर्ववेद में पाणिग्रहण के प्रथम श्लोक में ही पति द्वारा यह प्रतिज्ञा की जाती है कि पत्नी हमारे द्वारा पोषणीय है (१४,१,५२)। इसको भर्ता भी कहते हैं इसलिए कि यह पत्नी का भरण करता है। जो व्यक्ति इस कर्तव्य से अलग रहता है उसे राजा को दण्ड देने का अधिकार राजा को दिया गया है। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा कि चाहे पति को चोरी भी करना पड़े, कुछ बुरे कार्य भी करना पड़े फिर भी किसी न किसी प्रकार पोषण करना उसका धर्म है।

२. **रक्षा का कर्तव्य**—पति शब्द का अर्थ है रक्षा करना। चूंकि वह रक्षा करता है अपनी स्त्री की इसी से उसे पति की संज्ञा दी जाती है। पति के ऊपर पत्नी के रक्षण का भार इसलिए सौपा गया था कि स्त्रियाँ समाज की सबसे कोमल अंग होती थीं और उनका सीधा सम्बन्ध पति से ही होता है। महाभारत में विदुर ने कहा कि आपत्ति के लिए धन को बचाना चाहिए और धन से स्त्री को बचाना

चाहिए (५, ३७, १८)। इसी ग्रंथ में आगे यह भी कहा गया है कि जो पुरुष स्त्री के रक्षण में असमर्थ है वह महान नारकीय है तथा अपयश का भागी बनता है (१४, ९०, ४५)।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पति का अधिकार पत्नी पर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से अबाधित था यद्यपि उसके कर्तव्य बड़े ही न्यून बताए गए हैं।

पत्नी का परिवार में स्थान

भारतीय दृष्टिकोण में स्त्रियों का सदा आदरपूर्ण स्थान रहा है। यह दा प्रचलित बात है कि 'नार्यस्तुयत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।' ठीक इसी प्रकार गृहणी के सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है कि ईंट और पत्थर का बना हुआ घर जिसमें गृहणी न हो घर नहीं है वरन् उससे अच्छी वृक्ष की छाया है जिसके नीचे पति पत्नी सहित निवास करता हो। स्त्रीहीन घर तो आरण्यरोदन के समान बताया गया है।

पहले पत्नी का स्थान समाज में ऊँचा था परन्तु पीछे जैसे-जैसे विवाह की अवधि में कमी होकर बाल-विवाह की ओर समाज बढ़ता गया वैसे ही नारी की स्थिति बिगड़ती गई क्योंकि पति का स्वामित्व उसके प्रत्येक कार्यों पर होने लगा। विवाह की अवधि धीरे-धीरे नीचे की ओर होती आई और क्रमशः वह अवनत होती गई। वैदिक काल में इन्हें अर्धांगिनी कहा जाता था, विवाह होते ही पिता इन पर घर का दायित्व सौंप देता था, इनके अभाव में मनुष्य अयज्ञ होता था फिर शीघ्र यह व्यवस्था बदल गई।

१ गृह की व्यवस्था करना

पत्नी का सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह पति के उचित कार्य करे, सास-श्वसुर की सेवा करे, प्रसन्न मुद्रा में रहे, भोजन आदि की व्यवस्था रखे, पति को सलाह दे, परिवार के व्यय का नियोजन करे, पुत्रों की देख-रेख करे, नौकरों के साथ उचित व्यवहार करे, वस्त्रों की सफाई करे आदि। इस प्रकार घर-गृहस्थी का पूर्ण बोझ सम्भाले। आन्तरिक मामलों में नारी का ही कर्तव्य होता था।

२. संयत जीवन व्यतीत करना

बिना पति की आज्ञा के अथवा परिवार के श्रेष्ठ व्यक्तियों के आदेश के घर के बाहर न जाना चाहिये, रात को देर तक नहीं घूमना चाहिए, अपने भाई तथा बाप के साथ भी रात्रि में देर तक वार्तालाप नहीं करना चाहिए, बुरी स्त्रियों का साथ नहीं रखना चाहिए आदि अच्छी स्त्रियों के लिए उपयोगी बातें बताई गई हैं। पुनः मनु ने छः निषेध बताया है—मदिरा पीना, बुरे व्यक्तियों के साथ रह

पति से दूर रहना, घूमना, दिन में सोना तथा दूसरों के घर घूमना (९, १३)। इस प्रकार बड़ा ही संयत जीवन इन्हें व्यतीत करना पड़ता था। पातिव्रत एवं सतीत्व का बड़ा महत्व स्वीकार किया गया है।

३. पति-सेवा

वाल्मीकि रामायण में सीता ने यह स्वीकार किया है कि पति की सेवा के समान न कोई दूसरा तप है, न व्रत है, न धर्म और देवपूजन है। महाभारत, स्मृतिकार आदि सभी ने इसी पर वल दिया है। इस आदर्श का वड़ा सुन्दर स्वरूप सीता, पार्वती आदि ने प्रस्तुत किया है जो कोमलांगी होने पर भी पति की कठोर यातना और तपस्या में उसके साथ रहीं। सीता ने राम के साथ चौदह वर्ष वन-वास किया और कठिनाइयाँ झेलीं जिनके कोमल अंग कभी राज प्रासाद के बाहर कष्टमय मार्ग पर जाने के कभी अभ्यासी नहीं थे।

४. आज्ञा पालन

जब हमारे यहाँ मनीषियों ने कहा कि पति की सेवा का धर्म स्त्रियों का है तो अब यह अवशिष्ट ही नहीं रह जाता कि आज्ञा पालन उनका धर्म था। याज्ञवल्क ने यह स्वीकार किया है कि स्त्री का यह परम धर्म है कि वह अपने पति की आज्ञाओं का पालन करे (१, ७७)। पुनः महाभारत में भी कहा गया है कि चाहे पति की आज्ञा वैधानिक हो अथवा अवैधानिक पर उसका पालन स्त्री को बिना विचारे करना चाहिए।

पति-पत्नी का परस्पर सम्बन्ध

मनु ने इस सम्बन्ध में कहा है कि जीवनपर्यन्त मतैक्य का होना हीं दाम्पत्य जीवन का महत्व है। यही संक्षेप में मानव के वैवाहिक जीवन का सर्वोच्च धर्म है। जब एक वार वे प्रेम रज्जु में बँध जायँ तो उन्हें कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि वह एक दूसरे के विरोधी हो सकते हैं तथा सर्वदा पारस्परिक सहयोग से ही उन्हें कार्य करना चाहिए। इसीलिए समाजशास्त्री ग्रौविक ने कहा है कि स्थायी और अविच्छेदनीय मैत्री की चेतना ही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। इस प्रकार यदि साम्य स्तर पर हम परिवार की स्थिति का विचार करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि श्रेष्ठ की प्राप्ति करना तथा बालकों का कल्याण साधन ही यथेष्ट है।

धर्म शास्त्रकारों ने एक विवाह की प्रथा को बल दिया है और यह विधान किया कि जीवनपर्यन्त उनको दूसरे के विषय में नहीं विचारना चाहिए। यदि एक की मृत्यु भी हो जाय तो दूसरे को उसकी स्मृति में अपना शेष जीवन व्यतीत करना

चाहिए। रघुवंश में महाकवि कालिदास ने राम और अज के सम्बन्ध में इसी प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किया है। इसीलिए पति का कर्तव्य है कि अपनी पत्नी को सन्तुष्ट रखे तथा उसका समुचित आदर करे। इसी बात की पुष्टि मनु, याज्ञ० वात्स्यायन तथा महाभारत के द्वारा होती है। इसीलिए मनु ने कहा है—

संतुष्टोभार्यया भरता, भरतरा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

अर्थात् जिस कुल में स्त्री से पुरुष तथा पुरुष से स्त्री सन्तुष्ट हो उस घर में निश्चित हो कल्याण होता रहता है। यह इसलिए कहा गया है कि जीवन में केवल एक विवाह का महत्व है।

परन्तु दूसरे स्थान पर आपत् काल में दूसरे विवाह के भी महत्व को स्वीकार किया गया है। धर्मशास्त्रकारों ने ही यह कहा है कि वह मनुष्य आ० है जो विवाह नहीं करता और संतति का प्रजनन नहीं करता। इसलिए उसे पूर्ण हो० के लिए संतान का प्रजनन आवश्यक है। परन्तु यदि पत्नी बाँझ हो तो उस परिस्थि० में मनु ने यह आदेश दिया है कि वह पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। वात्स्यायन ने० यहाँ तक कहा है कि यदि पत्नी को विश्वास हो जाय कि वह बाँझ है तो स्वयं उ० अपने पति को उकसाना चाहिए कि वह दूसरा विवाह कर ले। परन्तु दूसरी किसी परिस्थिति में इस प्रकार का आदेश अमान्य है।

शुक्र, कात्यायन, मनु, बालमीकि सभी ने इस बात को स्वीकार किया है धार्मिक संस्कारों से संस्कारित जब कोई स्त्री किसी को सौंप दी जाय तो उस० धर्म नहीं है कि पत्नी का परित्याग करे। उन्हें इस बंधन को इतना अधिक क० बनाना चाहिए कि केवल इसी जीवन में ही नहीं परन्तु दूसरे जीवन में भी सम्बन्ध बना रहे। जहाँ तक परित्याग की बात है कौटिल्य के अनुसार यह केवल पैशाच राक्षस, आसुर एवं गांधर्व विवाह में ही लागू होता है।

पति अपनी पत्नी का स्वामी होता है। यदि वह नीच और विधर्मी भी जाय तब भी स्त्री का कर्तव्य है कि उसकी सेवा-सुश्रूषा करे। इसी के साथ पुरुष के लि० भी यह कहा गया है कि उसे कभी उसका विरोधी नहीं बनना चाहिए। इसी० पति उसका संरक्षक माना जाता है। उसका कार्य है संरक्षण और भरण; इसी से उ० नाम भी है क्रमशः पिता एवं भर्ता। यदि पति इनमें से किसी भी कार्य को रूप से करने में असमर्थ हो जाय तो वह अपना नाम खो देता है। इसी प्रकार प० को भी जाया कहते हैं क्योंकि स्वयं पुरुष बालक के रूप में अपनी स्त्री के गर्भ जन्म लेता है। इसी प्रकार पत्नी के साथ उसे विशेष अनुराग रखना चाहिए।

सामान्यतया सभी धर्मशास्त्रकारों का यही मत है कि यदि पुरुष किसी स्त्री का हाथ एक विशिष्ट संस्कार में पकड़ ले तो उसका धर्म हो जाता है कि उसके साथ सहृदयता, कोमलता और दया का व्यवहार करे तथा जो उचित हो उसे करे। इसी प्रकार परिवार के दूसरे व्यक्तियों को भी उसके साथ व्यवहार करना चाहिए क्योंकि वह नई सदस्या होती है जो एकदम नवीन वातावरण में लाई जाती है। उसे इसके उपयुक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रति ऐसा व्यवहार किया जाय जिससे उसे इसकी अनुभूति न हो कि वह कहीं दूसरे स्थान पर है। इसीलिए महाभारत के अनुशासन पर्व में यह कहा गया है कि पत्नी को प्रसन्न रखने से गौरव की देवी को प्रसन्न रखा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि घर में शान्ति रहने से जीवन गौरवपूर्ण एवं सुखी रहता है। महाभारत के आदि पर्व में भी कहा गया है कि पुरुष के लिए पत्नी अर्धांगिनी होती है, उसकी सखा होती है तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की साधना होती है। यदि वह किसी कारण से थोड़ा क्रोधित भी हो जाय तब भी उसके साथ कभी किसी को अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए।

पुरुष को सदा अपनी पत्नी से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए और सदा ऐसे कार्यों से स्वयं को विरत रखना चाहिए जिससे शान्ति भंग की आशंका हो। यही कथन महाभारत के शान्तिपर्व में भी मिलता है। उसे कभी अपने सम्बन्धियों से उलझना नहीं चाहिए। उसे सदा आत्मनियन्त्रण रखना चाहिए, बुरी भावनाओं का परित्याग करना चाहिए तथा विचारों पर नियंत्रण रखना चाहिए। अपने बड़े भाई को पिता के समान, पत्नी तथा पुत्र को अपने शरीर के समान और दासों एवं भृत्यों को छाया के समान समझना ही जीवन का धर्म बताया गया है। इसीलिए महानिर्वाण-तन्त्र में कहा गया है कि साध्वी एवं पतिव्रता स्त्री को कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए चाहे वह कष्ट में ही क्यों न हो। उसे कभी पीटना नहीं चाहिए पर मातृवत सदा रक्षा करनी चाहिए। सीता ने इसीलिए वशिष्ठ के यह कहने पर कि राम के बनवास के समय वह अयोध्या में ही रहें सीता ने कहा कि विवाह हो जाने पर पत्नी पति की आत्मा में समा जाती है, इसलिए उन्हें छोड़ कर मैं अकेली घर में कैसे रह सकती हूँ। इस बात की प्रतिज्ञा विवाह संस्कार में होने वाली क्रिया सप्त-पदी में दुहराई जाती है।

इस प्रकार कार्य करते हुए तथा उपर्युक्त धर्म का पालन करते हुए पति को पत्नी में और पत्नी को पत्नी में एक दूसरे के प्रति अटूट श्रद्धा उत्पन्न करके कार्य करना चाहिए।

पुत्र का परिवार में स्थान

विवाह के समय पुरुष यही कामना करता है तथा देवताओं से वरदान माँगता है कि 'उसे पत्नी के साथ पुत्र भी दे।[१] पुरोहित भी यही आशीर्वाद देता है[२] तथा कुलजन भी इसी प्रकार का अशीर्वचन ध्वनित करते हैं।[३] गृहस्थाश्रम की पूर्णता ही इसके बिना नहीं है[४] और साथ ही परिवार की वास्तविक परिभाषा कि व्यक्ति घिर जाय इसके अभाव में पूर्ण नहीं होती।[५] मानव पर पड़े हुए ऋण के बोझ जिनसे वा सदा उऋण होने का प्रयास करता है बिना पितृ यज्ञ के पूर्ण नहीं हो सकता है और पितृ यज्ञ है सन्तानोत्पादन।[६] पुनः पुत्र शब्द का अर्थ है जो मनुष्य को नरक से तारे और मोक्ष ले जाय।[७] चूँकि वह पिण्ड दान करता है, पिता की मृत्यु पर उसके शरीर पर तर्पण करता है तथा उसकी कुकृत्तियों के लिए प्रायश्चित करता है, श्राद्ध करता है, इस प्रकार अनेक उपायों से पिता के तारने का सदा प्रयास उसका पुत्र करता है जिससे वह 'पुत्र' शब्द से सम्बोधित होता है। मनु ने इसीलए कहा है कि वह पिता को मोक्ष में ले जाने का एक मात्र साधन हैं।[८] महाभारत में कहा गया है कि पारिवारिक आनन्द के लिए पुत्र परिवार का एक अत्याज्य अंग है। आदिपर्व में कहा गया है कि चंदन की लकड़ी का मादक और कोमल स्पर्श तथा पत्नी एवं जल की शीतलता उतना आनन्द नहीं प्रदान कर सकती जितना गोद में पड़े हुए बालक का सुख।[९] पुरातन काल में समाज आर्थिक दृष्टि से असम्पन्न था। श्रम का अभाव था पूँजी का नहीं, अतएव श्रम के अभाव की पूर्ति के लिए बालकों के प्रजनन का महत्व आर्थिक दृष्टि से बड़ा ही समीचीन था। साथ ही इस समय देश पर विदेशी आक्रमण होने लगे थे। विदेशियों से रक्षा के लिए यह आवश्यक था कि सैन्य शक्ति सबल हो। अतएव जनसंख्या में वृद्धि राजनीतिक दृष्टिकोण से भी वांछनीय था। उप-

---

१ ऋ० १०, ८५, ४३।
२ अथर्व० १४, १, २२।
३ ऋ० १०, ८५, ४४।
४ शतपथ ब्राह्मण ५, २, १, १०।
५ शतपथ ब्राह्मण ५, २, १, १०।
६ देखिए 'पुरुषार्थ' पाठ ३ इस पुस्तक का। ऐतरेय ब्राह्मण ३३, १।
७ हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन्स।
८ मनुस्मृति।
९ महाभारत आदि पर्व—१, ७४, ५७–५९।

र्युक्त सभी कारण ऐसे हैं जिनसे पुत्र का स्थान किसी भी प्रकार टाला नहीं जा सकता। इसीलिए, जैसा हम 'नारी व्यवस्था' पाठ में देखेंगे कि, जब तक स्त्रियाँ अपुत्रवती होती थीं तब तक उनका परिवार में कोई आदर नहीं होता था पर पुत्र होते ही उनकी महत्ता बढ़ जाती थी। आज भी कुछ पिछड़ी जातियों में यह व्यवस्था जीवित है।

कर्तव्य

पुत्र के कर्तव्य के सम्बन्ध में ऊपर ही पिता के स्थान के सम्बन्ध में विचार करते हुए चर्चा की जा चुकी है। जो पिता का अधिकार बताया है जैसे दण्ड देना, आज्ञा देना, पीटना आदि वह सभी पुत्र के पक्ष में कर्तव्य बन जाते हैं। हाँ, एक कर्तव्य की चर्चा नहीं हुई है, वह है भरण-पोषण करना। प्रायः सभी स्मृतिकार इसी बात पर बल देते हैं कि पिता का भरण-पोषण करना ही बालक का कर्तव्य है। जो इससे वंचित होने का प्रयास करता है वह महान पातकी है। उसके लिए विभिन्न मात्रा में दण्ड का विधान किया गया है: मनु ने ६०० पण, आपस्तम्ब ने २०० पण, याज्ञवल्क ने १०० पण आदि।[१] भगवान बुद्ध ने भी इसे स्वीकर किया है और इस आशय का उपदेश दिया है।[२] नारद ने कहा है कि आठ वर्ष के पूर्व बालक का अलग व्यक्तित्वं नहीं रहता क्योंकि वह पूर्ण बालक की स्थिति है। आठ से सोलह वर्ष की आयु में वह पौगण्ड कहलाता है जब वह अर्ध स्वतन्त्र रहता है। उसके बाद वह वयस्क हो जाता है। इस समय उसका अस्तित्व एवं व्यक्तित्व दोनों ही स्वतंत्र हो जाते हैं। इस समय यदि उसके पिता जीवित हों, उनके बाल सफेद हो चले हों, दाँतें टूट गये हों फिर भी उसे अलग अपना व्यक्तित्व नहीं बनाना चाहिए परन्तु पिता की अधीनता में ही रहकर उनकी आज्ञाओं के अनुसार सम्पूर्ण कार्य का निर्वाह यथेष्ट होता है। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि पिता के जीवन काल में ही बालक को अधिकार है कि भूमि का बटवारा कर अलग हो जांय। पर इस अधिकार के होने पर भी उसे कभी भूमि का बटवारा नहीं करना चाहिए। पुत्र का कर्तव्य बताया गया है कि पिता वृद्ध हो और माता भी; स्त्री साध्वी न हो तथा पुत्र बरबाद करने वाला हो गया हो फिर भी उसका पोषण किसी न किसी प्रकार करना चाहिए।

इसी समय यह भी स्वीकार किया गया कि पिता के अभाव में परिवार का दायित्व बड़े पुत्र पर ठीक उसी प्रकार चला जाता है जैसे पिता पर रहता है।

---

१ हिन्दू परिवार मीमांसा, हरदत्त वेदालंकार, पृ० २३३।

२ बुद्ध चरित, पृ० २७८।

वही उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। छोटे भाइयों की शिक्षा-दीक्षा एवं विवाह की व्यवस्था, बहनों के विवाह का बोझ, माता और दूसरे सदस्यों के भरण का कर्तव्य पारिवारिक सम्पत्ति के संरक्षण और धार्मिक कार्यों के सम्पादन का दायित्व लड़के पर चला जाता है। विवाह के व्यय की पूर्ति के लिए यह विधान किया गया कि सम्पूर्ण सम्पत्ति का $\frac{1}{4}$ भाग अलग निकाल कर तब बँटवारा करना चाहिए और उसी से विवाह की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि यह धनराशि कम पड़े तो सम्पूर्ण सम्पत्ति का और भी भाग लिया जा सकता है। बड़े भाई के इन कार्यों के लिए यह नियम बना कि इसे इसके हिस्से से $\frac{1}{2}$ भाग अधिक दिया जायगा जिससे परिवार में महत्व तथा उसके श्रम का उचित पारितोषिक उसे प्राप्त हो जाय।

पुत्र के प्रकार

भारत में पुत्रों का बड़ा महत्व है। इस महत्व की चर्चा इसी संदर्भ में ऊपर दी गई है। इस महत्व के कारण ही पिता प्रायः अपनी अस्वस्थता अथवा माता की अस्वस्थता के कारण जब संतति प्रजनित नहीं कर सकता था तब भिन्न रीतियों से दूसरे के संतति को जिनमें केवल पुत्र होते थे, अपना पुत्र बना लेता था। यहाँ 'दूसरे की संतति' एक व्याख्यात्मक वाक्य है। इसमें प्रायः दूसरे परिवार के बालक को सम्मिलित किया जा सकता है परन्तु कभी-कभी इस प्रकार की भावना से प्रेरित कि उसमें पितृ अथवा मातृ पक्ष का रक्ताभाव है पिता पत्नी द्वारा दूसरे के सहयोग से उत्पन्न पुत्र को भी अपना पुत्र मान लेता था। इस प्रकार पुत्रों की संख्या भारतीय धर्मशास्त्रों में बारह मानी गई है जिसमें केवल एक ही पुत्र ऐसा है जो पिता और माता के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है और शेष में कुछ केवल मातृ पक्ष से सम्बन्धित हैं और कुछ दूसरे परिवार से। देवल ने इसकी संख्या तेरह बताई है और उसको निम्नांकित कोटियों में विभक्त किया है:—

(१) दत्तक, कृत्रिम, क्रीत, स्वयंदत्त और अपविद्ध—यह अवैधानिक पुत्र हैं जिनका सम्बन्ध न माता से होता है और न पिता से बल्कि दूसरे परिवार से जो विभिन्न रीतियों द्वारा अपना लिये जाते हैं।

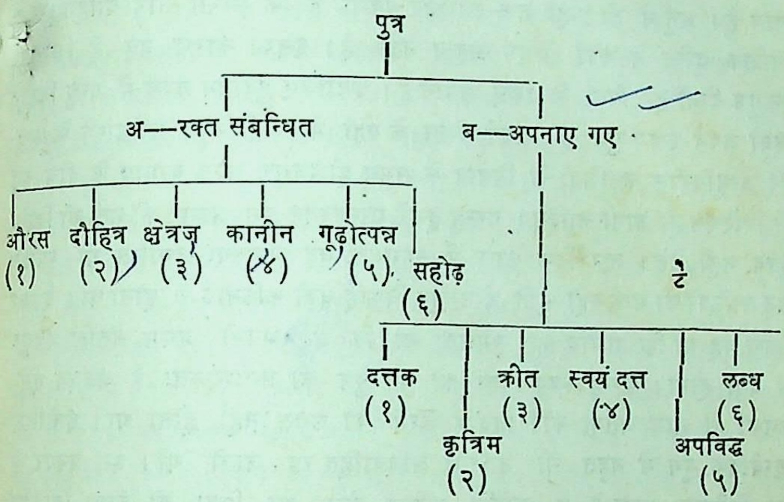
(२) पुनरभव और शौद ठीक उसी प्रकार से वास्तविक पुत्र हैं जैसे औरस और दौहित्र पर वह अपनी स्थिति में इसकी अपेक्षा नीचे होते हैं।

(३) गूढ़ज, सहोढ़ तथा कानीन पुत्र भी इसी प्रकार के हैं पर इनका स्तर कुछ नीचे है।

(४) क्षेत्रज को परज की कोटि में रखा गया है।

इस प्रकार का भेद केवल देवल से ही नहीं मिलता पर महाभारत और बौद्ध साहित्य में भी इसी प्रकार का भेद व्याप्त है।

साधारणतया धर्मशास्त्रों में हम निम्नांकित बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख पाते हैं जो सामान्य रूप से हिन्दू परिवार में अपनाये जाते हैं :



अ. रक्तसंबधित पुत्र

इस प्रकार के पुत्र से हमारा अभिप्राय है उन पुत्रों से जिनमें किसी न किसी प्रकार माता अथवा पिता का रक्त सम्मिलित हो।

(१) **औरस**—यह पुत्र अन्य सभी पुत्रों में श्रेष्ठ है। इस पुत्र का प्रजनन नियमतः विवाहित दम्पति के वैधानिक सम्पर्क से होता है। इसी पुत्र का अधिकार अन्य प्रकार के पुत्रों की स्थिति में प्रधान होता है। यही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता है जब कि दूसरे प्रकार के पुत्रों को इसके सामने केवल भरण-पोषण भर प्राप्त करने का अधिकार होता है। इसकी पुष्टि वृहस्पति ने की है। मनु ने कहा है है कि यदि बुरी नौका मिल जाय तो मनुष्य बड़ी कठिनाई से फल प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार औरस पुत्र के रहने पर अन्य पुत्रों का कोई फल नहीं होता। यदि औरस पुत्र एक सोपान नीचे की स्त्री से अनुलोम विवाह द्वारा उत्पन्न हुआ हो तब भी वह वही स्थान ग्रहण करता है।

(२) **दौहित्र**—इस शब्द की उत्पत्ति दुहिता से हुई है, अतएव दुहिता अर्थात् लड़की के पुत्र को जब नाना अपने वास्तविक पुत्र के अभाव में ले लेता है तो वह दौहित्र कहलाता है। इसका स्थान पुत्र संख्या क्रम में कहीं दूसरा है और कहीं तीसरा। मनु ने उसे औरस पुत्र के समान ही बताया है, अतएव इसका स्थान दूसरा रखा है। गौतम ने इसे दसवें स्थान पर रखा है। महाभारत तथा ऋग्वेद (१,१२४) में भी

इस प्रकार के पुत्र का वर्णन मिलता है। वास्तव में औरस पुत्र के अभाव में यहं उसका वास्तविक पूरक है। याज्ञवल्क के अनुसार पुत्री का पुत्र अपने औरस पुत्र के हं समान है। मनु ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि औरस और दौहित्र पुत्र सापेक्षिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। इसका कारण यह है कि पु और पुत्र दोनों ही पिता के लिए समान हैं। इसीलिए पुरातन काल में बन्धु विहं स्त्रियाँ अपने प्रथम पुत्र को अपने पिता के यहाँ भेज देती थीं। धर्मशास्त्र के अ सार बन्धुविहीन लड़कियों के विवाह के समय ही श्वसुर और दामाद के बीच य शर्त निश्चित हो जानी चाहिए। परन्तु दूसरे शास्त्रकार इस प्रकार की शर्त को विशे महत्व नहीं देते। ऋग्वैदिक काल में सम्भवतः यह व्यवस्था प्रचलित थी क्योंकि जिन नारियों को भाई नहीं होते थे उनका विवाह बड़ी कठिनाई से होता था। इसक कारण यह था कि दामाद यह समझता था कि उसे अपनी प्रथम संतति श्वसुर को देनी होगी। परन्तु स्वयं पिता को भी पुत्र की आवश्यकता है अतएव ऐसी स्त्रियों से सामान्यतया कोई विवाह करने को उद्यत नहीं होता था। इसीलिए ऋग्वैदिक युग में बहुत सी नारियाँ अविवाहित रह जाती थीं। इस प्रकार के पुत्र द्विपित्रक कहलाते थे क्योंकि उनका जन्म का पिता तो होता ही था परन्तु नाना उसका धर्म का पिता बन जाता था। इसीलिए यास्क ने भाई के अभाव वाली बहनों से विवाह की मनाही की है। वशिष्ट ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि यदि किसी की केवल लड़कियाँ ही हों तो वही उसके लिए पुत्र समझी जायगी।

३. **क्षेत्रज**—क्षेत्रज का अर्थ है जो क्षेत्र से जन्म लिया हो। इसे क्षेत्रज इसलिए कहते हैं कि नारी को क्षेत्र माना गया है। चूंकि नारी का ही रक्त पितृ और मातृ पक्ष की ओर से इसमें विद्यमान होता है अतएव यह क्षेत्रज अर्थात् क्षेत्र से उत्पन्न बताया जाता है। इसे पुनः नियोग प्रथा द्वारा उत्पन्न पुत्र भी कहते हैं। अब नियोग प्रथा के विषय में यदि हम परिचित हो जायँ तो क्षेत्रज का अर्थ स्पष्ट हो जायगा। यह प्रथा पहले प्रचलित थी यद्यपि बीच में रुक गई परन्तु फिर भी आज तक कुछ निम्न जातियों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

जब स्त्री का पति बिना पुत्र उत्पन्न किए ही मर जाता है तब उस स्त्री के सतीत्व की रक्षा के लिए, मानसिक संतुलन के लिए, काम वृत्ति की शान्ति के लिए, भावी जीवन के संरक्षण के लिए विधानतः उसे यह अधिकार दिया गया है कि वह इस प्रथा द्वारा पर सम्पर्क से पुत्र प्रजनित करा सकती है।[1] स्मृतियों ने कहा है कि पुरोहित

---

१ गौतम, १४, ४–८।

को ही यह अधिकार है कि पति के मरने के बाद इस प्रथा के लिए उपयुक्त व्यक्ति चुने।[1] पर उसे चाहिए कि वह किसी उसके स्वजन को ही चुने। इस सम्बन्ध में यह भी निर्देशित है कि पहले उसके पति के छोटे भाई को चुनना चाहिए जो उसका उत्तराधिकारी बनता है। उसके अभाव में समीपस्थ और तब दूर का रक्त सम्बन्धी नियत करना चाहिए, उसके भी अभाव में उसके गोत्र के किसी भी व्यक्ति का चुनना चाहिए और इसके भी अभाव में किसी ब्राह्मण को चुनना चाहिए।

इस प्रकार का पुत्र अपने पिता तथा माता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है। इसके साथ ही साथ यह अपने प्रजनन कर्ता के पुत्र के अभाव में उसका भी उत्तराधिकारी बनता है। अतएव इस प्रकार का पुत्र 'द्विपित्रज' कहलाता है। रक्त प्रेम के कारण नियोग प्रथा को बल मिला। यह प्रथा भारत की अपनी कोई विशिष्ट देन नहीं है पर अतीत काल में स्पार्टा, यहूदी, इंगलैण्ड आदि देशों में भी अपनायी जाती थी। हैमलेट की माँ तथा कैथेराइन का जीवन इसका स्पष्ट प्रमाण है। इसका प्रचलन वैदिक काल में पूर्ण रूप से था, इसीलिए ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि गोद लिया हुआ पुत्र कोई पुत्र नहीं है। महाभारत में पाण्डु तथा अर्जुन का जन्म इसी प्रथा के अनुसार हुआ था। पुनः महाभारत में विचित्रवीर्य की कथा आती है जो बिना संतति प्रजनित किए हो मर गया था। यद्यपि भीष्म थे परन्तु उन्होंने विवाह न करने की प्रतीज्ञा की थी। इसलिए कि परिवार का क्रम चले यह आवश्यक था कि नियोग प्रथा का अनुसरण किया जाय। पाण्डु को श्राप मिला था कि उनसे कोई पुत्र उत्पन्न नहीं होगा, अतएव उन्होंने कुन्ती को इस बात के लिए बाधित किया कि वह नियोग प्रथा द्वारा पुत्र उत्पन्न करे।

३०० ई० पू० के बाद इस प्रथा का विरोध होने लगा। आपस्तम्ब ने कहा कि नियोग द्वारा प्रजनित पुत्र प्रजननकर्ता का होता है। इसलिए इसका कोई महत्व नहीं है। बौद्धायन ने भी इन्हीं के मत का समर्थन किया है। नारद इस प्रथा को घृणित दृष्टि से देखते हैं। हारीत के अनुसार इस प्रकार के पुत्र को पारिवारिक सम्पत्ति के १/८ वें भाग का ही अधिकार है। औप जंघनी जो श्वेत यजुर्वेद के अध्यापक थे इस प्रथा के विरोध में थे। मनु ने भी विरोध ही प्रकट किया है। उन्होंने कहा है कि यह एक पशुवत प्रथा है जो राजा वेण के साम्राज्य में प्रचलित थी। इसको स्वीकृति केवल इसी बात पर वह देते हैं कि जिस स्त्री को विवाह के लिए चुना गया हो और विवाह के पूर्व ही उसके पति की मृत्यु हो गई हो। पराशर ने केवल इतना स्वीकार किया है कि नियोग द्वारा प्रजनित पुत्र केवल सहायक पुत्र होता है।

---

१ वशिष्ठ धर्मसूत्र, १७, ५६–६५।

सिद्धान्ततः पत्नी को चाहिए कि पति की मृत्यु के एक वर्ष के बाद इस व्यवस्था को स्वीकार करे। परन्तु विधवा की इच्छा के विरुद्ध इस प्रथा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इस प्रथा में नियत व्यक्ति स्त्री के परिवार में कोई भाग नहीं ले सकता था। पर शर्त यह लगाई गई कि यह प्रथा तभी व्यवहार में लाई जाय जब किसी विधवा को कोई भी पुत्र न हो।

अब समस्या यह उठती है कि कितने पुत्र इस प्रथा द्वारा प्रजनित करना चाहिए। बलिराज ने सत्रह पुत्र उत्पन्न किया था, धृतराष्ट्र ने सौ, महाकाव्य में इस प्रकार के सैंतीस पुत्रों का उल्लेख है। इससे यह प्रकट होता है कि अतीत काल में इसकी कोई सीमा नियत नहीं थी। क्षत्रिय परिवार में बड़ी संख्या में इसे लोग उचित समझते थे। इसका कारण सम्भवतः यह था कि बाल-मृत्यु की संख्या इस समय अधिक थी। परन्तु पीछे इसकी संख्या में कमी आ गई। गौतम ने कहा 'न द्वितीयं' किया कि कुन्ती की बहन ने भी इस प्रथा द्वारा केवल एक पुत्र को प्रजनित किया जब कि कुन्ती के लिए पाण्डु ने कामना की थी कि उसे तीन इस प्रकार के पुत्र हों।

(४) **कानीन पुत्र**--पुरातन युग में भी लड़कियाँ जब क्वारी होती थीं तो उसी समय गर्भवती हो जाती थीं। इस प्रकार के गर्भ से जो अविवाहित अवस्था में ही उत्पन्न पुत्र कानीन कहलाता है। इसका कारण यह था कि समाज में प्रौढ़ विवाह का प्रचलन था। उस समय तक जो स्त्रियाँ अपने को नियंत्रित नहीं रख सकती थीं वह इस प्रकार गर्भवती हो जाती थीं। इसी प्रकार के एक पुत्र हैं करण। इस प्रकार के पुत्र को सहायक पुत्र माना जाता है। यह औरस पुत्र के समान परिवार की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता है पर केवल अपनी जीविका भर को ही वह प्राप्त कर सकता है। परन्तु यदि किसी को औरस पुत्र न हो तो उस स्थिति में ही केवल इस प्रकार का पुत्र अपना अधिकार अपने पिता की सम्पत्ति पर पूर्णतया रख सकता है।

ऊपर के इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार उत्पन्न सन्तति का पिता वही होता है जो उसकी माँ से विवाह कर लेता है। पर ऐसी बात नहीं है। इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों में ही स्वयं बहुत मतभेद है। याज्ञवल्क के अनुसार इस प्रकार का पुत्र नाना का होता है। यही विचार वशिष्ठ का भी है। परन्तु दूसरे यथा विष्णु एवं नारद का कथन है जो उसकी माँ से विवाह करेगा यह पुत्र उसी का होगा नाना का नहीं। परन्तु इससे जब संकट की आशंका हुई तो नारद ने उदार दृष्टिकोण अपनाया कि जो पुरुष उसकी माँ से विवाह करे और बालक को ग्रहण करने को तैय्यार नहीं हो तब ही वह बालक नाना को दिया जायगा। यदि इस प्रकार पुत्रवती

होने पर उसकी माँ विवाह न करे तब वह पुत्र अपनी माँ के साथ नाना के यहाँ ही रहता है।

इस प्रकार की प्रथा वैदिक काल से ही प्रचलित थी। अथर्ववेद में इस पुत्र का विवरण मिलता है। वाजस्नेय संहिता में भी इस प्रकार के पुत्र का उल्लेख है पर उसे पुत्रिकापुत्र के नाम से संबोधित किया गया है। महाभारत में कुन्ती के पुत्र करण के जन्म का एक विचित्र विवरण मिलता है। सूर्य द्वारा कुन्ती गर्भवती हुई परन्तु वह अपनी रुचि से गर्भवती नहीं थी वरन् सूर्य की शक्ति से जिसके विरुद्ध वह कुछ भी करने का दुस्साहस नहीं कर सकती थी। अतएव यह भी विधान बनाया गया कि बलात् यदि किसी स्त्री को गर्भवती बनाया जाय तो वह पुत्र भी मान्य होता है।

(५) **गूढोत्पन्न** जब किसी स्त्री का विवाह हो जाय और उसके बाद भी वह दूसरे पुरुष से प्रेम करती रहे तथा इस अवैध सम्बन्ध द्वारा उसे जो पुत्र होता है वह गूढ़ोत्पन्न कहा जाता है। इस प्रकार नामकरण का कारण यह है कि पति के लिए फिर भी यह गूढ़ बना रहता है कि यह पुत्र उसका है अथवा किसी और का। भारतीय अधिनियम में इस प्रकार के पुत्र को औरस माना गया है। धर्मशास्त्रों में इस प्रकार की छूट दी गई है कि यदि दम्पति को संतान न हो तो वह इस रीति को अपना सकते हैं। वह पैत्रिक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी तब तक रहता है जब तक पिता को कोई अपनी संतान न हो। जब अपने पुत्र का जन्म हो जाता है तब औरस केवल भरण-पोषण भर के लिए ही प्राप्त करता है।

(६) **सहोढ़** प्रायः ऐसा होता है और होता था कि विवाह के संस्कार से संस्कारित होने के पूर्व लड़कियाँ उसी प्रेमी से सहवास करती थीं जिससे पीछे उनका विवाह होता था। इस सहवास के कारण उन्हें अविवाहित अवस्था में ही अपने वास्तविक पति से जो पहले उसका प्रेमी होता है पुत्र उत्पन्न हो जाता है। चूंकि यह पुत्र तो औरस के ही समान है पर विधिवत दम्पत्ति के संस्कारित होने के अभाव में उस पुत्र का प्रजनन उसकी स्थिति को औरस की अपेक्षा कुछ हेय बना देता है। अतएव इसे सहोढ़ की संज्ञा दी जाती है।

ग. अपनाए गए पुत्र

इस प्रकार के पुत्र में न पिता का कोई रक्त होता है और न माता का। यह पूर्णतया दूसरे परिवार का होता है जिसे संतानहीन दम्पत्ति अपने स्वाभाविक पुत्र जनित आवश्यकता से अपनाते हैं। इस प्रकार का पुत्र सामान्यतया तभी अपनाया जाता है जब दम्पत्ति को अपनी कोई संतति न हो। ऐसी स्थिति में यह उसका उत्तराधिकारी बनता है पर यदि बीच में ही दम्पति को संतान हो जाती है तो यह केवल भरण भर प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

(१) **दत्तक**—वर्तमान काल में भी यह प्रथा अपने प्रचलित रूप में व्याप्त है। दत्त का अर्थ होता है देना। दत्तक का इस प्रकार अर्थ हुआ जो सुरुचि से अपने पि[illegible] द्वारा दिया गया है। इस प्रकार कोई अपना पुत्र दूसरे को तभी देता [illegible] जब उसको अपना पुत्र नहीं होता और वह दूसरे के पुत्र को अपनाने के लिए तैय[illegible] होता है। चूँकि अधिकतर अल्पायु में ही इस प्रकार का पुत्र दिया जाता है जिसे ग्र[illegible] कर्ता गोद में स्वीकार करता है इसीलिए इस प्रकार को गोद लेने की [illegible] कहते हैं।

वृहस्पति के अनुसार औरस और पुत्रिका-पुत्र ही वास्तविक पुत्र [illegible] पुत्रिका-पुत्र को इसलिए वास्तविक माना गया है कि वह छाया होता है। प[illegible] निदोष मोद लिए गए पुत्र को भी इसी श्रेणी में इन्होंने स्वीकार किया है। [illegible] सम्बन्ध में शूद्रा के पुत्र की बड़ी कुत्सा की गई है। कुछ धर्मशास्त्र लेखकों के अनु[illegible] औरस और दत्तक को छोड़ कर सभी शेष प्रकार के पुत्र कलिव्रज बताए गए हैं। पु[illegible] तनकाल में पुत्रिका-पुत्र को उत्तराधिकार का अधिकार दिया गया था पर आजक[illegible] उसकी अपेक्षा दत्तक पुत्र को ही यह अधिकार प्रदान किया जाता है।

इस प्रथा का प्रादुर्भाव इसलिए हुआ था कि ऋषियों को कोई संतान न[illegible] होती थी। वह विवाह नहीं करते, अतएव उनकी परम्परा को जीवित रखने का इस[illegible] अतिरिक्त कोई दूसरा माध्यम नहीं था। पर इस परिस्थितिगत प्रथा को समाज [illegible] अपने कल्याण के लिए अपना अधिकार मान कर स्वीकार कर लिया। इसीलि[illegible] वैदिक काल में इस व्यवस्था को कोई नियमबद्धता नहीं प्रदान की गई थी परन्तु ध[illegible] शास्त्रों के समय में यह बहुत अंश में प्रतिबंधित हो गई।

अपने पुत्र को गोद देने का, दूसरे व्यक्ति को, केवल पिता को ही अधिक[illegible] होता है। यदि पिता न रहे तो माता अपने पति से आज्ञापित होने के बाद ही बा[illegible] को दे सकती है। यदि पति मर गया हो तो माता इस आशा से अपने पुत्र को [illegible] सकती है कि उसका पति इस प्रकार के कार्य को मान्यता दे देगा। परन्तु [illegible] पति इसे विवर्जित कर गया हो तो उसे किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं है [illegible] अपने पुत्र को दूसरे को दे दे। इसके अतिरिक्त उस परिवार के दूसरे किसी [illegible] व्यक्ति को भी इसके लिए अधिकार नहीं है।

पुत्र को देने का कार्य एक गवाह के ही सम्मुख होना चाहिए जो इस बात [illegible] स्वीकार करे कि उसके सम्मुख वह पुत्र अपने पिता की आज्ञा से सदा के लि[illegible] दूसरे परिवार को दे दिया गया है। इसकी पुनः पुष्टि के लिए राजा को भी सू[illegible] किया जाता है तथा दोनों पक्ष के सम्बन्धियों को भी आमन्त्रित किया जाता है। [illegible] शुभ घड़ी इसके लिए नियत की जाती है। उस समय जल छिड़का जाता है तथा द[illegible]

हवन किया जाता है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि सदा और सब परिस्थितियों में दत्तक हवन किया ही जाय। तब गोद लेने वाला व्यक्ति पुत्र की याचना करता है और जिसका वह पुत्र होता है वह उसे दे देता है। इस समय देने के पूर्व उसे दो पोत वस्त्रों से वेष्ठित किया जाता है एवं कर्णपाश तथा मुद्रिका भी पहनाई जाती है और इसके साथ उसे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त भी बहुत से छोटे-छोटे संस्कार उसे करने होते हैं।

अब यह समस्या उठती है कि क्यों और किसे पुत्र दिया जाय। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जिसका वह पुत्र हो यदि वह दरिद्र हो और जिसे वह दिया जाय वह सम्पन्न हो तो पुत्र दिया जा सकता है उसके लाभ के लिए। पुनः पिता पुत्र को प्रजनित करता है और उसका उसी पर एकाधिकार होता है। अतएव इस प्रकार के अधिकार से अधिकारित पिता पुत्र को दे सकता है। साथ ही जिसे अपना पुत्र न हो उसे दिया जा सकता है।

पिता को कभी भी अपने प्रथम पुत्र को नहीं देना चाहिए क्योंकि बड़ी आशा और लगन से उसके परिवार वाले उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। पुनः वह पिता को नरक से निकालने का अधिकारी होता है। वही श्राद्ध करता है तथा पिण्डदान करता है, अतएव उसे कभी भी गोद नहीं देना चाहिए। साथ ही यदि केवल एक ही पुत्र हो तब भी उसे गोद नहीं देना चाहिए क्योंकि वही उपर्युक्त कार्यों का संचालन करता है। अतएव जिसके कई पुत्र हों वह अपने बड़े लड़के को छोड़ कर शेष सभी लड़कों को गोद दे सकता है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह भी प्रतिबन्ध बनाया गया कि दत्तक पुत्र शिशु होना चाहिए। जो पिता उसे गोद ले उसी के घर उसका चूड़ा तथा उपनयन संस्कार होना यथेष्ट होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि उसकी अवस्था गोद देते समय चार-पाँच वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसका कारण यह है हमारे यहाँ धर्म-शास्त्रकारों ने यह स्वीकार किया है कि गोद लिया हुआ पुत्र औरस पुत्र की छाया मात्र ही होता है। इसमें यह पुनः विधान है कि गोद लिया जाने वाला पुत्र गोद लेने वाले के गोत्र और वर्ण के समान होना चाहिए। इसीलिए यह कहा गया है कि समीपस्थ सम्बन्धी, भाई का पुत्र अथवा दूर के ही सम्बन्धी को अधिकतर गोद लेना चाहिए। परन्तु बहन तथा लड़की के पुत्र को किसी भी परिस्थिति में गोद लेने से विवर्जित किया गया है। मनु ने असगोत्र पुत्र के गोद लेने की मनाही की है। परन्तु नन्दपण्डित ने सगोत्र के समकक्ष को भी ग्रहण की मान्यता दी है। सौकल ने दूसरे गोत्र के बालक को ग्रहणीय बताया है। वशिष्ट, विज्ञानेश्वर, शौनक आदि ने अपने सजातीय को ही गोद लेने के लिए कहा है। परन्तु उन्होंने फिर भी कहा है कि

यह कोई कठोर प्रतिबन्ध नहीं है। इसकी पुष्टि मनु के इस कथन से भी हो जाती है कि जब किसी भी जाति अथवा गोत्र का बालक गोद ले लिया जाय तो वह उसी जाति एवं गोत्र का हो जाता है जिसका उसका गोद लेने वाला पिता होता है। अब उस बालक को धार्मिक तथा आर्थिक किसी भी प्रकार का सम्बन्ध अपने वास्तविक पिता से नहीं रह जाता। वह अपने वास्तविक परिवार में सात पीढ़ी से पहले कोई विवाह नहीं कर सकता।

अब इस सम्बन्ध में समस्या उठती है कि कौन गोद ले सकता है। पति तो गोद ले ही सकता है पर साथ ही पत्नी भी किसी पुत्र के अभाव में गोद ले सकती है। यदि औरस पुत्र किसी को हो परन्तु वह अंधा, गूंगा और बहरा हो गया हो तब भी वह गोद ले सकता है। यह विचार दत्तक सिद्धान्त मञ्जरी का है। कुछ विचारकों के अनुसार शूद्र को यह अधिकार नहीं है कि वह गोद ले सके पर दूसरे विचारकों ने उसे यह अधिकार प्रदान किया है। यदि कोई व्यक्ति अत्यन्त वृद्ध हो चुका हो और उसके कोई संतान न हो तो वह भी गोद ले सकता है।

यदि गोद लेने के बाद औरस पुत्र का जन्म हो जाय तो दत्तक पुत्र उत्तराधिकारी के रूप में पारिवारिक सम्पत्ति का केवल चतुर्थांश प्राप्त करता है। यदि औरस पुत्र मर जाय तब उसका भाग्य पुनः उदय होता है। वह सम्पूर्ण सम्पत्ति का तब अधिकारी हो जाता है। नियोग प्रथा से उत्पन्न पुत्र की तरह कात्यायन ने इसे दो पिता की सन्तान कहा है। दत्तक पुत्र गोद लिए जाने वाले परिवार में बन्धु दायाद कहा जाता है दूसरों ने इसका नाम बन्धु दायादः रखा है। अन्य पुत्रों की अपेक्षा इसका अधिकार श्रेष्ठ होता है। व्यवहारमयूख के अनुसार वास्तविक परिवार से सं‍बन्ध सात पीढ़ी तक चलता रहता है। पर अब गोद लिए जाने वाले परिवार में पिता, माता, चाचा और भाइयों का उत्तराधिकारी बनता है। पर दत्तक चन्द्रिका के अनुसार दत्तक और औरस का स्थान शूद्र के परिवार में समान होता है। परन्तु दत्तक पुत्र सम्बन्धियों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता ऐसा कौटिल्य का विचार है। उन्होंने आगे बताया है कि दत्तक पुत्र की मृत्यु पर केवल तीन दिन अपवित्रता बनी रहती है और इसी प्रकार उस माता एवं पिता की मृत्यु पर भी जिसने बालक को गोद लिया है। मारीच के अनुसार सगोत्र को दस दिन का अशौच लगता है। उसे तथा उसके संतान को यह यथेष्ट है कि वास्तविक पिता तथा गोद लेने वाले पिता को पिण्डदान करे एवं उसके लिए श्राद्ध करे।

आधुनिक युग में भी यह परम्परा किसी न किसी रूप में प्रचलित है परन्तु आज भी स्मृति के सिद्धान्त अत्याज्य हैं। पुरातन और आधुनिक युग में अन्तर केवल

इतना है कि अब गोद बहुत बाद में लिया जाता है क्योंकि यह सम्भावना बनी रहती है कि कहीं बीच में संतति न प्रजनित हो जाय। सम्बन्धी एवं कुटुम्बी भी धन-लोलुपता के कारण इस परम्परा का बहुत हद तक विरोध करते हैं क्योंकि इसके द्वारा पारिवारिक संपत्ति का उत्तराधिकारी दूसरा व्यक्ति बन जाता है। इसीलिए अब इतना और संशोधन कर दिया गया है कि पति की मृत्यु के बाद भूमिपति और राजा से आज्ञा प्राप्त कर लेने के बाद ही विधवा किसी को गोद ले सकती है। परन्तु फिर भी यह संशयजन्य विषय है कि क्या बिना पति की आज्ञा के एक विधवा किसी को गोद ले सकती है। दत्तक पुत्र बम्बई, उत्तरी-पश्चिमी राज्य और पञ्जाब में अपना हिस्सा अपने वास्तविक परिवार में भी पाते हैं।

(२) **कृतृम**—कृतृम का अर्थ है बनाया गया। जब दूसरे परिवार या व्यक्ति के लड़के को अपना लड़का मान लिया जाता है बिना विधिवत गोद लिए तो वह कृतृम कहलाता है। यद्यपि कुछ स्मृतिकारों ने इस प्रकार के पुत्र का उल्लेख किया है पर पीछे के नैय्यायिक इसको मान्यता नहीं देते। मिताक्षरा में इसे विधानतः स्वीकार किया है। इसमें कोई, किसी को, किसी समय अपना पुत्र बना सकता है परन्तु उस पुत्र का सम्बन्ध अपने वास्तविक परिवार से समाप्त नहीं होता।

(३) **क्रीत**—प्रायः जब उपर्युक्त रीति से पुत्र नहीं मिलते तो दूसरों के लड़के को खरीद कर अपना पुत्र बनाया जा सकता है। इस प्रकार की प्रथा पहले भी प्रचलित थी। शुनःशेष को सौ पण पर अजीगर्त ने बेचा था। इसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में किया गया है। वर्तमान काल में गुजरात में यह प्रथा प्रचलित है।

(४) **स्वयंदत्त**—प्रायः घर के कलुष से, परिवार की दरिद्रता से अथवा अन्य विभिन्न कारणों से कोई-कोई पुत्र घर से निकल भागते थे और अपने को दूसरे व्यक्ति के हाँथों सौंप देते थे। चूँकि इस प्रकार स्वयं ही वह अपने को दूसरे के हाँथों सौंप देता है इसलिए वह स्वयंदत्त कहलाता है।

(५) **अपविद्ध**—अपविद्ध से अभिप्राय है घर से बहिष्कृत किया हुआ। प्रायः माता की स्थिति के कारण, बालक के दुराचरण के कारण, उसके धर्मविरुद्ध जन्म के कारण, परिवार की दरिद्रता के कारण अथवा अन्य किसी भी दूसरे सम्भावित कारण से जब परिवार से बालक को भगा देते हैं तथा वह पलायित बालक दूसरे द्वारा अपना लिया जाता है तो वह अपविद्ध कहलाता है।

(६) **लब्ध**—यद्यपि यह विधान था कि अवैधानिक रूप से उत्पन्न बालक को भी नारियाँ रखें तथा उनकी सामाजिक मान्यता भी थी फिर भी कभी-कभी ऐसे बालक फेंक दिए जाते थे और उन्हें कोई व्यक्ति उठाकर जब अपना लेता था तो

उसे लब्ध की संज्ञा दी जाती थी। आजकल भी इस प्रकार के पुत्रों का प्रचलन समाज के उन परिवारों में है जिनमें औरस पुत्र का अभाव है।

महर्षि देवल की तालिका जिसे ऊपर हमने देखा है यह सिद्ध करती है कि इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का भी पुत्र समाज में प्रचलित था जिसे पुनर्भव की संज्ञा उसने दी है। पुनर्भव से अभिप्राय उस बालक से है जो उस माता से पैदा हो जिसे पति ने उसे छोड़ दिया हो तथा वह दूसरी शादी कर चुकी हो और यह बालक पहले पति के द्वारा अपनी पत्नी के परित्यक्त करने के पूर्व ही उसके गर्भस्थ हो चुका हो परन्तु इसका जन्म दूसरे पति से सम्बन्धित हो जाने पर ही हो।

पुत्री का परिवार में स्थान

संभवे स्वजनदुखःकारिका, सम्प्रदान समऽर्थहारिका।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका, दारिका, हृदयदारिका पितुः॥

सायण कृत ऐतरेय ब्राह्मण ३३, १ के भाष्य से

यह श्लोक सिद्ध करता है कि पुरातन काल में विशेष रूप से वैदिक काल में पुत्रियों को बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था। इसका अभिप्राय है कि प्रत्येक अवस्था में किसी न किसी प्रकार पुत्री कष्ट ही देती रहती है। जन्म के समय स्वजनों को, विवाह के समय अर्थ हरण करने से (परिवार को), यौवन काल में बहुत दोषों से युक्त होने से पुत्री पिता-माता के लिए हृदय विदारक होती है। परन्तु पौ[illegible] समुचित आदर और निष्ठा का स्थान इसमें पाया जाता है। महाभारत में कहा गया है कि 'कन्या में नित्य लक्ष्मी का वास होता है।'[1] इसका महत्व और भी अधिक इसलिए बढ़ गया कि धर्मशास्त्रो में कहा गया कि जिसको पुत्र न हो वह पुत्री को ही उसके स्थान पर नियुक्त कर सकता है क्योंकि पुत्रिका पुत्र औरस के ही समान होता है। वृहदारण्यक उपनिषद में एक विशिष्ट प्रकार की क्रिया का उल्लेख है जिसके अनुसार गृहपति कामना करता है कि एक पुत्री उत्पन्न हो।[2]

पिता को यह आवश्यक है कि उचित समय अपनी पुत्री का विवाह कर दे। उसके साथ ही उसका यह भी कर्तव्य है कि लड़की का भली प्रकार पालन पोषण करे एवं उसको पुस्तकस्थ एवं व्यावहारिक शिक्षा दे। उसके अन्दर गुणों का उचित समन्वय का प्रयास भी पिता को करना चाहिए। यदि उसके रजःकाल के तीन-चार वर्ष के अन्दर विवाह करने के लिए पिता सफल प्रयास न कर सके तो वालिका को यह अधिकार हो जाता है कि राजा की आज्ञा लेकर वह अपना विवाह

१ नित्यं न्यवसत लक्ष्मिः कन्यकासु प्रतिष्ठिता। महाभारत xiii, ११, १४
२ वृहदारण्यक उप०, vi, ४, २७।

स्वयं तै कर ले।[1] लड़की के लिए एक बार जिस वर को वरण कर लिया जाय उसी के साथ उसका विवाह करना चाहिए। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में लड़की को यह अधिकार था कि वह अपने पति का परित्याग कर दे। परन्तु किसी भी परिस्थिति में पिता को फिर भी विवाह के लिए लड़की की बिक्री को विवर्जित किया गया है।

लड़कियों की अलग शिक्षा व्यवस्था थी। उनका उपनयन संस्कार होता था और विना उसके उसका विवाह आर्य परिवार में नहीं हो सकता था। परन्तु विवाह की अवस्था में जैसे-जैसे कमी आती गई वैसे-वैसे उनके ऊपर से उपनयन एवं शिक्षा का बोझ हटाया जाने लगा।

उत्तराधिकार का नियम

ऊपर हमने परिवार के स्वरूप तथा उसके सदस्यों के विषय में अध्ययन किया। जहाँ सदस्यों का अध्ययन किया गया वहीं बराबर यह चर्चा भी की गई कि उत्तराधिकार में अमुक सदस्य का परिवार की सम्पत्ति में क्या स्थान है। अतएव यह आवश्यक है कि परिवार की पूर्णता के लिए हम उत्तराधिकार के नियमों का उल्लेख करें। उत्तराधिकारी से हमारा अभिप्राय है परिवार की सम्पत्ति में भाग लेने वाले सह-अधिकारियों से।

उत्तराधिकारी कौन हो सकता है—एक संयुक्त परिवार में जितने भी दामाद होते हैं तथा जो सपिण्ड होते हैं वह इस परिवार की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं। वशिष्ठ के अनुसार जो पिण्ड दान करते हैं उन्हें पारिवारिक सम्पत्ति में भाग लेने का अधिकार है तथा जो पारिवारिक सम्पत्ति में भाग लेते हैं उन्हें परिवार के व्यक्तियों को पिण्ड देना पड़ता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इन दोनों का सम्बन्ध अटूट है। जो पिण्ड देता है वही सम्पत्ति में भाग ले सकता है तथा जो सम्पत्ति में भाग लेता है वही पिण्डदान भी करता है। गोल्डस्टकर के अनुसार श्राद्ध कर्म के उपहारस्वरूप उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त होता है। याज्ञवल्क के अनुसार इसीलिए पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र तीनों ही उत्तराधिकारी होते हैं। इनके वाद स्त्री, विधवा, पुत्री, माता और पिता तथा भाई उत्तराधिकारी होते हैं। इनके बाद पुनः भाई का लड़का, गोत्रज, बन्धु, शिष्य और सह-शिष्य क्रमशः उत्तराधिकारी होते हैं।

इसलिए अव यह अध्ययन करना आवश्यक है कि प्रत्येक उत्तराधिकारी का अधिकार किस दृष्टि से पारिवारिक सम्पत्ति पर बना रहता है। सर्वप्रथम क्रम से औरस पुत्र, नियोगजनित क्षेत्रज पुत्र, दत्तक पुत्र और दूसरे प्रकार के सह पुत्रों का

१ नारद, xii, २२।

अधिकार होता है। यदि बँटवारे के बाद पुत्र उत्पन्न हो तो वह भी पिता की सम्पत्ति का एक भाग प्राप्त करता है। शूद्र पिता अवैध पुत्र को भी पूर्ण भाग दे सकता है परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके भाई उससे आधा भाग छीन सकते हैं। पौत्र और प्रपौत्र एक साथ ही सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। चूँकि प्रपौत्र का लड़का पिण्ड नहीं दे सकता है, वह केवल पिण्डलेप ही देता है अतएव उसका अधिकार सम्पत्ति पर नहीं होता।

इसके बाद बौद्धायन ने स्त्री को अधिकार दिया है, क्योंकि पति के मरने पर वह पुत्र प्रजनित कराती है और उसके संरक्षक के रूप में वह सम्पत्ति पर अधिकार रखती है। परन्तु जहाँ तक स्त्रियों के उत्तराधिकार की बात है याज्ञवल्क्य और बौद्धायन के अतिरिक्त कोई भी दूसरा नहीं स्वीकार करता।

इसके बाद उत्तराधिकारी की तालिका में विधवा का स्थान आता है। हारीत ने इसके अधिकार का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त किसी भी दूसरे शास्त्रकार ने इसका उल्लेख उत्तराधिकारी के लिए नहीं किया है। बौद्धायन ने इसके अधिकार को स्वीकार ही नहीं किया है। आपस्तम्ब के अनुसार पुत्र के अभाव में पुरुष पक्ष का कोई सपिण्ड सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है। मनु ने कभी विधवा को स्थान नहीं दिया है यद्यपि वह माता के अधिकार को स्वीकार करता है। बृहस्पति ने स्वीकार किया है कि विधवा उसी समय तक पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी रह सकती है जब तक वह नैतिक जोवन यापन करती रहे। कात्यायन ने भी इसी परिस्थिति में उसके अधिकार को स्वीकार किया है पर उसने उसके अधिकारों पर यह प्रतिबंध लगा दिया है कि वह न बेंच सकती है और न गिरवी रख सकती है। जब तक उसने उत्तराधिकार न प्राप्त किया हो और उसी समय अगर वह अनैतिक हो जाय तो उसका यह अधिकार छिन जाता है और केवल पोषण भर उसे प्राप्त होना चाहिए। ठीक इसके विपरीत यदि वह उत्तराधिकार प्राप्त कर ले और उसके बाद अनैतिक हो जाय तो उसका अधिकार छिन नहीं सकता।

पुत्री का अधिकार इसके बाद बताया गया है। विवाहितों की अपेक्षा अविवाहितों को प्राथमिकता दी जाती है। यदि कोई भी अविवाहित न हो तो जो विधवा हो उसी का अधिकार बना रहता है। धर्मशास्त्र के अनुसार पतियुक्त लड़कियों का स्थान प्रथम माना गया है क्योंकि उन्हें पति द्वारा अपने पिता को पिण्ड देने का अधिकार प्राप्त रहता है। परन्तु आधुनिक हिन्दू अधिनियम में सभी लड़कियों को समान भाग का अधिकार प्रदान किया गया है। हिन्दू संविधान के अनुसार लड़कियाँ अनियन्त्रित अधिकारी बताई गई है। परन्तु कात्यायन के अनुसार जब तक उनकी शादी न हो जाय या वह विवाहित न हो जायँ तथा जीवन में समुचित रूप से स्थित न हो जायँ तब तक वही उत्तराधिकारी रहती ह।

इनके बाद पिता एवं माता का अधिकार होता है। इनमें से किसको पहला स्थान दिया जाय यह नहीं कहा जा सकता। मयूख के अनुसार भारतीय परिवार पितृ प्रधान है, अतएव पिता को माता की अपेक्षा प्राथमिकता मिलनी चाहिए। परन्तु मिताक्षरा ने एक दूसरी ही व्याख्या की। इसके अनुसार चूँकि संस्कृत में मातापितरौ शब्द का प्रयोग किया जाता है अतएव पिता की अपेक्षा माता का स्थान उत्तराधिकार में पहले होना चाहिए। पर वास्तव में माता को ही पुत्र की सम्पत्ति के उत्तराधिकार में प्राथमिकता मिलनी चाहिए क्योंकि जब माता व्यभिचारिणी होती है तो उस पुत्र के पिता जाने अथवा अनजाने कई होते हैं परन्तु फिर भी माता एक ही होती है।

याज्ञवल्क ने केवल इतने ही सदस्यों को पारिवारिक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी बनाया है।

सपिण्ड से अभिप्राय

ऊपर हमने देखा कि सम्पत्ति का बँटवारा उन्हीं सदस्यों में होता है जो परस्पर सपिण्ड होते हैं। अतएव यह जानना आवश्यक है कि सपिण्ड का अर्थ क्या है तथा विभिन्न सिद्धान्त प्रणेताओं ने सपिण्ड की व्याख्या किस दृष्टि से की है।

सपिण्ड में दो शब्द हैं स+पिण्ड। 'स' का अर्थ होता है साथ या सम्बन्धित तथा पिण्ड का अर्थ होता है रक्त के अणु अथवा पिण्डा (चावल का गेंद जो श्राद्ध के समय पितरों को दिया जाता है)। यह दोनों हो अर्थ अनान्याश्रित हैं क्योंकि जो रक्त से सम्बन्धित होते हैं वही परस्पर पिण्डा दे सकते हैं और वही परिवार के वास्तविक सदस्य होते हैं तथा सम्पत्ति के उत्तराधिकारी बनते हैं।

अब यह समस्या उठती है कि कितनी पीढ़ी तक कोई भी परस्पर सपिण्ड होता है जिस पर उत्तराधिकार को नियत किया जाय। इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों के विभिन्न मत हैं। मनु के अनुसार केवल चार ही सपिण्ड होते हैं : पिता, पितामह, प्रपितामह और जो इन्हें तर्पण करता है। पाँचवा कोई भी सपिण्ड नहीं है। बौद्धायन ने बताया कि जो पिण्ड दान करते हैं वही सपिण्ड कहलाते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि किसी भी व्यक्ति के पिता, पितामह, प्रपितामह ऊपर की श्रेणी में तथा नीचे को श्रेणी में भाई, पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र ही सह सम्बन्धी होते हैं। यही दाय के सह-उत्तराधिकारी (कोपार्सनर) बनते हैं। परन्तु माता तथा पिता की ओर केवल ६ पीढ़ी तक के ही यह सदस्य सह-उत्तराधिकारी बन सकते हैं। ऋग्वेद (१,१,६२) के अनुसार पुत्र पिता का इसलिए सपिण्ड होता है कि पितृ एवं मातृ दोनों पक्षों का

रक्त उसमें गर्भ की स्थिति में मिला होता है। इसी प्रकार हिन्दू सम्पत्ति के अधिकारी वर्ग जिनके द्वारा सम्पूर्ण विभाजन का कार्य सम्पन्न होता है इस सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि सपिण्ड के सम्बन्ध इनकी व्याख्या से हम परिचित हों।

अ. मिताक्षरा की व्याख्या

मिताक्षरा के संस्थापक विज्ञानेश्वर ने सपिण्ड से अभिप्राय रक्त संबन्ध से लिया है। चूंकि बालक में माता तथा पिता दोनों का ही रक्त मिला होता है अतएव वह दोनों का सपिण्ड होता है। इसलिए विज्ञानेश्वर ने उत्तराधिकारियों का क्रम निम्न निर्धारित किया है। प्रथम पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सह उत्तराधिकारी होते हैं। इसके बाद धर्मपरायण विधवा और तब लड़की के उत्तराधिकार का विधान किया गया है। लड़कियों के भी सम्बन्ध में इन्होंने एक नियत क्रम बताया है। सबसे पहले अविवाहित लड़की को स्थान दिया गया है, उसके बाद विवाहित को। पुनः यदि किसी की कई लड़कियाँ विवाहित हों तो उनमें से जो गरीब हो सबसे पहले उसी का स्थान माना गया है। इसके बाद लड़की क लड़के का स्थान माना गया है और तब माता और बाद में पिता का। माता और पिता के इस क्रम को स्वीकार करने का कारण पहले ही बताया जा चुका है। पिता के बाद भाई का स्थान स्वीकार किया गया है। भाइयों में भी सबसे पहले अपना भाई, तब दूसरे के पुत्र को जिसे अपना कर भाई बनाया गया हो और फिर भाई के लड़के, पिता की माता, पिता के पिता, पिता के भाई आदि क्रमशः स्वीकार किया गया है। अन्त में उसने कहा है कि गोत्रज और उसके अभाव में समीपस्थ सम्बन्धी तथा उसके भी अभाव में बन्धुज उत्तराधिकारी हो सकते हैं।

चूंकि भारतीय परिवार पितृ प्रधान था और संयुक्त परिवार प्रणाली थी इसलिए विज्ञानेश्वर ने कहा कि पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकार इस प्रकार होना चाहिए कि यह पिता के ही परिवार में बना रहे। इसलिए समीपस्थ सम्बन्धियों को ही प्राथमिकता दी गई है। चूंकि लड़के के लिए पिता का रक्त सम्बन्ध भाई की अपेक्षा अधिक समीप होता है इसलिए भाई की अपेक्षा पिता को ही प्राथमिकता दी गई है। पर इन्होंने कुछ ऐसे सम्बन्धियों को स्थान दिया है जो केवल सगोत्री हैं जैसे माता के बहन का लड़का, पिता के बहन का लड़का आदि। दूसरे इन्होंने पैतृक उत्तराधिकारियों की प्रधानता का उल्लेख किया है पर स्वयं माता के बहन के लड़के, पिता की बहन के लड़के को पहला स्थान दिया है न कि माता के भाई के लड़के और पिता के भाई के लड़के को। पुनः इसमें माता के भाई को छोड़ दिया गया है, जो माता के भाई के पुत्र की अपेक्षा समीपी होता है। अन्त में बंधुज को उत्तराधिकारी बता कर

इन्होंने सगोत्रियों को भी मान्यता दे दी है। अब सबसे बड़ी समस्या यह उठती है कि, विज्ञानेश्वर की व्याख्या में पुत्र शब्द का अर्थ बताते हुए कपाडिया ने पुत्र और पौत्र तक इसका अर्थ बताया है जब कि काणे ने पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र तक को इसके अन्तर्गत बताया है, तो वास्तविक अर्थ क्या है? विज्ञानेश्वर ने स्वयं अपनी व्याख्या में प्रपौत्र तक को इसके अन्दर परिगणित किया है।

पीछे नीलकण्ठ तथा नन्द पण्डित ने विज्ञानेश्वर को ही स्वीकार किया पर कुछ अन्तर के साथ। नीलकण्ठ ने सह-उत्तराधिकारियों को तीन पीढ़ी तक माना है जब कि नन्द पण्डित ने चार पीढ़ी तक माना है। इसी प्रकार अन्य सूक्ष्म अन्तर भी इनमें पाए जाते हैं।

ब. दायभाग की व्याख्या

पर विचारकों का दूसरा वर्ग सपिण्ड का अर्थ पिण्डदान बताता है। इस मत के समर्थक हैं जीमूतवाहन जिन्होंने दायभाग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस मत के समर्थक हैं स्मृतिचन्द्रिका, अपरार्क, नागोजी भट्ट आदि। इसमें सगोत्रों के अधिकार को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। इनको इसने समानोदक, सोदक और सहोदक शब्दों से संबोधित किया है। यह सात पीढ़ी तक एक ही पूर्वज की संतति (ऐगनेट) तथा सात पीढ़ी तक सगोत्रों (कागनेट) के सम्बन्ध को स्वीकार किया है। तीन पीढ़ी ऊपर की ओर तथा तीन पीढ़ी नीचे की ओर के ही सदस्य केवल पिण्ड देते हैं। इसके बाद पिण्ड लेप दिया जाता है। पिण्ड दान केवल एक ही पूर्वज की सन्तति नहीं करते पर सगोत्रीय भी करते हैं क्योंकि माता की ओर से वे भी सम्बन्धित होते हैं। अतएव दोनों ही सम्पत्ति में उत्तराधिकारी होते हैं। यह बात दूसरी है कि मातृ पक्ष की ओर से जिनका सम्बन्ध होता है वह उतना दृढ़ नहीं होता जितना पितृ पक्ष की ओर से जिनका सम्बन्ध होता है। इससे भी अधिक अधिकार उनका होता है जो मातृ तथा पितृ दोनों ही ओर से सम्बन्धित होते हैं। पर इन सभी में उसे विशेष प्राथमिकता मिलती है जो मृतक का दाह कर्म करता है तथा सबसे पहला पिण्ड उसे ही देता है।

इस प्रकार जीमूतवाहन ने निम्नांकित तालिका दी है। उन्होंने सर्व प्रथम पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र को स्थान दिया है। तब क्रम से विधवा, लड़की, लड़की के लड़के, पिता, माता, भाई, भाई का लड़का, भाई का पौत्र, पिता की लड़की का लड़का उत्तराधिकारी स्वीकार किए गए हैं। पर जब कोई पिण्ड देने वाला नहीं रहता तब माता का भाई उत्तराधिकारी बनता है। उसके भी अभाव में सकुल्य, गुरु, सगोत्र तथा सप्रवर क्रम से उत्तराधिकारी बनते हैं।

स. दायभाग एवं मिताक्षरा में सपिण्ड का अन्तर

ऊपर हमने दायभाग और मिताक्षरा दोनों के सपिण्ड की व्याख्या तथा इसके

आधार पर आधारित उत्तराधिकार के नियमों का अध्ययन किया। इसमें स्पष्ट रूप से दो विरोधी प्रवृत्तियों का आभास होता है। अतएव यहाँ यह अध्ययन करना अत्यन्त समीचीन है कि इस सम्बन्ध में दोनों में क्या अन्तर है—

१. दोनों ने समान रूप से स्वीकार किया है कि पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सह-उत्तराधिकारी (कोपार्सनर) होते हैं।

२. दोनों में विधवा को चौथा स्थान दिया गया है। पर गौतम तथा ... इस मत के विरोध में हैं क्योंकि उनके अनुसार विधवा न तो श्राद्ध कर सकती है न पिण्डदान कर सकती है, अतएव वह उत्तराधिकारी भी नहीं हो सकती।

३. दोनों ही ने पुत्री तथा पुत्रिका-पुत्र को समान स्थान दिया है।

४. परन्तु जीमूतवाहन माता की अपेक्षा पिता को प्राथमिकता देते हैं जब कि विज्ञानेश्वर पिता को प्रथम स्थान देते हैं और माता को पीछे। जीमूतवाहन ने पिण्ड का अर्थ पिण्डा से किया है। चूँकि माता पिण्ड नहीं दे सकती इसलिए पिता को पहला स्थान दिया गया है। पर विज्ञानेश्वर ने पिण्ड का अर्थ रक्त सम्बन्ध से किया है, अतएव माता को प्रथम माना है क्योंकि भले ही किसी के पिता कई हों पर माता एक ही होती है। पुनः इन्होंने कहा है कि याज्ञवल्क ने 'माता-पितरौ' शब्द का प्रयोग किया है अतएव माता का स्थान प्रथम है पिता का द्वितीय।

५. भाई तथा भाई के लड़के का स्थान दोनों में समान है। पर मिताक्षरा ने बहन का उल्लेख किया है। परन्तु वह पिण्ड नहीं दे सकती, इसलिए दायभाग ने उसके पुत्र को उत्तराधिकारी स्वीकार किया है।

६. जीमूतवाहन ने पितृ पक्ष के चार व्यक्तियों को सह-उत्तराधिकारी बताया है जब कि विज्ञानेश्वर ने केवल तीन को ही। परन्तु यह दोनों ही मातृ पक्ष के केवल तीन पीढ़ी तक के उत्तराधिकारियों को ही स्वीकार करते हैं।

७. मिताक्षरा में उत्तराधिकार का अधिकार जहाँ जन्मनास्वत्व है वहीं दायभाग में उपरमस्वत्व है।

८. मिताक्षरा में पुनः पारिवारिक एवं व्यक्तिगत अर्जित सम्पत्ति में जहाँ अन्तर किया गया है वहीं दायभाग में नहीं।

९. 'आपत्काले' और 'कुटुम्बार्थे' पारिवारिक सम्पत्ति का उपयोग केवल पिता कर सकता है जब कि दायभाग में उसको अनियन्त्रित अधिकार है।

विभाजन के नियम

मैकडानेल तथा कीथ के अनुसार '.....पारिवारिक सम्पत्ति के विषय में यह स्पष्ट है कि परिवार के सबसे बड़े सदस्य पिता की ही होती है।' वैदिक साहित्य में दो ऐसी कथाएँ आती हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि पिता अपने पुत्र के अधिकार का कोई महत्व नहीं देता था। इसमें सर्वप्रमुख कथा शुनःशेप की है जो अपने पिता द्वारा

खींच दिया गया था। इस सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि विश्वामित्र एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के व्यक्ति थे। दूसरी कथा के अनुसार मनु ने अपने पुत्र नाभानेदिष्ट को बँटवारे से अलग कर दिया। परन्तु इस प्रसंग में भी हम यह कह सकते हैं कि जब मनु ने बँटवारा किया तो नाभानेदिष्ट विद्यालय में था। इसलिए उपर्युक्त विद्वानों के कथन में कोई बल नहीं प्रतीत होता। यहाँ कुछ विशिष्ट परिस्थितिगत कथाओं के परिणामस्वरूप ही उन्होंने उपर्युक्त धारणा बना ली थी।

फिर यदि ऐतरेय ब्राह्मण को देखा जाय तो इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि जो किसी को भी उसके हिस्से से वंचित करता है उसको अपना हिस्सा देना पड़ता है तथा वंचित रह जाने वाले व्यक्ति को यह अधिकार है कि वंचित करने वाले को दण्ड दे। इसके अतिरिक्त यहाँ इस प्रकार के भी स्थल हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वृद्ध होने पर पिता ने अपने पुत्रों में बँटवारा कर दिया। इसके साथ इस बात का भी संकेत मिलता है कि पिता के जीवन काल में भाइयों ने सम्पत्ति का बँटवारा किया। कुछ स्थानों पर बड़े सदस्यों को उनके अवस्था और स्थान के कारण विशेष सुविधाएँ प्रदान करने का वर्णन मिलता है। तैतरीय संहिता में यह वर्णित है कि प्रजापति ने इन्द्र को विशिष्ट भाग दिया था।

धर्मसूत्रों के अनुसार पिता की मृत्यु पर तथा मनुस्मृति के अनुसार माता की भी मृत्यु पर सम्पत्ति का बँटवारा होना चाहिए। यदि इनकी जीवन अवधि के अन्दर ही बँटवारा किया जाय तो इनकी आज्ञा से होना चाहिए। जो इनकी इच्छा के विरुद्ध बँटवारा करते हैं वह श्राद्ध में भी आमन्त्रित नहीं किए जाते। यदि पिता अपने जीवन काल में बँटवारा करे तो उसे तभी करना चाहिए जब स्त्री पुत्र उत्पन्न करने की अवस्था पार कर चुकी हो। जब भाई बँटवारा करें और उस समय माता अगर गर्भवती हो तो पुत्र उत्पन्न होने तक उन्हें बँटवारा नहीं करना चाहिए। इनकी रुचि के विपरीत बँटवारा का अधिकार किसी को भी नहीं है। पिता को भी इस बात के लिए सतर्क रहना चाहिए कि उसके पुत्रों को समान हिस्सा मिल जाय। उसे कभी भी असमान विभाजन नहीं करना चाहिए। इसके साथ ही पागल, जाति बहिष्कृत, संन्यासी जो धार्मिकतापूर्वक द्रव्य व्यय करने वाले, सामाजिक दृष्टिकोण से मृतक, कर्तव्य तथा व्यवसाय से वंचित रहने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में उल्लिखित है कि इन्हें भरण-पोषण भर का द्रव्य मिलना चाहिए। जो लोग भूमि में अथवा सम्पत्ति में बँटवारे के समय कोई हिस्सा नहीं चाहते उन्हें भी थोड़ा सा दे देना चाहिए जिससे कि पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा पाने का उनका अधिकार समाप्त हो जाय। यद्यपि सब लड़कों को पैतृक सम्पत्ति में समान भाग देने का उल्लेख है पर बड़े लड़के को एक विशिष्ट भाग देने का; क्योंकि बड़ा लड़का वास्तव में दूसरे अपने छोटे भाइयों की अपेक्षा अधिक दायित्व वहन करता है। पर गौतम के इस विचार से आपस्तम्ब सहमत नहीं

होते। फिर भी सामाजिक मान्यता गौतम के ही विचार को मिली थी।

धर्मशास्त्रों में सम्पत्ति पर पिता का अनियन्त्रित अधिकार स्वीकार किया गया है। विश्वजित यज्ञ का ऐसा विधान है कि पिता के पास जो कुछ भी हो वह सर्वस्व दान कर दे। पर सतपथ ब्राह्मण इस प्रथा का विरोध किया है। यद्यपि सब सदस्य पिता की मृत्यु के बाद अपना अलग हिस्सा ले सकते हैं पर उनको बड़े लड़के की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। यही विचार नारद का भी है। पहले पिता, फिर माता, फिर सबसे बड़ा लड़का जिसकी अवस्था आठ वर्ष से अधिक हो पारिवारिक सम्पत्ति का कोई भी भाग बेंच सकते हैं अथवा उस पर किसी प्रकार के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं। पैतृक सम्पत्ति पर पिता का अधिकार इन विचारकों के अनुसार नियन्त्रित है। परन्तु इसके साथ ही व्यक्तिगत अर्जित सम्पत्ति की स्थिति को भी इन्होंने स्वीकार किया है: इसके अन्तर्गत मनु के अनुसार दान, उपहार, मजदूरी, खोई हुई वह पैतृक सम्पत्ति जिसे पुनरर्जित किया गया हो सम्मिलित किया जा सकता है। इस सम्पत्ति का भाइयों में बँटवारे की कोई आवश्यकता नहीं बताई गई है। पर वशिष्ठ ने इसके भी बँटवारे की ओर निर्देष किया है।

स्मृति एवं भाष्यकारों के समय इस नियम में कोई बहुत परिवर्तन नहीं हुआ। विभाजन इस समय के विचारकों के अनुसार प्रायः पिता की मृत्यु के बाद ही होना चाहिए परन्तु कुछ विचारकों ने यह भी स्वीकार किया कि माता की मृत्यु के बाद ही विभाजन होना चाहिए अथवा पिता जब चाहे वह अपनी रुचि के अनुसार भूमि का बटवारा कर सकता है। पर उसे भी ऐसा विभाजन तभी करना चाहिए जब उसकी स्त्री सन्तान उत्पन्न करने की अवस्था पार कर चुकी हो। पुत्रों के लिए भी इसी प्रकार की तीन शर्तें बताई गईं जब वह पिता के जीवित रहते ही भूमि में हिस्सा मांग सकता है :

(१) जब माता पुत्र उत्पन्न करने की अवस्था पार कर चुकी हो।

(२) जब पिता की मृत्यु हो गई हो तथा कोई समुचित व्यवस्था न कर सकता हो।

(३) जब पिता परिवार की सम्पत्ति को बरबाद कर रहा हो।

सभी स्मृतिकारो ने स्वीकार किया है कि पितामह की सम्पत्ति में पिता तथा पुत्र दोनों का समान स्थान है। फिर भी धारेश्वर ने पिता के जीवन काल में पुत्रों द्वारा सम्पत्ति के विभाजन में विरोध किया है। विज्ञानेश्वर ने गौतम धर्म सूत्र के आधार पर ही स्वीकार किया है कि पैतृक सम्पत्ति में बालक का अधिकार जन्मजात होता है। परन्तु जौली के अनुसार पूरे गौतम धर्मसूत्र में इस आशय के श्लोक का अभाव है। जीमूतवाहन ने विज्ञानेश्वर का विरोध करते हुए उल्लिखित किया है कि परिवार की सम्पत्ति पर उपरमस्वत्व होता है। पर विज्ञानेश्वर ने यह भी संकेत किया है

कि पौत्र को जो सम्मिलित रूप से पितामह के साथ रहता हो उसे यह अधिकार है कि परिवार की सम्पत्ति को बेंचने अथवा दान देने से उसे रोके यदि इससे परिवार का कोई हित न होता हो। पर वह इस दिशा में केवल मन्त्रणा दे सकता है।

पर स्वअर्जित सम्पत्ति में अर्जित करने वाले का ही अधिकार प्रमुख होता है। पुत्रों का कोई महत्व नहीं रह जाता। पिता अपनी इस प्रकार अर्जित सम्पत्ति का चाहे जिस प्रकार बटवारा करे पुत्र उसे रोक नहा सकता है। पर आगे स्मृतिकारों ने यह भी कहा कि केवल पागल, उन्मादो तथा दुर्व्यवहारी पुत्र को ही व्यक्तिगत अर्जित सम्पत्ति से वंचित किया जा सकता है। अन्यथा पिता का यह धर्म है कि सब पुत्रों को कोई न कोई भाग दे। पर विष्णु ने तो यह भी स्वीकार किया है कि पिता के व्यक्तिगत अर्जित सम्पत्ति में भी पुत्र हिस्सा माँग सकते हैं। विज्ञानेश्वर के अनुसार सम्पूर्ण अचल सम्पत्ति का अधिकारी पिता बताया गया है परन्तु बिना अपने पुत्रों को आमन्त्रित किए और उसकी राय लिए वह न उसमें से बेंच सकता है और न दान दे सकता है। इस प्रकार सम्पत्ति के अब तक अन्तर हम पैतृक एवं व्यक्तिगत अर्जित में ही करते थे पर अब दूसरा अन्तर चल और अचल का भी उत्पन्न हो गया। कोई भी चल सम्पत्ति विज्ञानेश्वर के अनुसार पिता अपनी रुचि से बेंच सकता है। याज्ञवल्क स्मृति के अनुसार विभाजन के समय स्त्री को भी समान भाग मिलना चाहिए चाहे यह बँटवारा पिता के जीवन काल में हो अथवा उसके बाद हो। व्यास के अनुसार जिन विधवाओं को पुत्र न हो वह भी हिस्सा पाने की अधिकारिणी हैं।

मिताक्षरा एवं दायभाग

ऊपर हमने खण्ड (३) में परिवार की सम्पत्ति के सम्बन्ध में मिताक्षरा और दायभाग का बराबर प्रयोग किया है। अतएव यह समझ लेना आवश्यक है कि यह क्या हैं? इनके प्रवर्तक कौन हैं? इनका सिद्धान्त क्या है? इनमें परस्पर अन्तर क्या है? तथा इनमें कौन पुराना है? परन्तु इसी के साथ ही ऊपर के खण्ड में हमने दाय शब्द का भी प्रयोग किया है। चूंकि दायभाग में दाय शब्द का भी प्रयोग है अतएव इनके अध्ययन के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि दाय क्या है।

दाय क्या है

इस प्रश्न का उत्तर देते समय विभिन्न विचारकों की व्याख्या अत्यन्त समीचीन प्रतीत होती है। (नारद के अनुसार दाय से अभिप्राय पैत्रिक सम्पत्ति से है जिसमें पुत्र अपने हिस्से के बँटवारे की व्यवस्था करते हैं।) (निगुण्ठ के अनुसार वह पैत्रिक सम्पत्ति जिसका बँटवारा पुत्रों में किया जाता है दाय है। मिताक्षरा के अनुसार नारद द्वारा की गई दाय की परिभाषा की केवल व्याख्या की गई। नारद ने दाय की परिभाषा बताते हुए दो शब्दों का प्रयोग किया है : 'पितर-यस्य' तथा 'पुतरैः'।

पितरयस्य से अभिप्राय इसमें किया गया है पिता, पितामह तथा प्रपितामह ए पुतरैः से अभिप्राय लिया गया है : पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र । इस प्रकार मिताक्षरा की यह परिभाषा बनती है कि जब एक सम्बन्धी की सम्पत्ति को दूसरे सम्बन्धियों में संबन्ध की विदूरता के कारण विभाजित किया जाता है तो उस सम्पत्ति को 'दाय' कहा जाता है। (यहाँ एक सम्बन्धी से अभिप्राय है : पिता, पितामह एवं प्रपितामह तथा दूसरे सम्बन्धी से अभिप्राय है : पुत्र-पौत्र एवं प्रपौत्र) इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह चल एवं अचल पैत्रिक-सम्पत्ति जिसका विभाजन पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों में सह अधिकारी (कोपार्सनर) के रूप में किया जा सके वही दाय है।

दाय को दो प्रकारों में विभक्त किया गया है : एक वह जो सप्रतिबंधित हो जैसे चाचा की सम्पत्ति दूसरे जो अप्रतिबंधित हो, जिसमें पैतृक सम्पत्ति को मान सकते हैं। यथा--

दाय

सप्रतिबंधित अप्रतिबंधित

दाय का अध्ययन कर लेने के बाद यह जानना आवश्यक हो जाता है कि दायभाग और मिताक्षरा क्या हैं। इतना तो सामान्यतया स्पष्ट है कि परिवार में सम्पत्ति सम्बन्धी विभाजन के किसी भाग से इनका सम्बन्ध है क्योंकि उसी संदर्भ में ऊपर इनका वर्णन किया गया है। परन्तु इन दोनों में जैसा इनके सिद्धान्तों के अध्ययन से आगे स्पष्ट होगा विभाजन सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन है जिसके अनुसार हिन्दू परिवार के सदस्यों में सम्पत्ति का विभाजन होता है (आज भी यह व्यवस्था प्रचलित है) (मिताक्षरा का सिद्धान्त सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित है जब कि दायभाग का सिद्धान्त केवल बंगाल में ही प्रचलित है। इस विधान के अनुसार हमारी पुरातन तथा वर्तमान बँटवारे की समस्या नियन्त्रित होती रही।

इनस प्रवर्तक कौन हैं—यह दो विभिन्न सिद्धान्त हैं। मिताक्षरा के प्रवर्तक विज्ञानेश्वर हैं। इन्होंने याज्ञवल्क स्मृति के श्लोकों पर भाष्य लिख कर इस सिद्धान्त की रूप-रेखा प्रस्तुत की। दूसरे विचार के उन्नायक जीमूतवाहन हैं।

इनका सिद्धान्त क्या है--जब हम इनके सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं

हैं तो यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि दोनों दो भिन्न मार्गों के प्रवर्तक हैं। अतएव दोनों के सिद्धान्तों का अलग-अलग निरूपण करना आवश्यक है।

अ. मिताक्षरा का सिद्धान्त—इसे जन्मनास्वत्व का भी सिद्धान्त कहते हैं क्योंकि इसमें परिवार के प्रत्येक सदस्य का अधिकार परिवार की सम्पत्ति पर जन्मजात स्वीकार किया गया है। इस विधान के अनुसार गर्भ में बालक के आते ही उसका सम्पत्ति में अधिकार स्वीकार कर लिया जाता है। अतएव इसमें पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र का पारिवारिक सम्पत्ति पर जन्मजात अधिकार स्वीकार किया गया है। इसमें पिता पैतृक सम्पत्ति का केवल संरक्षक माना जाता है अधिकारी नहीं। वह पुत्रों की ओर से केवल इसका संरक्षण करता है अन्यथा पुत्रों के साथ वह इसमें समान भाग का अधिकारी होता है। पुत्र किसी भी समय पिता से पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा माँग सकता है और पिता को भी सुरुचि के अनुसार अथवा अरुचि के अनुसार उन्हें इसमें हिस्सा देना पड़ता है। यद्यपि पीछे नीति शास्त्रियों ने कहा कि पुत्र को पिता के जीवित रहते सामान्यतया बँटवारे के अधिकार का प्रयोग नहीं करना चाहिए विष्णु, व्यास, कात्यायन आदि ने भी इसे स्वीकार किया है। केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही जैसे धार्मिक कार्य में, परिवार के रक्षार्थ आदि में पिता को यह विशिष्ट अधिकार प्रदान किया गया है कि वह पैतृक सम्पत्ति का उपयोग कर सके। वह इन परिस्थितियों में परिवार की अचल सम्पत्ति को बेंच सकता है अथवा धरोहर रख सकता है।

इसके सपिण्ड की व्याख्या जिस पर उत्तराधिकार का विधान आश्रित है सपिण्ड के सम्बन्ध में ऊपर के खण्ड में की जा चुकी है। इसी प्रकार बंटवारे के सिद्धान्त में भी इसका निर्देशन है।

ब. दायभाग का सिद्धान्त—यह प्रथा केवल बंगाल में ही अपनाई जाती है। इसका कारण है वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार, विशिष्ट प्रकार का वातावरण, व्यवसायिक विशिष्टता आदि। इस सिद्धान्त का नाम उपरमस्वत्व भी है। इसमें जैसा इसके नाम से ज्ञात होता है परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार तो होता है पर व्यक्तिगत रूप से नहीं सामूहिक रूप से और सबसे बड़े व्यक्ति की मृत्यु के बाद ही दूसरों का अधिकार हो जाता है। फिर भी उसका नियन्त्रण बड़ा भाई ही करता है। इसके समर्थकों का यह विचार है कि जन्मनास्वत्व का सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक तथा अव्यावहारिक है। इसका कारण यह बताया गया है कि यदि पिता को पुत्र हो और पिता वृद्ध हो तब भी उसे धर्म कार्य करना चाहिए, ऐसा वेदों का कथन है। पर जन्मनास्वत्व में प्रत्येक पुत्र का जन्मजात अधिकार होने से बिना पुत्रों की

इच्छा के पिता कुछ भी नहीं कर सकता। पुनः दूसरा तर्क यह प्रस्तुत किया गया है कि नारद ने कहा है कि पिता के मरने के बाद ही पुत्रों को परिवार की सम्पत्ति का विभाजन कराना चाहिए। इसमें जीमूतवाहन के जन्मजात अधिकार को कोई स्थान नहीं मिलता। पर यह दोनों ही तर्क अधूरे हैं क्योंकि वेद में पिता के धर्म करने के अधिकार के लिए ही व्यास, विष्णु आदि ने कहा है कि यद्यपि पिता केवल परिवार की सम्पत्ति का संरक्षक होता है फिर भी धर्म कार्य और परिवार की संरक्षता के लिए उसे यह भी अधिकार है कि वह इसका उपयोग चाहे जिस किसी भी प्रकार से करे। दूसरे तर्क की अपूर्णता तभी सिद्ध हो जाती है जब नारद के इस कथन को आपस्तम्ब के आधार पर नैतिकता की तराजू पर तौलते हैं।

५. इनमें अन्तर क्या हैं ?

जब हम दोनों सिद्धान्तों के अन्तर पर विचार करते हैं तो निम्नांकित अन्तर ज्ञात होता है:--

१. दायभाग में ऊपर के सदस्य की मृत्यु पर ही उत्तराधिकारियों में बंटवारा किया जा सकता है। परन्तु मिताक्षरा में प्रत्येक सदस्य का जन्मजात उत्तराधिकार होता है।

२. दायभाग में प्रत्येक सह--उत्तराधिकारी का भाग परिवार की प्रत्येक भूमि में नहीं होता है पर सम्पूर्ण भूमि में उसे हिस्सा मिलता है जब कि मिताक्षरा में प्रत्येक सदस्य को प्रत्येक भू खण्ड में अधिकार मिलता है।

३. दायभाग में प्रत्येक सदस्य अपनी सम्पत्ति बिना दूसरे की अनुमति के बेंच सकता है पर मिताक्षरा में यदि किसी भी सदस्य को कोई भी अपने अधिकार की भूमि बेंचनी हो तो उसे सब की अनुमति लेनी पड़ती है।

४. दायभाग में दाय सप्रतिबन्धित होता है पर मिताक्षरा में यह अप्रतिबन्धित होता है।

५. दायभाग में पुत्र पिता के जीवित रहते सम्पत्ति के विभाजन में समान का अधिकारी नहीं हो सकता। पर मिताक्षरा में प्रत्येक सदस्य समान भाग का अधिकारी होता है।

६. मिताक्षरा में व्यक्तिगत सम्पत्ति जो पिता अर्जित करता है उसमें से वह जितना चाहे उतना अपने लिए रख सकता है और शेष उसे सभी भाइयों में समान रूप से विभाजित करता है। पैतृक सम्पत्ति में भी उसे सब को समान भाग देना पड़ता है। इस प्रकार की समस्या दायभाग में नहीं है।

७. दायभाग में पुत्र के स्वअर्जित सम्पत्ति में आधा पिता लेता है और आधा वह पुत्र। और लोगों को उसमें कोई भाग नहीं मिलता। पर यह उस स्व-अर्जित सम्पत्ति का बँटवारा है जिसे पुत्र विना परिवार की सहायता के अर्जित करता है। पर जहाँ इसे वह परिवार की सहायता से अर्जित करता है वहाँ केवल दो भाग वह पाता है, एक भाग शेष परिवार और आधा पिता पाता है।

८. दायभाग में प्रमुख उत्तराधिकारी योग्यता के क्रम से नियत किया जाता है पर मिताक्षरा में उत्तराधिकारियों के नियत करने में रक्त सम्बन्ध की ही प्रभुता होती है।

९. दायभाग में जहाँ संयुक्त परिवार होता है पुत्रहीन पति के मरने पर विधवा उत्तराधिकारी होती है पर मिताक्षरा में ऐसा नहीं है।

१०. मिताक्षरा के अनुसार सम्पत्ति में भाग लेने का अधिकार दत्तक पुत्र का और के समान होता है। जिस दिन वह गोद लिया जाता है उसी दिन उसका यह अधिकार बन जाता है। पर दायभाग में औरस तो बँटवारा करने का अधिकार ही नहीं रखते तो दत्तक का कहाँ स्थान है।

११. मिताक्षरा में पिता अचल सम्पत्ति को चाहे वह पैतृक हो अथवा स्व-अर्जित हो अपनी रुचि के अनुसार खर्च नहीं कर सकता जब कि चल सम्पत्ति पर चाहे वह जिस किसी भी प्रकार का हो उसे पूर्ण अधिकार होता है। पर दायभाग में चल तथा अचल दोनों पर पिता का पूर्ण अधिकार होता है।

१२. मिताक्षरा में सम्पत्ति का संरक्षक सम्पत्ति का प्रयोग आपत्काल में तथा कुटुम्ब के लिए कर सकता है पर दायभाग में ऐसी बात नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साधारणतया दायभाग एवं मिताक्षरा में विभिन्न क्षेत्रों में बड़ा अन्तर है।

६. कौन पहले का है

यद्यपि सिद्धान्त में दोनों अधिनियमों का प्रचलन बहुत पीछे हुआ परन्तु व्यवहार में यह बहुत पहले ही प्रचलित हो चुके थे। इनमें कौन पहले का है। जब इस समस्या के ऊपर अध्ययन करते हैं तो हिन्दू परिवार के विकास क्रम को देखने से यही ज्ञात होता है कि मिताक्षरा की अपेक्षा दायभाग का ही प्रयोग समाज में हो रहा था। सदा परिवार का सर्वश्रेष्ठ पिता होता था तथा सम्पूर्ण परिवार की सम्पत्ति उसके ही अधीन होती थी। उसका अनियमित अधिकार सम्पत्ति पर होता था। उसकी मृत्यु के बाद ही बड़ा लड़का अधिकारी होता था।

परन्तु ऐतिहासिक क्रम के अध्ययन से प्रमाणों के सटीक विवेचन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि इनमें मिताक्षरा सबसे पुराना है। ऊपर जो उदाहरण अध्य अध्ययन का प्रकार लिया गया है वह आखेट युग का द्योतक है। पर जब ऐतिहासि काल से अध्ययन करते हुए वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो प्रारम्भिक प्रमा हम देखते हैं कि पिता के जीवन काल में ही पुत्र सम्पत्ति का बँटवारा करा लेते थे इसके लिए उन्हें विधानतः अधिकार था। अतएव यदि पिता की इच्छा न होती थी तब भी बालक बँटवारा करने के लिए उन्हें बाधित कर सकता था। वैदिक साहित्य के निम्नांकित प्रमाण इस तर्क की पुष्टि करते हैं :

(१) अग्नि की प्रार्थना में कहा गया है कि 'वह उसी प्रकार (आप से) धन लेते हैं जैसे वृद्ध पिता से।

(२) ऐतरेय ब्राह्मण में एक कथा का उल्लेख है कि नाभानेदिष्ट मनु का नवयुवक पुत्र था जो बँटवारे के समय पढ़ने गया था। गलती से बटवारे के हिस्से से वह वंचित रह गया। वहाँ से लौटने पर उसने अपना भाग माँगा। मनु ने कहा कि मैं एक यज्ञ की व्यवस्था कर रहा हूँ। इसका दान तुमको दिया जायगा।

(३) गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि बाल्यकाल में पिता के ऊपर ... आश्रित रहता है पर जब पुत्र अवस्था प्राप्त हो जाता है तो पिता ही पुत्र पर आश्रित हो जाता है।

(४) सतपथ ब्राह्मण में भी इसी प्रकार का उल्लेख किया गया है। ये सभी प्रमाण सिद्ध करते हैं कि वैदिक साहित्य इस बात का साक्षी है कि उस सम पारिवारिक सम्पत्ति में पुत्र का जन्मजात अधिकार था और वह अपने हिस्से का दावा कर सकता था।

उपनिषद काल में आने पर पुनः साहित्य साक्ष्य इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। कौशितकी ब्राह्मण उपनिषद के अनुसार पिता मृत्यु के समय अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने पुत्रों में विभाजित कर देता था। पर यदि बँटवारे के बाद उसकी मृत्यु न हो तो वह चाहे पुत्रों के ऊपर आश्रित होकर रहे अथवा संन्यास धारण कर ले। इसीलिए डा० जौली ने कहा है कि पुरातन काल में हिन्दू सम्पत्ति के बँटवारे की विधि एक अज्ञात परम्परा थी।

पुनः जब हम धर्मशास्त्रों पर विचार करते हैं तो यही ज्ञात होता है कि मिताक्षरा प्रणाली का ही विचार समाज में प्रचलित था। आपस्तम्ब ने कहा है कि सभी पुत्रों को परिवार की सम्पत्ति में समान भाग देना चाहिए। बड़े लड़के को दूसरों की अपेक्षा अधिक हिस्सा देने की मनाही की गई है। यह सिद्ध करता है कि पिता के जीवन काल में ही सम्पत्ति विभाजन की परम्परा प्रचलित थी। गौतम जिन

समय आपस्तम्ब से पहले नियत किया जाता है उन्होंने भी यह संकेत किया है कि वह ब्राह्मण जो सम्पत्ति का बँटवारा पिता के जीवन काल में कराता है उसे श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिए। यह सिद्ध करता है पिता की इच्छा के विरुद्ध सम्पत्ति के बँटवारे की परम्परा बहुत दिनों से समाज में प्रचलित थी।

स्मृतिकारों का भी यही विचार है कि जीवन में एक समय ऐसा है जब पिता अपने जीवन काल में ही अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँटता है। दूसरा समय बँटवारे का पिता की मृत्यु के बाद आता है। मिताक्षरा जिसका सिद्धान्त ही याज्ञवल्क स्मृति पर आधारित है ऐसा निर्देशित करता है कि बँटवारा चार समय किया जा सकता है जिनमें दो पिता के जीवन काल के हैं और दो उसकी मृत्यु पर। गौतम ने भी कहा है कि पिता के जीवन काल में सम्पत्ति का बँटवारा होना चाहिए।

मध्यकालीन लेखक अर्थात् निबन्धकारों एवं भाष्यकारों के अनुसार, जिनमें पारिजात एवं शंखलिखित की ओर हम संकेत कर सकते हैं, तैतृक सम्पत्ति का बँटवारा पिता के जीवनकाल में ही होना चाहिए।

आधुनिक काल में भी बंगाल को छोड़ कर शेष भागों में कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ मिताक्षरा को ही स्थान मिला है। बंगाल में भी धीरे-धीरे इसी सिद्धान्त को थोड़ा परिवर्तित कर अपनाया जा रहा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक आधार पर दायभाग की अपेक्षा मिताक्षरा पुरातन है। केवल नारद एवं जैमिनी इस मत के विरोधी हैं। पुनः इसे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि भले ही परिवार की सम्पत्ति का पिता संरक्षक होता था पर ऋग्वेद से ही उसे इस बात की छूट दी गई है कि धर्मार्थ के लिए तथा कुटुम्ब की रक्षा के लिए उसका इस सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार है। वह चाहे जिस प्रकार इसका उपयोग करे।

---o---

अध्याय ८

नारी की अवस्था

भारतीय परिवार पूर्ण पितृ प्रधान है और था जैसा हमने परिवार के सम्बन्ध में अध्ययन किया है। अतएव यहाँ पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों का विशेष आदर होता था। इसीलिए प्रायः मोक्ष की पूर्ति, पिण्डदान का कार्य, श्राद्ध कर्म, पितृ ऋण से उऋण होने के लिए पितृ यज्ञ आदि पुत्र से ही सम्बन्धित बनाए गए। लड़कियों का इस प्रकार कोई भी पुण्य सम्बन्धी स्थान परिवार में नहीं नियत किया गया। पुनः यदि संस्कारों पर ध्यान दिया जाय तो विवाह के बाद गर्भाधान संस्कार होता है और उसके बाद पुंसवन का स्थान आता है। पुंसवन में पुरुष तथा स्त्री दोनों ही परस्पर यह निश्चय करते हैं कि हमें पुत्र उत्पन्न हो। इससे यह भी सिद्ध है कि समाज में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का आदर होता था। अथर्वेद के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इसमें बहुत से ऐसे मंत्र प्रयुक्त हैं जिनके आधार पर पुत्र का जन्म विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता था[1]। पीछे बंगाल में एक ऐसी परम्परा प्रचलित हुई जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि पुरुषों का विशेष आदर था स्त्रियों का नहीं क्योंकि जैसे ही लड़कियाँ पैदा होती थीं उनके माता-पिता उनके बदन पर नमक तब तक मलते रहते थे जब तक कि वे कष्ट से मर न जायँ। यह पाशविकता की चरमता कही जा सकती है। इस प्रकार यह विभिन्न तर्क यही पुष्ट आधार प्रस्तुत करते हैं कि समाज में लड़कों का आदर था।

लड़कियों का समाज में स्थान

पर यह सभी कथन ध्रुव प्रमाण इस दृष्टि से नहीं माने जा सकते कि लड़कियों का कोई सामाजिक स्थान ही नहीं था क्योंकि जहाँ उपर्युक्त तर्क एक ओर मिलते हैं वहीं यह भी ज्ञात होता है कि विदुषी लड़कियों का समाज में आदर था। वृहदारण्यक उपनिषद में एक ऐसे कर्मकाण्ड का उल्लेख है जिसमें गृहस्थ यह कामना करता था कि उसके यहाँ एक विदुषी लड़की उत्पन्न हो।[2] कुमार सम्भव में कहा गया है कि .—

'कन्येयं कुलजीवितम्'

---

१ अथर्ववेद, ३, २३।

२ वृहदारण्यक उपनिषद, ४, ४, २७।

इससे सिद्ध होता है कि लड़कियों को समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इसलिए पीछे की अपेक्षा पहले लड़कियों का समाज में उचित स्थान था क्योंकि उनका विवाह कोई विशेष समस्यामूलक नहीं होता था, विधवा विवाह प्रचलित था, अतएव विधवा समाज पर कोई बोझ नहीं होती थीं, वैदिक साहित्य के अध्ययन की अधिकारिणी होने से उनका विवेक भी विकसित होता था। पर पीछे इनकी अवस्था क्रमशः गिरती गई। इस गिरती हुई अवस्था के निम्नांकित कारण है :

१. पितृ पूजा की भावना प्रचलित हुई। यह पूजा पुत्र ही कर सकता था क्योंकि वही सपिण्ड होता था।

२. ईस्वी सन् के बाद से बाल विवाह का धीरे-धीरे प्रचलन समाज में हो चला था। यह प्रथा स्मृतियों एवं पुराणों के समय और भी विकसित और प्रौढ़ रूप धारण कर चुकी थी। इसके साथ ही इस समय बाल मृत्यु बहुत होती थी। दूसरी ओर इन विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा भी समाप्त कर दी गई थी।

३. अन्तरजातीय विवाह का समाज में विरोध होने लगा।

४ एक उपयुक्त दामाद को छोटी अवस्था में खोजना बड़ा ही कठिन हो गया था।

५. दुर्भाग्यवश यदि लड़की विधवा हो जाती थी तो पिता के सिर विपत्ति आ जाती थी। उसको ही उसके जीवन का निर्वाह करना पड़ता था।

६. सती प्रथा का भी इस समय प्रचलन हो चुका था जो पिता को प्रायः इस बात के लिए बाधित करता था कि वह अपनी संतान को अपने सामने ही चिता पर जलते हुए देखे। इसीलिए कहा गया है कि :

सखा है जाया कृपणं हि दुंहिता ज्योतिर्हि पुत्रः परमे व्योमन्।

एतरेय ब्राह्मण ७१३

अर्थात् जहाँ पुत्र परिवार की आशा है वही पुत्री परिवार के लिए अपार दुःख का कारण है।

अतएव उपर्युक्त कारणों के आधार पर पीछे नारियों का समाज में कोई समादृत स्थान नहीं रह गया।

नारी की शिक्षा

शिक्षा के अध्याय ही में हमने देखा है कि पुरातन काल में स्त्री और पुरुषों को समान रूप से उनकी योग्यतानुसार शिक्षा दी जाती थी। इसीलिए दोनों के ही लिए उपनयन संस्कार का महत्व स्वीकार किया गया था। पुरुषों की तरह स्त्रियों का भी उपनयन होता था। वैदिक साहित्य का अध्ययन दोनों को ही करना पड़ता था। ऐसी आज्ञा वैदिक साहित्य तथा ब्राह्मण साहित्य में इसीलिए प्रदान की गई

कि नारियों को भी वैदिक कर्मकाण्ड में स्थान दिया जाने लगा। बहुत पीछे यह व्यवस्था समाप्त हुई अन्यथा चिर काल तक चलती रही क्योंकि आठवीं शताब्दी के लेखक यम ने यह स्वीकार किया है कि पुरातन काल में यह संस्कार प्रचलित था।

शिक्षा प्राप्त करने वाली नारियाँ दो प्रकार की बताई गई हैं एक साध्वोवधू तथा दूसरी ब्रह्मवादिनी। पहले कोटि की नारियाँ एक नियमित अवधि तक शिक्षा प्राप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जाती थीं परन्तु ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करती थीं, वे आजन्म शिक्षा प्राप्त करती रहती थीं। इन्हें प्रमुख रूप से वेद की शिक्षा तथा विभिन्न कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।

इस समय प्रारम्भिक शिक्षा तो पिता के घर ही इनकी होती थी। पर उच्च शिक्षा के प्राप्त करने के लिए यह भी गुरुकुलों में जाया करती थीं। वहाँ दो प्रकार को व्यवस्था थी। एक तो वह जिसमें आज की समुन्नत लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करती हैं, जिसे सहशिक्षा प्रणाली कहते हैं। दूसरी वह व्यवस्था जिसमें इनकी शिक्षा के लिए अलग व्यवस्था की गयी थी। सह-शिक्षा का प्रमाण स्वयं रामायण है जहाँ ऐतरेयी का लव और कुश के साथ शिक्षा ग्रहण करने का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार मालती माधव में कामान्दकी का भूखसू एवं देवराट के साथ शिक्षा ग्रहण करने का वर्णन मिलता है। जहाँ तक अलग शिक्षा व्यवस्था की बात है इस सम्बन्ध में हम दो शब्दों का प्रयोग पाते हैं उपाध्याया एवं उपाध्यायनी। इसमें उपाध्याय का स्त्रिलिंग उपाध्याया है पर उपाध्यायनी तो स्पष्ट रूप से स्त्री शिक्षिका को ही व्यक्त करती है। इनके रहने के लिए अलग व्यवस्था थो जिसका वर्णन पाणिनी ने किया है तथा उनके जीवन क्रम का एक अपना नियमित विधान था जिसका ज्ञान बौद्ध साहित्य से होता है। बौद्ध मठों में भी नारियों के शिक्षा की व्यवस्था की गई थी।

इस समय दर्शन की प्रमुख विदुषी याज्ञवल्क की स्त्री मैत्रेयी थी। गार्गी तथा ऐत्रेयी भी इसी कोटि की विदुषों थीं जो परस्पर विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ में भाग लेती थीं।

यह स्थिति १०० ई० पू० तक बनी रही। उसके बाद इस स्थिति में क्रमशः ह्रास होता गया। इसका कारण यह था कि विवाह की अवस्था इसके बाद क्रमशः कम होती गई। अतएव अब उन्हें अध्ययन करने का समय नहीं मिलता था। अतएव उसका पति गृह ही पाठशाला बन गया तथा विवाह ने ही उपनयन का भी स्थान ले लिया। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य का भण्डार बड़ा विस्तृत हो गया। इसे पढ़ने के लिए लम्बी अवधि की आवश्यकता पड़ती थी। लड़कियों के लिए इतना समय नहीं था। पुनः वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए शुचि और उच्चारण की

शुद्धता पर बल दिया गया। परन्तु स्त्रियाँ न शुचि ही अधिक रह सकती थीं और न स्पष्ट उच्चारण ही कर सकती थीं। वैदिक साहित्य का अध्ययन घातक माना जाने लगा क्योंकि उच्चारण सम्बन्धी थोड़े से दोष के कारण उच्चारण करने वाला ही उस पाप का भाजन बनता था।

इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत कम युवतियाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए गुरुकुलों में जाती थीं। अतएव अब अधिकांश अपने ही घर अध्यापक रख कर शिक्षा ग्रहण करती थीं। पर यह सभी के बस की बात नहीं थी कि अध्यापकों की नियुक्त करें, अतएव कुछ बहुत धनी परिवार ही ऐसा करता था परन्तु पड़ोसी के बालक और बालिकाएँ भी इससे लाभ उठाते थे। यहाँ संस्कृत और पाली साहित्य की सामान्य शिक्षा दी जाती थी परन्तु इसके साथ ही गृह विज्ञान एवं विभिन्न कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी, जिससे उनका भावी जीवन सुखद हो सके। अतएव अब नारी शिक्षा केवल उच्च कुलों तक ही सीमित हो गई।

केवल उच्च परिवार की ही लड़कियाँ इसीलिए अब अधिक शिक्षित होती थीं। विदुषियों की संख्या भी पहले की अपेक्षा कम हो गई क्योंकि सीमित शिक्षा के कारण इनकी संख्या सीमित हो गई। इस प्रकार की विदुषी नारियों में रेवा, रोहा, माधवी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि इन्हें ही यह श्रेय प्राप्त है कि इनकी रचनाओं के संकलन से 'गाथा-सप्तशती' की रचना हो सकी है। इस समय की दक्षिणी भारत की प्रमुख विदुषी नारी थी विजयांका जिसकी ख्याति कालिदास के समान सर्वव्याप्त थी। इसी प्रकार कौमुदी महोत्सव भी इसी समय की एक नारी की कृति है जिसका नाम विज्जिका या विद्या बताया गया है। कुछ नारियाँ आलोचना भी करती थीं। इस सम्बन्ध में रामशेखर की स्त्री का उल्लेख किया जा सकता है जो एक ही साथ कवित्री एवं लेखिका दोनों ही थी। इसी प्रकार कुछ नारियाँ चिकित्सा जगत में ख्याति प्राप्त थीं जैसे रूसा।

इस प्रकार नारी की अवस्था के क्रमशः गिरने के साथ ही साथ इनकी शिक्षा की स्थिति भी गिरती गई।

वधू के प्रति व्यवहार—नारी की स्थिति निश्चित करने के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि बधुओं के साथ कैसा व्यवहार होता था; क्योंकि वही समाज की एक ऐसी सदस्य है जो मुँह रहते हुए भी मूक बनी रहती है। उस मूक के प्रति लोगो का व्यवहार वास्तव में इसका स्पष्ट परिचायक बनेगा कि इसकी सामाजिक स्थिति क्या थी।

वैदिक काल में प्रौढ विवाह प्रथा का प्रचलन था। इसलिए गांधर्व विवाह का विशेष महत्व इस समय बना रहा। पुरुष और स्त्री दोनों ही अपनी रुचि

के अनुसार विवाह करते थे। अतएव इस समय वैवाहिक जीवन बड़ा ही शान्ति प्रिय और प्रेम परक था। उसके साथ पुरुष मैत्री का व्यवहार करता था। अतएव उसे अर्धांगिनी कहा गया है। साथ ही इस समय यह कामना की जाती थी कि नर दम्पति गृह बोझ अपने ऊपर ले लें। इस प्रकार के मन्त्र का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। यही स्थिति उत्तरवैदिक काल तथा उसके बाद महाकाव्यों के समय तक बनी रही। सीता द्रौपदी आदि जिन नारी चरित्रों का वर्णन महाकाव्यों में किया गया है वह सब इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं कि इस समय नारियाँ जहाँ पति की ओर से श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती थीं, वहीं घर के सदस्य भी उन्हें उसी श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से देखते थे। ऐसा होने का कारण यह था कि वह धर्म को समझती थीं। अतएव प्रत्येक कार्य धर्म के अनुकूल करती थी जिससे किसी का भी अहित नहीं होता था। इसीलिए पति के साथ समाज में स्वतन्त्र विचरण का जहाँ अधिकार था वहीं पत्नी को धर्म कार्य में भी प्रतिष्ठित कर्मकाण्डों को करने का भी अधिकार दिया गया था।

बौद्ध साहित्य के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि इस समय से उनकी स्थिति में कुछ ह्रास होने लगा। पाली साहित्य, धम्मपद, थेरीगाथा आदि के अनुसार सासों के दुर्व्यवहार से वधू बहुत ऊब सी जाती थीं। इन्हें घरों में पीटा जाता था, डाँटा जाता था आदि अनेक प्रकार की यातनाएँ वहाँ दी जाती थी। पर जहाँ इस प्रकार का वर्णन किया गया है वहीं यह भी उल्लिखित है कि वधू भी कभी-कभी अपने सासों को यातनाएँ देती रहती थीं। इसीलिए अधिकांश अविवाहित लड़कियाँ इन यातनाओं से ऊब कर बौद्ध संघ में भिक्षुणी के रूप में प्रवेश करने लगीं। पर डा० अल्टेकर ने इस प्रकार के वर्णन को अपवाद बतलाया है। वास्तव में डाक्टर साहब यहाँ न्यायपूर्ण प्रतीत होते हैं क्योंकि बहुत से ऐसे स्थल इन बौद्ध ग्रंथों में प्राप्य हैं जिनके वर्णन में वधू के प्रति सास द्वारा सद्भावना एवं श्वसुर द्वारा आदर का भाव प्रदर्शित किया गया है तथा वधू द्वारा भी इनके प्रति श्रद्धा एवं आस्था का भाव वर्णित है। इसके अतिरिक्त इस समय समाज में प्रौढ़ विवाह की प्रथा प्रचलित थी, अतएव ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता कि अवस्था प्राप्त वधू के साथ कभी इस प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाता रहा हो।

धर्म सूत्र तथा स्मृति ग्रंथों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भारतीय विचारकों के अनुसार विवाह की अवस्था कम कर दी गई। बाल विवाह का क्रमशः समाज में प्रचलन हुआ। स्मृति के समय तो आठ और दस वर्ष के बीच विवाह कर दिया जाता था। पुराणों के समय यह अवस्था घट कर और भी कम हो गई। अब चार वर्ष की आयु ही विवाह के लिए निर्धारित कर दी गई। अतएव उपनयन का समय न उन्हें मिलता था और न वह विद्यालय में जाकर शिक्षा ही ग्रहण कर सकती

थीं। उपनयन की अवस्था में विवाह ही होने लगा। इसलिए यह दोनों संस्कार समान मान लिए गए। जहाँ वह गुरु गृह में जाकर विषयों का पहले अध्ययन करती थी, गुरु से सीखती थीं वहीं अब पति से सीखने लगी और उसके घर के काम-काज का ज्ञान प्राप्त करती थीं। इसीलिए यह कहा गया है कि इस समय उसका गुरु उसका पति बन गया, उसकी पाठशाला पति गृह बना, पाठ्य विषय गृह कार्य बना एवं उपनयन संस्कार का स्थान विवाह ने ले लिया। इस समय पति तथा उसके पिता एवं माता उस वधू को गलती करने पर सुधारने के लिए कुछ दण्ड देते थे। इसीलिए धर्मशास्त्रकार एवं स्मृतिकारों ने नारी को ताड़ना का अधिकार पति के हाथ सौंपा है। इसका वर्णन परिवार के अध्याय में पिता के अधिकार तथा पति के अधिकार के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सदा समाज में इनके प्रति उच्च भावना बनी रही। केवल बाल-विवाह के समय ही थोड़ा सा दुर्व्यवहार इनके प्रति किया जाने लगा वह भी इस भावना से कि इनके दोषों का परिहार किया जा सके।

मातृपद का महत्व––विवाह के अध्याय में हमने विवाह के महत्व का अध्ययन किया है। इस महत्व के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि चाहे और दूसरा जो भी इसका महत्व हो सर्व प्रमुख महत्व है पितृ ऋण से उऋण होना। ऋणों के सम्बन्ध में भारतीय जीवन के आधार शीर्षक पाठ में व्याख्या की जा चुकी है। पर यहाँ इतना मात्र कहना आवश्यक है कि संतान उत्पन्न करना विवाह का प्रमुख उद्देश्य है क्योंकि इससे जहाँ एक ओर हम ऋणों से उऋण होते हैं वहीं दूसरी ओर पुत्र के द्वारा मोक्ष प्राप्ति भी सम्भव होती है तथा श्राद्ध कर्म भी वही करता है। यद्यपि पुत्र भी बहुत हैं पर यह सभी दायित्व केवल उसी पुत्र को निर्वाह करना होता है जो विवाहित स्त्री से उत्पन्न हो। अतएव मातृ पद का विशेष महत्व भारतीय परिवार में स्वीकार करना स्वाभाविक है।

इसीलिए हमारे यहाँ धर्मशास्त्रकारों ने यह कहा है कि ब्राह्मण अथवा दूसरे किसी भी वर्ण को यदि अपनी स्त्री से पुत्र न उत्पन्न हो तो स्त्री का धर्म है कि वह एकान्त में अपने पति को प्रेरित करे कि वह दूसरा विवाह कर ले। पुनः यह भी कहा गया है कि यदि उसके मृतक पुत्र हों तो तीन वर्ष तक उसे देखना चाहिए कि उसके जीवित पुत्र होते हैं अथवा नहीं। अगर उसे जीवित पुत्र न हों तो भी उसका धर्म होता है कि वह पति को दूसरा विवाह करने के लिए प्रेरित करे।

पुत्रवती नारियों का समाज में विशेष आदर होता था। घरों में जो स्त्रियां पुत्रवती नहीं होती थीं उनके प्रति निरादर का व्यवहार किया जाता था। आज भी यह स्थिति किसी न किसी सीमा तक समाज में व्याप्त है। पर उसी स्त्री को जिसे पुत्र उत्पन्न हो जाता है कि तत्काल जन रुचि उसकी ओर हो जाती है और सभी लोग उसकी ओर आदरपूर्ण दृष्टि से देखने लगते हैं। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण पुरातन काल में किशगौतमी है[1]। पहले घर में इसका बड़ा निरादर था, क्योंकि इसे पुत्र नहीं था पर जैसे ही इसे पुत्र उत्पन्न हुआ कि इसे पूर्ण श्रद्धा और आदर मिलना प्रारम्भ हो गया।

माता का पद पिता और गुरु की अपेक्षा श्रेष्ट माना गया है।[2] यद्यपि साधारणतया इन तीनों को अति-गुरु की कोटि में रखा गया है फिर भी माता के प्रति सदा इनकी अपेक्षा कहीं अधिक आदर का स्थान माना जाता था। इसीलिए भारत में विदेशों की अपेक्षा बहुत कम पितृहन्ता सम्राटों का विवरण मिला है परन्तु समाज में शायद ही मातृहन्ता पुत्र का कहीं विवरण मिला हो। इस सम्बन्ध में केवल हमें परशुराम का एकमात्र ऐसा उदाहरण मिलता है जिन्होंने अपने माता की हत्या की। वह भी अपने पिता के आज्ञापालन करने के ही निमित्त।

पुनः आर्थिक दृष्टि से भी माता के स्थान का महत्व हमारे धर्माधिकारियों द्वारा स्वीकार किया गया है। पुत्रहीन पत्नी अपने पति की मृत्यु पर सम्पूर्ण सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं बन सकती थी। इसके साथ ही पुत्रों से वंचित रह कर स्त्रियों का भी जीवन सुखमय नहीं हो सकता है। इसलिए पुत्र का महत्व और पुत्रवती स्त्रियों की महत्ता हमारे समाज में चिर अतीत से ही स्वीकार की गई है।

पत्नी के कार्य—भारतीय समाज में पति के समान ही पत्नी का स्थान स्वीकार किया गया है। इसीलिए उसे अर्धांगिनी कहा जाता है। धर्म, अर्थ, व्यवस्था आदि विभिन्न आन्तरिक क्षेत्र में पति की वह सहायक होती है पर वहीं वाह्य क्षेत्र में केवल कुछ विषयों पर मन्त्रणा मात्र वह दे सकती है यदि पति उससे इस विषय में पूछे तब। घर के कार्य में उसे घर साफ करना, बर्तन साफ करना, रसोई बनाना, पुत्रों का पालन-पोषण करना, बड़े लोगों का उचित आदर करना, नौकर-चाकरों के साथ दया और स्नेह का व्यवहार करना उसका कार्य है। इसके साथ ही घर की व्यवस्था के लिए वस्तुओं का प्रबन्ध करना, उसमें बचत का इन्तजाम करना, उनका इस

---

१ थेरिगाथा, ६३।

२ गुरुणां चैव सर्वेषां माता परमेको गुरुः। महा० १,२११,१६।

प्रकार उपयोग करना कि अधिक से अधिक वह बचत कर सके। इसके साथ ही पति को घर की व्यवस्था में सलाह देना भी उसका धर्म होता है। अपने छोटे बच्चों की देख-रेख करना, उन्हें उचित प्रकार से रखना उनके लिए विभिन्न व्यवस्था करना उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा देना एवं व्यावहारिक कार्यों में निपुण बनाना स्त्री का ही कार्य होता है।

इस प्रकार नारी के विविध कार्य होते हैं।

बहुपत्नी प्रथा—मुगल कालीन इतिहास का यदि अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि मुगल बादशाहों के हरम में बहुत सी स्त्रियाँ रहती थीं। आज भी राज्यों के टूटने के पूर्व जितनी भी मुसलमानी रियासतें थीं उन में नवाब बड़ी संख्या में स्त्रियाँ रखते थे। यह प्रथा कुछ हद तक प्राचीन भारत में भी विद्यमान थीं। भारतीय इतिहास का यदि पृष्ट पलटा जाय तो ज्ञात होगा कि पुरातनकालीन शासक भी कई विवाह करते थे। इस सम्बन्ध में हम देखते हैं कि बिम्बिसार ने चार विवाह किया था, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने तीन विवाह किया था आदि। इस सम्बन्ध में सर्व प्रमुख समस्या यह उठती है कि क्यों इतना अधिक विवाह एक पुरुष करता था। डा० अल्टेकर ने इसके निम्नांकित कारण बताए हैं[१]:

(अ) वैभव के प्रदर्शनार्थ, (ब) बन्ध्या स्त्रियाँ होने के कारण, (स) राजनीतिक समस्याओं के सुलझाने के लिए, (द) बाल-विवाह से असंतुष्ट पति, (य) गृहकार्य हल्का करने के लिए (र), पहली स्त्री से मेल न बैठने से (मनु०), (ल) यदि पहली स्त्री कठोरवादिनी हो आदि।

इस प्रकार पुरातन काल में सौ-सौ स्त्रियों तक के रखने का वर्णन प्राप्य है। मनु की दस स्त्रियाँ थीं, याज्ञवल्क की बीस स्त्रियाँ थीं तथा हरीशचन्द्र की सौ स्त्रियाँ थीं।

बहुपति प्रथा—जैसे ऊपर हमने देखा है कि एक पुरुष कई पत्नी रखता था उसी प्रकार कुछ ऐसे उदाहरण भी प्राप्य है जिसके आधार पर जौली आदि विचारकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बहुपति प्रथा प्रचलित थी। पर यह तर्क कुछ जमता नहीं है क्योंकि केवल एक ही इस प्रकार का उदाहरण द्रौपदी का ही प्राप्त है। कुछ लोग सोम सूर्य्या का उदाहरण लेते हैं पर यह दैवीय शक्तियाँ हैं, अतएव

---

१ **पोजीशन ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन—अल्टेकर, ५०, १२३।**

व्यावहारिक एवं भौतिक जगत में इनका कोई महत्व नहीं। कुणाल जातक में भी इसी प्रकार का वर्णन उल्लिखित है परन्तु यह कोई स्वतन्त्र उदाहरण नहीं है। यह द्रौपदी के ही उदाहरण का जातक कथाओं में उल्लेख है। केवल अनार्यों में ही, वह भी बहुत ही सकुंचित क्षेत्र में इसका प्रचलन रहा है।

नारी और प्रथाएँ

अ. सती प्रथा—जब कोई पुरुष मर जाता था और उसको चिता पर ही उसके मृतक शरीर के साथ उसकी जीवित पत्नी स्वयं जल कर मर जाती थी तो उसे सती प्रथा की संज्ञा दी जाती थी। इसे कई नामों से भी सम्बोधित किया गया है। राजपूत काल में इसका नाम जौहर दिया गया। सभी बातें समान थीं अन्तर केवल इतना था कि पति दूसरे स्थान में मरता था अर्थात् युद्ध क्षेत्र में उसकी स्त्री उसी के नाम पर घर में चिता लगा कर स्वयं जल जाती थी। इसका कारण यह था कि लोगों का विश्वास था जो पत्नी इस प्रकार अपना शरीर त्याग करती है वह दूसरे जन्म में भी अपने इसी पति से मिलती है। दूसरा कारण यह था कि बाल विवाह होने के कारण बहुत सी लड़कियों पर संदेह होता था कि वह पवित्रतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकती हैं कि नहीं। इसीलिए यह आवश्यक माना जाता था कि पति की मृत्यु के तत्काल ही ये भी अपना इहलौकिक जीवन समाप्त कर दें।

यह प्रथा पूर्व ऐतिहासिक काल से ही प्रचलित थी। इसका कारण यह था कि लोगों में यह विश्वास था कि एक दूसरा लोक भी है जहाँ हम मृत्यु के बाद जाते हैं साथ मरने से हमारा संयोग वहाँ भी बना रहेगा। इसीलिए पुरातन मिश्र में यह व्यवस्था प्रचलित थी जब अपने मृतकों को पिरामिड़ों में रखते थे तो उसके साथ उनकी प्रिय वस्तुएं, खिलौने एवं स्त्रियाँ भी जीवित ही गाड़ दी जाती थीं। इसी प्रकार असीरिया में भी यह व्यवस्था विद्यमान थी। भारत में भी अशान्ति में इस व्यवस्था का उल्लेख है कि राजाओं को बहुत सुन्दर तरुणों के साथ ब्याह करने के लिए इस पर आज्ञापित था कि जब इनकी मृत्यु हो जाय तो वह भी इनके साथ अपने प्राणों को उत्सर्ग कर दें।

ऐतिहासिक काल में यह व्यवस्था धीरे-धीरे पनपती रही। अवेस्ता तथा ऋग्वेद में इस व्यवस्था का कोई भी उल्लेख नहीं है पर वैदिक काल में यह व्यवस्था थी इतना हम स्पष्ट रूप से स्वीकार कर सकते हैं। अथर्व वेद इसका प्रमाण है। इसकी निम्नांकित ऋचा इस बात को स्पष्ट करती है कि उस समय पुरुष के साथ चिता पर स्त्रियाँ सोती थीं पर वह स्वजनों द्वारा आग्रह करके उससे उतार ली जाती थीं जिससे

वह अपने पुत्रों की देख-रेख करें।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि पति के साथ मरना विधवा विवाह की अपेक्षा वैदिक काल में श्रेयस्कर माना जाता था।

परन्तु गृहसूत्र, ब्राह्मण आदि साहित्य इस विषय में पूर्ण मौन हैं। गृहसूत्र तथा ब्राह्मण साहित्य में यद्यपि इसका उसी प्रकार वर्णन मिलता है जैसे अथर्व वेद में परन्तु इसमें इसका कोई महत्व नहीं दिया गया है। इसलिए यही कहना समुचित प्रतीत होता है कि यहाँ साहित्य पूर्णतया मौन है।

बौद्ध साहित्य भी सती प्रथा के विषय में पूर्ण मूक है। यदि बौद्ध काल में इसका कोई भी स्वरूप विद्यमान रहता तो यह सम्भव ही नहीं कि बौद्ध विचारक इस प्रथा के विरोध मे थोड़ी भी अनमनस्कता दिखाते, क्योंकि यह तो उन्होंने अपना उद्देश्य ही बना लिया था कि रूढ़ियों का अधिक से अधिक विरोध किया जाय। विदेशी यात्री मेगास्थनीज, तत्कालीन समाजशास्त्री मनु ने भी इस प्रथा पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। फिर भी महाभारत के अध्ययन करने पर केवल इस प्रकार का एक उदाहरण माद्री का मिलता है जो बिना किसी धार्मिक भावना के केवल इसी उद्देश्य से मरना चाहती थी। उसके ही कारण उसके पति की मृत्यु हुई है। इसके अतिरिक्त उसने यह भी स्वीकार किया है कि वह अपनी कामुक प्रवृत्ति को रोकने में सम्भवतः असमर्थ होकर पथभ्रष्ट हो जाय तथा उसके परिवार वालों से मेल न बैठे।[2] कोई ऐसा तर्क इसमें नहीं है जो धार्मिक बंधन स्वरूप इस व्यवस्था का प्रतिपादन करता हो। इस प्रकार इसे एक व्यवस्था के रूप में हम स्वीकार नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त महाभारत में कोई इस प्रकार का स्थल नहीं है। इसी प्रकार रामायण में दशरथ की पत्नियों में भी इस व्यवस्था का निर्वाह नहीं है और न किसी और के सम्बन्ध में ही ऐसा विवरण इसमें प्राप्य है।

पुराण की रचना के समय भी सम्भवतः इस प्रथा का स्वरूप कोई बहुत व्यापक नहीं होगा क्योंकि पुराणों में इसका कोई सटीक प्रमाण नहीं दिया गया है। 'व्यापक' शब्द का प्रयोग इसलिए मैंने किया है कि सम्भवतः इस समय यह प्रथा किसी न किसी सीमा तक और किसी न किसी रूप में समाज में अवश्य ही विद्यमान थी क्योंकि यादवों की स्त्रियों के सती होने का यहाँ उल्लेख है। यों तो सैद्धान्तिक दृष्टि में यह अप्रासंगिक है क्योंकि महाभारत जहाँ इस प्रकार का विवरण नहीं देता वहाँ पीछे के

---

१ **इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यते उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।**
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धत्त ॥ १८,२,१।

२ **महाभारत १,१३८,७१२।**

साहित्य में इसका विवरण कुछ सटीक नहीं बैठता है। अतएव प्रचलित प्रथा का अनु-मोदन मात्र कर के पुराण के रचयिताओं ने इसका उल्लेख किया है इससे अधिक और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ऊपर के वर्णन से यही ज्ञात होता है कि यह प्रथा भारत में एक व्यापक स्तर पर प्रचलित नहीं थी जिससे इसका उल्लेख यहाँ के साहित्यकारों ने नहीं किया। साथ ही यह बहुत बाद में प्रारम्भ भी सम्भव है कि हमारे साहित्यकारों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

अब जहाँ तक इसके पक्ष की बात है हम देखते हैं कि सबसे प्रथम सती प्रथा का ऐतिहासिक प्रमाण हिन्दू सेनापति केतु का है जो एल्टीगोनसगोनैटस के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया तथा उसकी स्त्री ने सती प्रथा के अनुसार अपना शरीर त्याग दिया। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार यह प्रथा कंठों में भी व्याप्त थी। विष्णुस्मृति इसे पूर्णतया अविवेकशील नहीं बताती। पर विष्णु स्मृति इसका घोर विरोध करता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि यह प्रथा ७०० ई० पू० से ही पश्चिमी भाग में व्याप्त थी ज़ो धीरे-धीरे बढ़ती गई क्योंकि पीछे के संस्कृत साहित्यकार कालिदास भास, शुद्रक आदि ने अपनी रचना में इस प्रथा का उल्लेख किया है। वात्स्यायन ने तो यहाँ तक लिखा कि वारांगनाएँ अपने प्रेमी पर अधिकार पाने के लिए उन्हें आश्वा-सित करती थीं कि वह उनके साथ सती होंगी। हर्ष की बहन राज्यश्री के भी जीवन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पति की मृत्यु के बाद वह भी सती होने को तैयार थी कि हर्ष ने उसे समझा कर ऐसा करने से रोक दिया।

पर बहुत सी स्मृतियों में इसकी कुत्सा की गई है। इनमें यह वर्णित है जीवित रह कर स्त्री अपने पति का अधिक उपकार कर सकती है। बाणभट्ट जो हर्ष का सम-कालीन थी इस व्यवस्था का विरोध करता है। दूसरा विरोध का कारण था कर्मवाद हमारा जीवन कर्म पर आधारित है। जैसा भी कर्म हम इस जीवन में करते हैं वैसा ही फल हम दूसरे जीवन में प्राप्त करते हैं। इससे भले ही पत्नी पति के साथ पर आवश्यक नहीं कि दोनों की एक ही गति होगी क्योंकि दोनों का कर्म अलग-अलग होता है, अतएव दोनों की गति भी अलग-अलग होगी। फिर भी अंगिरस स्मृति पाराशर स्मृति खुले रूप से इसका समर्थन करती है। अंगिरस के अनुसार यही मात्र वह माध्यम है जिसके द्वारा दूसरे जीवन में भी पति से सहवास हो सकता यह ठीक उसी प्रकार है जैसे मदारी का सर्प पकड़ने का मन्त्र।

इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे सातवीं शताब्दी से यह प्रथा पनप गई। परन्तु एक हजार ईस्वी के लगभग यह प्रथा पुनः अपने विरोधों के कारण सम हो गई। इसीलिए इस समय के विदेशी यात्रियों के वर्णन से यह ज्ञात होता है बहुत कम स्त्रियाँ अब इसका अनुसरण करती थीं। दक्षिणी भारत में इसकी स्थि

उत्तर भारत की अपेक्षा बहुत अधिक बिगड़ चुकी थी। इसीलिए दक्षिणी भारत के राज्यवंशों के अभिलेखों में कहीं भी इस प्रकार प्रथा के प्रचलन का उल्लेख नहीं मिलता है।

पूर्व मध्यकालीन भारत में भले ही इस प्रथा का अभाव सा दिखाई पड़ता हो परन्तु मध्यकालीन भारत में यह प्रथा क्रमशः पनपती गई। इसका कारण था कि योद्धावर्गों की ही यह परम्परा थी जिसे राजपूत परिवार ने इस समय जौहर के नाम से अपनाया। कभी-कभी पति के युद्ध क्षेत्र में जाने पर और कभी उसके विश्वास के लिए इसके पहले ही राजपूत वीरांगनाएँ जौहर कर लेती थीं।

इसके बाद भी यह प्रथा किसी न किसी रूप में विद्यमान रही। पर सामाजिक विरोध के कारण इसका व्यवहारिक पक्ष उतना व्यापक एवं सफल नहीं था जितना पहले। इसका अन्त लार्ड विलियम वेन्टिग द्वारा किया गया जिसने इसके विरोध में अधिनियम बना कर इस नृशंस प्रथा को यथासम्भव रोकने का प्रयास किया तथा सफल भी रहा।

(ब) **पर्दा प्रथा**--गांधी जी ने बहुत से आन्दोलनों को भारतीय समाज में जन्म दिया। इनमें से जहा एक ओर हरिजनकल्याण, अछूतोद्धार आदि हैं वहीं दूसरी ओर पर्दा प्रथा का भी उन्होंने विरोध किया। उनका विचार था कि पर्दा को फाड़ डाला जाय। उनका यह अनुभव भी था कि लोग इस प्रथा के विरुद्ध हैं पर उनमें यह साहस नहीं कि खुलकर इसका विरोध कर सकें। गांधी जी ने इस समस्या को इसीलिए उठाया कि पर्दा का प्रकोप बड़े भीषण रूप से समाज में सर्वत्र व्याप्त हो गया था। आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश का देहाती भाग तथा बिहार का सम्पूर्ण भाग इस रूढ़िवादी परम्परा को अपना रहा है। वहाँ की स्त्रियाँ सदा लम्बी घूँघट में रहती हैं। मुसलमान शासकों के समय बुर्का की प्रथा का आगमन मुसलमान स्त्रियों के लिए हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय नारियों ने इस प्रथा को और कसकर अपनाया। इसको मुसलमान शासकों के समय में अपनाने का कारण यह था कि वह अपने को मुसलमानों की दृष्टि से बचा कर अपने सतीत्व की रक्षा कर सकें। मुसलमान शासक हिन्दू राजाओं से प्रायः नारी के लिए और धर्म प्रचार के लिए ही युद्ध करते थे। इस प्रकार का स्पष्ट उदाहरण पद्मिनी का है। अब यह समस्या उठती है कि चाहे अनुकरण के लिए अथवा सतीत्व की रक्षा के लिए, जो भी कारण रहा हो, जब मुगल कालीन भारत में इस प्रथा का प्रचलन था तो प्राचीन भारत में इसकी स्थिति क्या थी। वर्तमान काल में नारी की प्रमुख समस्याओं में से यह एक विशिष्ट समस्या है, अतएव इसकी ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है।

ऋग्वैदिक काल में इस प्रथा का कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होता और न ऐसी सम्भावना ही प्रतीत होती है जिसके आधार पर यह कहा जाय कि यह प्रथा उस समय

कभी रही होगी। उस समय प्रौढ़ विवाह प्रणाली थी। पत्नी विवाह के पूर्व ही अ
प्रेमियों से भी मिल लेती थी। विवाह के बाद वह यज्ञ कार्य में भाग लेती थी। पु
के साथ प्रत्येक धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों में सम्मिलित होती थी। अथ
में तो प्रेम विवाहों का भी वर्णन किया गया है। उन्हें विद्यालय में विवाह के
शिक्षा ग्रहण करने के लिए गुरुकुल में भेजा जाता था। उनसे यह आशा की जाती
कि वह वृद्धावस्था तक स्वतन्त्रतापूर्वक सभी समितियों में भाषण करें। इस स
स्त्रिया न्यायालयों में जाकर अपने सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार का दावा करती
यह सभी बातें यह सिद्ध करती हैं कि वैदिक काल में इस प्रथा का कोई भी स्व
समाज के समक्ष नहीं था।

रामायण तथा महाभारत में भी स्पष्ट रूप से किसी भी इस प्रकार की प्र
का ज्ञान नहीं है। सीता का विवाह स्वयंवर से हुआ था। वह राम के साथ वन
थीं। कैकेयी और सुमित्रा चित्रकूट तक राम को अयोध्या लौटाने के लिए चली
थीं। इसी प्रकार महाभारत में भी हमें वर्णन मिलता है कि द्रौपदी पाण्डवों के स
जंगल में गई थीं। इसी प्रकार द्रौपदी द्यूत गृह में भी उपस्थित थीं। महाभारत
ही यह वर्णन मिलता है कि उत्तक अन्तः पुर में जाकर गुरुदक्षिणा की याचना करता
यह सभी प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि महाकाव्यों के समय भी पर्दा प्रथा भारत
प्रचलित नहीं थी। समाज पूर्णतया स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द था। सीता के सम्बन्ध
बाल्मीकि ने यद्यपि निम्नांकित श्लोक लिखा है:

यान शक्या पुरा प्रष्कुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥

अर्थात् जिस सीता को नगर का कोई तथा आकाश के जीव तक भी नहीं दे
पाए थे उसे आज पथिक देख रहे हैं। इससे पर्दा का आभास मात्र मिलता है पर कि
स्पष्ट वर्णन के अभाव में हम यह कह सकते हैं कि सीता की कोमलता का व
करने के लिए बाल्मीकि ने ऐसा उल्लेख किया है।

महाकाव्यों से आगे बढ़ कर जब बौद्ध साहित्य पर हम अपना ध्यान डालें
जिसमें भगवान बुद्ध के समकालीन समाज का स्वरूप अंकित है तो ज्ञात होता है
उस समय भी पूर्ण खुला समाज था। किसी भी प्रकार का भेद-भाव परस्पर
था। इस समय प्रौढ़ विवाह की प्रथा प्रचलित थी तथा गांधर्व विवाह होता था
स्त्रियाँ पूर्ण स्वतन्त्र होती थीं जैसा कि शर्मिष्ठा के चरित्र से ज्ञात होता है। स्त्रि
भिक्षुणी बनती थी तथा बौद्ध भिक्षुओं के साथ स्वतन्त्र रूप से समाज में घूमती थीं
बौद्ध मठों में वह भिक्षु के साथ शिक्षा भी प्राप्त करती थीं। पूरी जातक कथा में क
भी इस विषय पर समुचित प्रकाश नहीं डाला गया है।

---

१ **भगवान् बुद्ध की स्त्री गोपा को चुन कर विवाह किया गया था।**

इसके बाद मौर्यकाल में आने पर हम पटना और पार्श्व की यक्षिणी की मूर्तियाँ देखते हैं जिनके मुख पर किसी भी प्रकार का घूँघट नहीं पड़ा है। इसके साथ ही मौर्य कालीन अभिलेख में जिनमें हम विशेष रूप से अशोक के अभिलेख को ले सकते हैं उसमें नारियों के सामान्य जीवन जैसे उत्सव आदि का वर्णन है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्वच्छन्दतापूर्वक उत्सव मनाए जाते थे। अशोक ने जनता का ध्यान अपने राज्य में व्याप्त प्रत्येक दूषण की ओर आकृष्ट किया है पर इस विषय में कोई उल्लेख नहीं है। इससे यही ज्ञात होता है कि मौर्य काल में पर्दा प्रथा का पूर्ण अभाव था।

शुंग कालीन सामाजिक स्थिति का नग्न चित्रण उस काल की कला में की गई है। इस काल के कलाकेन्द्र थे सांची, भारहुत एवं बोधगया। इन तीनों ही केन्द्रों में तोरण अथवा वेष्टिनी के सहारे विभिन्न सामाजिक दृश्यों का चित्रण तत्कालीन समाज द्वारा प्रश्रय प्राप्त कलाकारों ने किया है। यदि सम्पूर्ण चित्रों में जहाँ नारियों का अंकन किया गया है हम देखें तो यही ज्ञात होगा कि सदा नारियों की साड़ियाँ सिर के नीचे होतीं और पूर्ण स्वतन्त्र रूप से बिना किसी हिचकिचाहट के समाज में स्वच्छन्द विचरण करती थीं। इस समय के साहित्य में भी घूंघट अथवा पर्दा के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होता।

शुंग काल और कुषाण काल के बीच भारत की स्थिति बड़ी ही अनिश्चित रही। इसका कारण था कि इस समय उत्तरी भारत पर अनेकों विदेशी आक्रमण होते रहे। अतएव इस समय भारत की क्या स्थिति थी कुछ निश्चितपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर गुप्त काल एवं हर्ष काल के इतिहास के अध्ययन से हम जैसा आगे सप्रमाण विवेचन करेंगे, पर्दा प्रथा का पूर्ण अभाव प्रतीत होता है। जब शुंग काल में यह व्यवस्था नहीं थी तथा गुप्त एवं हर्ष काल में भी इसका अभाव ही ज्ञात होता है तो यह कैसे सम्भव है कि बीच के युग में यह प्रथा कभी प्रचलित रही हो। परन्तु दूसरी शताब्दी के नाट्यकार भास ने अपने प्रतिभा नामक नाटक में सीता का अंकन करते हुए उसे रंगमंच पर पर्दा में उतारा है। इस सम्बन्ध में सीता से आग्रह किया है कि वह अपना घूंघट हटा लें जिससे उनके वियोग में रोती जनता एक बार पुनः उनकी मुखाकृति देख सके। यहाँ भास का सीता के सम्बन्ध में घूंघट का प्रयोग किसी परम्परागत प्रवृत्ति का द्योतक नहीं है परन्तु सम्भवतः सीता को संकोच होता हो कि वह इतने बड़े जनसमुदाय के समक्ष इस दुखी मुद्रा में अपने पति के साथ उपस्थित हों इसलिए घूंघट की ओट भास ने उनके लिए कर दिया। पुनः डा० अल्टेकर ने स्वप्न-वासवदत्ता में अंकित पद्मावती चरित्र का उल्लेख किया है जो विवाह के पूर्व पर्दा नहीं करती थी पर विवाह होते ही उसने पर्दा करना प्रारम्भ किया। वह नहीं चाहती थी कि वह जब पति के साथ हों तो उसका पति किसी राजदूत से मिले।[1] यह बात उसके स्वाभाविक शील

१ पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन—अल्टेकर, पृ० २००।

की अभिव्यक्ति करती है कि वह पति के समक्ष किसी भी पर पुरुष को नहीं देखना चाहती थी। अतएव यह प्रमाण इस प्रथा का निर्देश नहीं करते।

पुनः गुप्तकाल के सम्बन्ध में विचार करने पर, जैसे ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो चुका है, यह ज्ञात होता है कि इस समय समाज में पर्दा का पूर्ण अभाव था। अजन्ता के दृश्य जो तत्कालीन समाज के विभिन्न अवयवों का साक्षात्कार कराते हैं कहीं भी नारियों के चित्रण में घूंघट का अंकन नहीं करते। सदा स्वच्छन्द रूप से पति के साथ विचरण करती हुई नारियों का अंकन किया गया है। वहाँ की एक गुफा में राजा और रानी सिंहासन पर बैठे हुए अंकित किए गए हैं जो विदेशी राजदूत की बातों को सुन रहे हैं। पुनः उस काल के विभिन्न अभिलेख प्राप्त हुए हैं। पर किसी में भी इस प्रथा की ओर संकेत भी नहीं किया गया है। आगे की ओर साहित्यिक साक्ष्य में हम देखते हैं कि जितने भी साहित्यिकों की कृतियाँ इस समय उपलब्ध हैं उनमें किसी में भी इसका वर्णन नहीं है। पुनः यदि समाज में स्त्रियों की इतनी अधिक स्वच्छन्दता न रही होती तो कभी भी साहित्य की आत्मा प्रेमाख्यानों से भरी पुरी नहीं दिखाई पड़ती। स्मृति ग्रंथ जो भारतीय समाज का पूर्ण व्यक्त चित्र अंकित करते हैं कहीं भी इस प्रथा का उल्लेख नहीं करते। अतएव गुप्त काल जिसको व्यापक रूप में हर्ष काल तक प्रयोग कर सकते हैं सामाजिक जीवन में पर्दा प्रथा का पूर्ण अभाव प्रदर्शित करता है।

हर्ष के बाद भारत पर मुसलमान आक्रमणकारियों ने क्रमशः आना प्रारम्भ किया। इन्हीं के आगमन के बाद ही पर्दा प्रथा का प्रचलन यहाँ हुआ। इस प्रथा के प्रचलन के सम्बन्ध में निम्नांकित कारणों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है:

१. मुसलमानी समाज में औरतें एक प्रकार के पर्दे का प्रयोग आवरण के लिए करती थीं। आज भी यह प्रथा उनमें विद्यमान है। जब वह यहाँ के शासक बने तो अपनी संस्कृति का प्रसार करना उनका ध्येय था तथा उनके अधीनस्थ भारतीय सामन्तों ने उनके आदर्शों को अपनाना प्रारम्भ किया जैसा अनुकरण की मानवीय प्रवृत्ति है। अतएव इस प्रथा का प्रादुर्भाव हिन्दुओं में हुआ।

२. भारतीय नारियाँ अधिकांश अशिक्षित थीं। यह समय भी पूर्ण अव्यवस्था का था। अतएव उनकी रक्षा के लिए यह अनिवार्य था कि उन्हें जन-सम्पर्क से अलग रखा जाय।

३. उस समय मुसलमान शासक भारतीय नारियों के सौंदर्य पर मुग्ध होकर ही बहुत सी लड़ाइयाँ कर बैठते थे। इसकी सुरक्षा के लिए, उनकी आँखों से ऐसी नारियों का दर्शन बचाने के लिए इस प्रकार का आवरण बड़ा ही हितकारी सिद्ध हुआ। इस प्रकार के युद्ध के अनेक उदाहरण राजपूत इतिहास में भी पड़े हैं।

४. वाल विवाह के कारण भी इस प्रथा को वल मिला। इस समय की पत्नियाँ अल्पकाल में ही विवाहित हो जाने से पूर्ण अनुभवशून्य रहती थीं। ऐसी अवस्था में वह दूसरे लोगों के अधिकार में बड़ी आसानी से चली जाती थीं। इसलिए आवश्यक था कि उन्हें नियन्त्रित रखा जाय। अतएव इस प्रथा को अपनाना प्रारम्भ किया गया।

पर इस प्रथा में बहुत से दोष हैं। इसके कारण स्वतन्त्र वातावरण में स्त्रियों का विचरण सम्भव नहीं हो सकता। वह पूर्णतया पति की दासी वनी रहती हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा को भी इससे क्षति होती है। हमारा सामाजिक विकास जीवन के अधूरे पहिए पर बढ़ता है। इसीलिए वर्तमान काल के विभिन्न समाज सुधारक वर्ग ने इस प्रथा का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया है। इसके परिणामस्वरूप बहुत ही कम अंशों में इसका प्रचलन अब अवशिष्ट रह गया है।

(स) **नियोग प्रथा**—परिवार के अध्याय में हमने पुत्र के प्रकार में देखा है कि एक प्रकार का पुत्र क्षेत्रज होता है। इसका विवेचन करते हुए हमने स्पष्ट किया है कि यह किस प्रथा से उत्पन्न होता है, इसका कारण क्या है, इसका इतिहास क्या है, इसकी मान्यता क्या है, आदि। यह पुत्र जिस प्रथा से उत्पन्न होता है उसे ही दूसरे शब्दों में नियोग प्रथा कहते हैं। अतएव यहाँ इनके पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इस सम्बन्ध में क्षेत्रज पुत्र का ही अध्ययन करना पर्याप्त है।

नारी के कार्य-कलाप

नारी के विषय में जो अब तक विवेचन किया जा चुका है उससे इतना तो अवश्य ही ज्ञात हो गया होगा कि नारियों की स्थिति प्राचीन काल में बड़ी ही समुन्नत-शील थी। वह पुरुषों की सदैव अर्धांगिनी कही जाती थी तथा लगभग सभी क्षेत्रों में पुरुषों के ही समान उसका अधिकार होता था। वह शिक्षा, चिकित्सा, संगीत, व्यापार, नृत्य, धर्म, शासन आदि के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के कार्यकलाप वह करती थी।

शिक्षा के क्षेत्र में नारियों का सदा से बहुत योगदान रहा है। वह शिक्षिका का कार्य करती थी। इसलिए वह आचार्या शब्द से सम्बोधित की गई है। दर्शन की वह अध्यापिका होती थी क्योंकि मैत्रेयी, गार्गी आदि नारियाँ अपनी दार्शनिक विचारधारा के लिए सदैव युग विश्रुत रही हैं।

चिकित्सा के क्षेत्र में बहुत सी नारियों ने चिकित्सा पर ग्रंथ ही लिखा था। इस सम्बन्ध में रूसा का नाम उल्लेखनीय है क्योंकि उसने मिडवाइफों के सम्बन्ध की एक पुस्तक लिखी है जिसका अरबी भाषा में भी आठवीं शताब्दी के लगभग अनुवाद किया गया था। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आज की अपेक्षा अतीत में नारी चिकित्सा पर नारियों का ही ज्ञान व्यापक था।

संगीत का आज नारियों के अन्दर विशेष प्रचलन हो चला है। बंगाली परि-

वार में तो यह व्यवस्था यहाँ तक बढ़ गई है कि जो नारी किसी परिवार की इस शिक्षा में ज्ञाता नहीं होती उसका विवाह ही नहीं होता है। पुरातन काल में भी यह व्यवस्था पूर्ण विकसित थी यद्यपि मध्यकालीन शासकों ने इसकी ओर कोई रुचि नहीं प्रदर्शित की और जो विकास इस क्षेत्र में हुआ भी वह केवल पुरुष वर्ग में। प्राचीन काल में प्रत्येक शिक्षित परिवार की नारी संगीत में पारंगत होती थी। राज दरबार में रानियों को प्रसन्न रखने के लिए गायिका रखी जाती थीं। पर थोड़े ही काल के बाद यह एक सांस्कृतिक स्तर से ऊपर उठकर व्यवसाय बन गया और तब एक सीमित क्षेत्र में ही सीमाबद्ध हो गया।

व्यापार और व्यवसाय में नारियों का प्राचीन काल में बड़ा योगदान रहा है। इसका कारण था बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों का पूर्ण अभाव। घर पर ही छोटे-मोटे व्यवसाय चलते रहते थे। श्रम विभाजन का कोई इसमें प्रश्न ही नहीं उठता, अतएव घर के ही सभी लोग परस्पर मिलजुल कर इन कार्यों में भाग लेते रहते थे। इस प्रकार स्त्री भी इसमें कोई न कोई भाग अपना पूरा करती थी। पुनः कुछ ऐसे व्यवसाय जैसे सिलाई करना आदि केवल नारियों के जिम्में ही सौंप दिया गया था। इस प्रकार व्यापार में भी वह भाग लेती थीं।

संगीत के साथ ही लगा हुआ एक दूसरा क्रिया कलाप है नृत्य। नृत्य पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही भारत में करते थे पर विशेष रूप से स्त्रियाँ ही नृत्य करती थीं। नाचने और गाने के व्यसनने धीरे-धीरे एक व्यावसायिक रूप धारण कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक स्तर से इसका महत्व नीचे उतर कर व्यावसायिक स्तर पर पहुँच गया। कुछ निश्चित वर्ग की नारियों में ही यह व्यवसाय प्रचलित रहा। यह नारियाँ धीरे-धीरे विभिन्न सामाजिक उत्सवों के समय आमन्त्रित की जाती थीं। पीछे मन्दिरों में इनको दान देने का भी चलन निकल पड़ा। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि नारियाँ मन्दिरों में दान दे दी जायँ। बहुत से लोग अपने किसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए भी नर्तकियों को दान देते थे। कालिदास के मेघदूत में यह वर्णन मिलता है कि संध्या प्रार्थना के लिए उज्जैयनी के महाकाल मन्दिर में नर्तकियों को दान दिया गया था। पुराणों ने तो यहाँ तक अ… दी है कि नर्तकी औरतों को खरीद कर मन्दिर में दान देना चाहिए। ह्वेनसांग ने मुल्तान के मन्दिर में बहुत सी नर्तकियों के दान देने का उल्लेख किया है।

शासन के क्षेत्र में स्त्रियों के अधिकार के सम्बन्ध में दो विरोधी मत प्रस्तुत किये गये है। एक पक्ष इस मत का समर्थन करता है कि नारियों को शासन में कोई भी स्थान नहीं देना चाहिए जब कि दूसरा मत इस पक्ष का है कि शासन में सदा इनका स्थान होना आवश्यक है। इसीलिए रामायण में यह प्रस्ताव किया गया है कि यदि राम को बनवास दिया जाता है तो सीता को ही साम्राज्य का भार सौंपना

चाहिए।[1] यदि पूरे भारतीय साहित्य एवं इतिहास का हम अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि नारियों को शासन करने का अधिकार था, संरक्षक बनने का अधिकार था, युद्ध क्षेत्र में शस्त्र लेकर जाने का अधिकार था तथा पति के राजनीतिक कार्यों में मन्त्रणा देने का अधिकार था। इसलिए यह आवश्यक है कि इनका अलग-अलग अध्ययन किया जाय।

विदेशी इतिहास में नारियों का कार्य शासन का भी था। यह हमें इंगलैण्ड के इतिहास, रोम के इतिहास आदि से ज्ञात होता है। भारत में नारियों की जो विशेषताएँ, शक्ति, संकोच आदि बताई गई हैं उसके कारण हम कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि कहाँ तक वह सफल शासक बन सकती हैं। फिर भी भारत में, इसके विभिन्न भागों में सुदूर अतीत में नारी शासकों का ज्ञान मिलता है। इस सम्बन्ध में मेगस्थनीज ने यह उल्लेख किया है कि उसने सुना था कि पाण्डय देश में नारी शासक थी। पुनः गौरी जो रत्ता परिवार की एक लड़की थी अपने पिता के मरने के बाद वही वहाँ की शासक बन बैठी जो पीछे उसके विवाह होने पर उसके पति के अधिकार में चला गया। इस प्रकार के एक नहीं अनेक उदाहरण हमारे इतिहास एवं साहित्य से प्राप्त होते हैं।

पुनः जब हम संरक्षक की हैसियत में इनका अध्ययन करने चलते हैं तो यह समझ लेना चाहिए कि संरक्षक से हमारा अभिप्राय क्या है। जब पति की मृत्यु हो जाती है और बालक अबोध रहता हैं तो उसके हाथ में शासन सौंपना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होता। अतएव उसका एक संरक्षक नियुक्त कर दिया जाता है जो उसी के नाम पर शासन करता हैं। वह व्यक्ति जिसकी संरक्षकता में बालक और उसके शासन का अधिकार पा जाता है संरक्षक कहलाता है। इस प्रकार के एक नहीं अनेक उदाहरण भारतीय साहित्य में भरे पड़े हैं। सबसे पहले इस ओर चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की लड़की प्रभावती गुप्त का ज्ञान मिलता है जो वाकाटक राणा रुद्रसेन वाकाटक द्वितीय के साथ ब्याही गई थी। रुद्रसेन की मृत्यु होने पर उसके दो अल्पायु बालक थे जिनकी संरक्षता उसके प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने तक उनकी माता ने किया। वह इस प्रकार दस वर्ष तक शासन सूत्र का प्रणयन अपने हाथों करती रही। इस प्रकार के एक नहीं अनेक उदाहरण हमारे इतिहास में भरे पड़े हैं। काश्मीर की रानी सुगंधा और दीदा भी इसी अवस्था में शासन सूत्र का संचालन करती रहीं।

जहाँ तक युद्ध संचालन का प्रश्न है पति के अभाव में चाहे पुत्र के संरक्षक की हैसियत से हो अथवा पति की मृत्यु पर मैदान में उसकी कीर्ति को स्थापित करने की लालसा से हो भारतीय नारियाँ सदा युद्ध का संचालन बड़े उत्साह से करती

१ **आत्मा हि दारा सर्वेषां दारत्यंग्रहवर्तिनाम् ।**
आत्मेव मिति रमस्य पालयिष्यत मेदीनीम् ॥ २,३७,३८।

रही हैं। मस्सग की स्त्री अपने पति की मृत्यु पर सिकन्दर के साथ पश्चिमी भारत में अपने राज्य की पूर्ण उत्साह के साथ रक्षार्थ लड़ रही थी। वह उसके विरुद्ध अपने पति के स्थान पर युद्ध का संचालन करती रहीं। इसी प्रकार कौशाम्बी का राजा उदयन जब पकड़ कर बन्दी बना लिया गया था तो सैन्य संचालन का भार उसकी माता ने अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार की वीरांगनाओं की कीर्तियों से पूरा राजपूत काल का इतिहास भरा पड़ा है। पृथ्वीराज के साथ मेवाड़ का शासन उसकी स्त्री कुमार देवी भी करती थी। इसी प्रकार का चरित्र कर्णावती तथा जौहरा बाई का भी है।

पति के शासनकाल में ही स्त्रियाँ शासन में बहुत अधिक भाग लेती थीं। रावण को सबसे समुचित मन्त्रणा उसकी स्त्री मन्दोदरी ने ही दी थी कि वह सीता को लौटा कर राम से मैत्री कर ले। दुर्योधन को उसके युद्ध के निश्चय से डिगाने का कार्य गांधारी को सौंपा गया था। कुछ तो इतनी प्रभावशाली स्त्रियाँ थीं जो अपने पति के जीवित रहते हुए भी साम्राज्य के किसी न किसी भाग पर शासन करने लगती थीं। इस सम्बन्ध में दक्षिणी भारत के चालुक्य परिवार के राजा चन्द्रादित्य की रानी विजयभट्टारिका का उल्लेख किया जा सकता है जो पति के जीवित रहते हुए भी आधुनिक दक्षिणी बम्बई के एक भाग पर शासन करती थी। पुनः चालुक्य परिवार की ही एक दूसरी रानी मैलादेवी पूरे वनवासी प्रदेश पर शासन करती थी। इस प्रकार के अनेक उदाहरण इस सम्बन्ध में प्राप्त हैं।

नारियाँ राजाओं के साथ ही शासन की बैठक में भाग लेती थीं। वैदिक काल में शासन के नियन्त्रक रूप में दो प्रकार की सभाएँ थीं, एक को सभा कहते थे और दूसरे को समिति। इन दोनों ही प्रशासकीय सभाओं में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भाग लेती थीं। वैदिक साहित्य में बहुत से ऐसे मन्त्रों को स्थान दिया गया है जिनको वह पढ़ कर इसलिए जाती थीं कि बैठक में समर्थतापूर्वक भाषण कर सकें। गुप्त काल में ही अजन्ता की एक गुफा में एक चित्र इस प्रकार का बना है जिसमें राजा और रानी साथ-साथ बैठे हैं, सभा लगी हुई है और उसी बीच एक पर्शियन भेष-भूषा में कोई विदेशी राजपूत वहाँ सम्राट के सम्मुख उपस्थित है।

इन सभी बातों से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में राजनीति में नारियों का भी बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान था यद्यपि मध्यकाल में उनकी स्थिति में ह्रास होने लगा और मुसलमानों के शासन काल में यह पिंजड़े की चिड़ियाँ बना दी गई। अंग्रेजी भारत में धीरे-धीरे समाज सुधारकों के प्रयास के परिणामस्वरूप उनकी स्थिति में विकास होने लगा। आज इसी का परिणाम है कि नारियाँ राज्यपाल, राज्यदूत, मन्त्री आदि उच्च पदों पर नियुक्त की जा रही हैं।

नारी और धर्म

वर्तमान युग में धार्मिक भावना अधिकांश नारियों में ही दिखाई पड़ती है। आज यदि धर्म की रक्षा का श्रेय किसी पर सौंपा जा सकता है तो स्त्रियों पर क्योंकि पूजा, पाठ, हवन, जप, दान, तीर्थ आदि यही करती हैं। क्या प्राचीन भारत में भी इनकी यही स्थिति थी ? इस प्रश्न का समुचित हल हम तभी प्राप्त कर सकते हैं जब प्राचीन हिन्दू धर्म के परिवर्तित स्वरूप का अध्ययन इस दृष्टिकोण से करें कि नारियों का इसमें कहाँ तक स्थान स्वीकार किया गया है।

भारत में ही केवल नहीं परन्तु विश्व की विभिन्न सभ्यताओं में अतीत में नारी को अपवित्र माना जाता था। उन्हें दूसरे देशों में धार्मिक कृत्य करने से सदा विवर्जित किया जाता था। पर भारत में इस प्रकार का अशौच केवल थोड़े ही समय के लिए स्वीकार किया गया है। जब तक वह मासिक धर्म में युक्त रहती थीं तथा उन्हें बच्चा होता था तभी तक वह अपवित्र बनी रहती थीं। परन्तु इस काल के बाद वह पुनः पवित्र हो जाती थीं। यह मान्यता आज भी एक सामान्य हिन्दू परिवार में व्याप्त है।

वैदिक धर्म में यज्ञों की महत्ता को सदा स्वीकार किया गया है। यह यज्ञ कई-कई मास तक कभी-कभी वर्षों तक चलते रहते थे। इसलिए याज्ञिक तथा यजमान दोनों के लिए वहीं फूस की कोठरियाँ बनवा दी जाती थीं। इनमें जहाँ एक ओर पुरुष रहते थे वहीं दूसरी ओर स्त्रियाँ भी निवास करती थीं। इसलिए इनके रहने की व्यवस्था की गई थी कि इन्हीं के जिम्मे था कि यह वेदी को प्रातःकाल गोबर से लीपें तथा यज्ञ की सामग्रियाँ एकत्रित करें और यज्ञ के प्रारम्भ करने के पहले मंत्रों का उच्चारण करें।

इसके अतिरिक्त बहुत सी स्त्रियों के जीवन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वह प्रातःकाल उठती थीं और अपनी दैनिक क्रिया से निवृत्त होकर धर्म के कार्य में जुट जाती थीं। अविवाहित स्त्रियाँ भी विभिन्न प्रकार से उपासना करती थीं। चूँकि इस प्रकार धार्मिक क्रियाओं में भाग लेने के लिए केवल द्विज वर्ण को अधिकार था और जन्म से बालक को चाहे लड़का हो या लड़की हमारे विचारकों ने शूद्र माना था इसलिए इनका उपनयन अनिवार्य कर दिया जिससे यह द्विज वर्ण में सम्मिलित हो जायँ और धर्म के कार्यों में भाग लें सकें।

विवाह होने के बाद वह प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान में पति के साथ भाग लेती थीं। इसके अभाव में पति अयज्ञ रह जाता था, इसीलिए यह कहा गया है कि 'अयज्ञियो एष वा यो पत्नीकः'। इस प्रकार विवाहित जीवन में रह कर पुरुष तथा स्त्री किसी भी धार्मिक कार्य को साथ-साथ करते थे। पर जब पति घर से बाहर

होता था तब नारियाँ स्वयं भी विभिन्न यज्ञों को कर सकती थीं। इसीलिए बहुत सी स्त्रियों के नाम के पीछे विभिन्न यज्ञों का नाम जुट गया जैसे उत्पादन में वृद्धि के लिए सीता यज्ञ का विधान किया गया। इसी प्रकार एक दूसरा यज्ञ था रुद्रबलि जिसको इसलिए किया जाता था कि पशुओं की संख्या में वृद्धि हो तथा उसकी नस्ल में भी सुधार हो। बंधुओं के जीवन को सुखी बनाने के लिए रुद्रयाग नामक यज्ञ किया जाता था।

इस समय समाज में अनुलोम विवाह को भी मान्यता मिली थी। पहले विचारकों ने यह अनुमति दी थी कि यदि किसी पुरुष का विवाह अनुलोम हो पर स्त्री द्विज वर्ण की हो तो उस स्त्री का अधिकार है कि अपने पति के साथ धार्मिक कार्यों में भाग ले। पर मनु के अनुसार एकमात्र सवर्ण स्त्री ही धार्मिक कार्यों में भाग लेने की अधिकारिणी बन सकती हैं। दूसरे किसी को भी अधिकार नहीं है।

पौराणिक काल में भी स्त्रियों का अधिकार धर्म में बना रहा पर केवल वाह्य रूप से। वह आन्तरिक क्रियाओं से पूर्णतया विरक्त कर दी गईं। हवन, पूजा, जप, तप, दान आदि मात्र वह कर सकती थीं। धर्म का यही स्वरूप आज भी समाज में किसी न किसी अवस्था में विद्यमान है। परन्तु धर्म के अन्तरंग में उतना अधिक प्रवेश इस समय नारियों का न हो सका जितना वैदिक काल में था। इसके अभाव के लिए निम्नांकित कारणों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है :

१. वैदिक साहित्य का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया था कि नारियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह वैदिक ऋचाओं को स्मरण भी करें तथा उनकी व्याख्या भी थोड़ी सी अवधि में कर सकें।

२. ब्राह्मणों की रचना काल के बाद नारियों से वैदिक मन्त्रों के उच्चारण का अधिकार छीन लिया गया। इसका कारण यह था कि नारियाँ वैदिक संस्कृत का उच्चारण ठीक-ठीक नहीं कर पाती थीं क्योंकि प्रचलित संस्कृत वैदिक संस्कृत की अपेक्षा भिन्न था।

३. वैदिक यज्ञ पहले की अपेक्षा अब क्लिष्ट हो गए थे। केवल वही इन यज्ञों में भाग ले सकता था जो वैदिक कर्मकांडों के प्रत्येक पहलू से परिचित हो। चूँकि नारियों की शिक्षा अवधि कम होती थी इसलिए वह याज्ञिक कर्मकाण्डों से उतना परिचय नहीं प्राप्त कर पाती थीं जितना आपेक्षित होता था। इसीलिए इनसे यज्ञ में भाग लेने का अधिकार भी छीन लिया गया।

४. स्मृतिकारों ने यह विधान बनाया कि प्रत्येक गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि अपना घर बनावे तथा उसमें गृह अग्नि प्रज्वलित करे। उसी गृह अग्नि में होम करना मात्र अब स्त्रियों का अधिकार रह गया।

५. प्रत्येक स्त्री संध्या समय गृह अग्नि में होम करती थी परन्तु इस समय वैदिक धर्म की तरह वह वेद के मन्त्रों का उच्चारण नहीं कर सकती थी। उच्चारण न करने के कारणों पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है।

६. बाल विवाह के कारण उपनयन संस्कार नारियों के लिए बन्द हो गया। अतएव अब शिक्षा प्राप्त करना आर्य वर्ण में परिगणित होने के लिए कोई बहुत आवश्यक बंधन नहीं रह गया। याज्ञवल्क ने तो स्पष्ट शब्दों में उपनयन संस्कार का नारियों के लिए विरोध किया है।

ऊपर के इन विभिन्न कारणों से वैदिक कर्मकाण्ड के अन्दर नारियों का जो हाथ था वह अब समाप्त हो चला।

हिन्दू धर्म की एक दूसरी शाखा वैदिक कर्मकाण्डों से ऊबकर इसकी परिधि से बाहर निकल कर स्थापित हुई जिसे श्रमण धर्म की संज्ञा देते हैं। इसे प्रतिक्रियात्मक धर्म के नाम से भी संबोधित किया जा सकता है क्योंकि रूढ़िवादी वैदिक धर्म के विरुद्ध यह एक प्रतिक्रिया मात्र थी। इसमें पहले भगवान बुद्ध ने स्त्रियों में प्रवेश वर्जित रखा परन्तु पीछे जब वह धर्म प्रचार में घूमते हुए कपिलवस्तु पहुँचे तब वहाँ अपनी स्त्री के आग्रह को टाल नहीं सके और उसे धर्म में स्वीकार कर लिया। तब से नारियों को इस धर्म में स्थान मिलने लगा। उन्हें एक नियन्त्रित जीवन व्यतीत करना होता था। उनको भिक्षुओं से अलग रहना होता था। उनके शिक्षा और भिक्षाटन का अलग विधान था। उनके धर्म प्रचार की अलग रीति थी। परन्तु यह व्यवस्था फिर भी नैतिक दृष्टि से सफल नहीं रही। भगवान बुद्ध की मृत्यु के थोड़े ही समय बाद ऐसी अव्यवस्था बौद्ध संघ में फैली जिसका प्रमुख कारण भिक्षु संघ का भ्रष्टाचार था, जिससे शीघ्र ही यह विधान बनाया गया कि नारियों का कोई भी स्थान बौद्ध धर्म में नहीं है।

सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार

नारियों की अवस्था आर्थिक दृष्टि से जितनी उन्नतिशील भारत में थी उतनी शायद विश्व के किसी भी सभ्यता में नहीं थी। सामूहिक सम्पत्ति में एक ओर जहाँ उनके अधिकार को स्वीकार किया गया था वहीं दूसरी ओर उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी मान्यता दी गई। आर्थिक दृष्टि से इतनी उदार भावना भारत के अतिरिक्त कोई दूसरा देश नहीं रख सकता। इसके समुचित अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि निम्नांकित क्रमों में हम इसका अध्ययन करें :

१. पारिवारिक सम्पत्ति में पति के साथ सह-उत्तराधिकारी
२. व्यक्तिगत सम्पत्ति—स्त्रीधन
३. लड़की का उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकार
४. विधवा का उत्तराधिकार संबंधी अधिकार

पारिवारिक सम्पत्ति में पति के साथ उत्तराधिकारी —प्राचीन काल में पश्चिमी सभ्यता में नारी को सम्पत्ति माना जाता था। उसकी न कोई अपनी स्थिति होती थी और न स्वतन्त्रता। पति जब चाहे तब उसे बेंच सकता था। पर इस प्रकार का अधिकार भारत में कभी भी पति ने प्रयोग नहीं किया और न धर्मशास्त्रों ने पति के हाथों को ऐसे अधिकारों द्वारा पुष्ट ही किया। फिर भी एक- आध ऐसे उदाहरण भारतीय साहित्य में भी प्राप्य हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कभी भारतीय नारियाँ भी सम्पत्ति समझी जाती थीं। इस सम्बन्ध में महाभारत की उस कथा का उदाहरण हम ले सकते हैं जिसमें पाण्डवों ने द्रौपदी को जुँए की बाजी पर रखा था। ऋग्वेद में द्यूत मन्त्र में हम देखते हैं कि पति को अधिकार दिया गया है कि वह जब चाहे अपनी स्त्री को दाँव पर रख सकता है।[1] परन्तु यह उदाहरण न किसी सैद्धान्तिक धर्म का ही प्रतिपादन करता है और न व्यावहारिक दृष्टि से किसी प्रचलित परम्परा का ही। बल्कि परिस्थितिगत घटना का उल्लेख मात्र हमें महाभारत में मिलता है क्योंकि इसी संदर्भ में आगे कहा गया है कि जब धर्मराज ने द्रौपदी को दाँव पर रखने के लिए कहा तो सारी सभा धिक्कारने लगी।[2] यह कथन स्पष्ट करता है कि लोकमत इस परम्परा के पूर्ण विरोध में था। पुनः नारी को हिन्दू परिवार में पुरुष की अर्धांगिनी के रूप में स्वीकार किया गया है। इन्हें दम्पति कहा जाता है। यह दोनों ही प्रयोग सिद्ध करते हैं कि नारी का स्थान हमारे समाज में ठीक पुरुष के अनुरूप ही स्वीकार किया गया है। पुरुष को यहाँ तक भी अधिकार नहीं है कि वह अपनी स्त्री तथा लड़की को किसी को दान दे सके। इसीलिए याज्ञवल्क स्मृति में कहा गया है —'स्वकुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते'।[3]

जब प्रौढ़ विवाह समाज में प्रचलित था उस समय सह-अधिकार की परम्परा पारिवारिक सम्पत्ति पर व्याप्त थी। पुरुष तथा स्त्री दोनों ही बिना एक दूसरे की अनुमति के पारिवारिक सम्पत्ति का कोई भी अंश व्यय कर सकते थे। यह स्थिति वैदिक काल में विद्यमान थी। पर धर्मसूत्रों के संरचना काल से विवाह की अवस्था में क्रमशः कमी होने लगी जैसा कि हम विवाह के अध्याय में देख चुके हैं। अल्प आयु में विवाह के कारण उनकी बुद्धि पूर्ण विकसित नहीं रहती थी, अतएव यह असम्भव था कि उनके हाथ में आर्थिक दायित्व सौंप दिया जाय, इसलिए केवल पति को अर्द्ध परिस्थिति में ही विशिष्ट आवश्यकता के अवसर पर उन्हें सम्पत्ति के एक निश्चित अंश को ही केवल व्यय करने का अधिकार दिया गया। यह हिस्सा विभिन्न विचारकों

---

१ ऋगवेद १०, ३४।

२ एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता।
धिग्धिगित्यव वृद्धानां सभ्यानां निसृता गिरः। म० २, ८६, ४०।

३ २,१७५।

ने अलग-अलग नियत किया। इसी के आधार पर पीछे चल कर पति का यह कर्तव्य नियत किया गया कि चाहे पति किसी भी स्थिति में हो, उसे चाहे जो भी करना पड़े पर इतना अनिवार्य है कि जहाँ कहीं से भी सम्भव हो वह अपनी स्त्री के भरण-पोषण की व्यवस्था करे।

यद्यपि स्त्री को सह-धर्म-चारिणी कहा गया है पर इसका अभिप्राय यह नहीं था कि हमारे शास्त्रकारों ने उसे पति के साथ सम्पत्ति में सह-अधिकारी बना दिया हो। यह बात केवल सैद्धान्तिक पक्ष में ही सत्य प्रतीत होती है। व्यावहारिक क्षेत्र में तो यह बंधन लगा दिया गया कि बिना पति की आज्ञा के वह कुछ भी व्यय नहीं कर सकती है। याज्ञवल्क, मिताक्षरा आदि सभी ने समान रूप से इसे स्वीकार किया है। पर सम्भवतः यह स्वीकृति इसीलिए दी गई थी कि स्मृतिकारों तथा नैयायिकों के समय बाल विवाह का प्रचलन समाज में हो चला था। इसलिए यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि पत्नी को भी पति के साथ पारिवारिक सम्पत्ति में सह-उत्तराधिकारणी बनने का अधिकार था पर अवस्था का ध्यान रख कर उसे कुछ सीमा तक इससे बंचित रखा गया।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार—स्त्रीधन—इस शब्द से ही जैसा ज्ञात होता है कि यह कोई विशिष्ट प्रकार का धन था जो केवल स्त्रियों के लिए ही था, वास्तव में उनकी अपनी सम्पत्ति थी। इस पर उन्हीं का अधिकार होता था। जो कुछ भी पति से एवं उसके सम्बन्धी से लड़की को विवाह के बाद मिलता है तथा जो कुछ भी माता और मातृ पक्ष के सम्बन्धियों से लड़की को मिलता है वह सब उसकी सम्पत्ति आज भी मानी जाती है और पहले भी मानी जाती थी। इसी को स्त्री धन कहते हैं।

विवाह के अध्याय में हमने आसुर विवाह की चर्चा की है जिसमें लड़की को धन से खरीद कर विवाह किया जाता था। वह धन पिता अपने लिए नहीं रखता था परन्तु अपनी लड़की को ही लौटा देता था। चूंकि वह सम्पत्ति केवल लड़की को उसके पिता द्वारा दी जाती थी इसलिए उस पर लड़की का ही अधिकार होता था। वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी। इसलिए वही स्त्री धन का प्रारम्भ है। इस प्रकार का धन लड़की के मर जाने पर उसके लड़कियों में वितरित करने का विधान था क्योंकि स्त्री की प्यारी यदि कोई भी इस सृष्टि में होती है तो वह लड़की होती है। इसलिए लड़की को ही प्राथमिकता दी गई है। पर दूसरा विवाह यदि उसका पति कर लेता है और उससे कोई सन्तान नहीं होती तो उस धन को लड़की के पिता को लौटा देने की आज्ञा दी गई है। मनु ने स्त्री धन की व्याख्या और भी विस्तृत रूप से की। इसमें उन्होंने केवल शुल्क को ही सम्मिलित नहीं किया जो पिता लड़की के लिए उस पक्ष से प्राप्त करता है तथा कभी पूरा और कभी उसका कोई

भाग लड़की को लौटा देता है परन्तु इसके साथ ही उसने छः प्रकार के धन को स्त्रीधन में परिगणित किया है : जो कुछ भी माता, पिता तथा भाई धन दें, तथा जो कुछ भी पति विवाह के अवसर पर अपनी पत्नी को दें; तथा वह सम्पत्ति जो पति के सम्बन्धी तथा लड़की के पिता के सम्बन्धी विवाह के समय अथवा उसके बाद लड़की को दें वह सभी स्त्री धन ही कहलाता है। इस प्रकार मनु ने स्त्रीधन की परिधि को विस्तृत कर दिया। परन्तु इससे भी अधिक विस्तृत परिधि विष्णु ने किया। उन्होंने मनु द्वारा वर्णित प्रकारों में कुछ और नवीन प्रकार जोड़ दिया। इसके अनुसार पुत्र जो कुछ भी अपनी माता को देता है तथा दूसरे सम्बन्धी जो कुछ भी उसे देते हैं एवं पति जब अपनी पत्नी को छोड़ देता है और कुछ भी उसके संरक्षण के लिए देता है सभी स्त्री-धन कहलाते हैं। परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि प्रेमियों से एवं शुल्क के रूप में जो कुछ भी स्त्री अर्जित करती है वह उसके स्त्रीधन में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। आगे चल कर विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन के प्रकार के आगे 'आदि' जोड़ दिया है जो इसके सीमा को और भी अधिक व्यापक बना देता है।

जहाँ तक इसके ऊपर स्त्री के अधिकार की बात है वैदिक साहित्य इस विषय में पूर्ण मूक है। स्मृति ग्रंथ सदा पति की महत्ता को ही स्वीकार करते हैं, इसलिए वह भी यही अनुशासन देते हैं कि स्त्रियों को अपने स्त्रीधन के व्यय में भी पति की अनुमति लेनी चाहिए, पीछे के नैयायिकों ने स्त्रीधन को दो भागों में विभक्त किया है: सौदाकिय और असौदाकिय। सौदाकिय के अन्दर जो कुछ भी स्वेच्छापूर्वक दान स्वरूप लड़की के माता, पिता और पति देते हैं उसे सम्मिलित किया गया और दूसरे सम्बन्धियों तथा साधनों से प्राप्त स्त्री धन को असौदाकीय कहा गया। सौदाकिय पर स्त्रियों का पूर्ण अधिकार स्वीकार किया गया पर असौदाकीय पर नहीं। परन्तु कात्यायन ने यह स्वीकार किया है कि स्त्री अपने धन की अचल सम्पत्ति को भी अपनी इच्छानुसार बेंच सकती है। नारद ने इस प्रकार का अधिकार केवल स्त्रीधन के उसी भाग के ऊपर स्वीकार किया है जो चल है। इस प्रकार की मान्यता का कारण यही है कि पति का ही योगदान स्त्रीधन में सर्वाधिक होता है। पति सम्मिलित परिवार की सम्पत्ति से ही यह धन देता है, अतएव उसे दूसरे परिवार में जाने से रोकने के लिए यह प्रतिबंध लगाया गया।

परन्तु कुछ भाग को अगर स्त्रीधन से निकाल दिया जाय तो शेष पर स्त्री का सम्पूर्ण अधिकार सभी शास्त्रकार स्वीकार करने के लिए एक मत हैं। कुछ भाग से यहाँ अभिप्राय है भूमि से। इसको छोड़ कर जो कुछ भी स्त्री धन के अन्दर आता है उस पर किसी ने पति को यह अधिकार नहीं दिया है कि वह अपनी रुचि के अनुसार उसका उपयोग करे। यदि किसी कारणवश पति को आवश्यकता पड़ ही जाय कि अपने लिए वह स्त्री धन के किसी भाग का उपयोग करे तो उसका धर्म

है कि वह उस धन के भाग को सूद सहित लौटा दे। पर यह अधिकार केवल पति को ही दिया गया है। इसके साथ भी यह बंधन है कि पति को चाहिए कि पत्नी से इस विषय में अनुमति ले ले। आगे धर्म के अन्दर यह भी कहा गया है कि यदि किसी कारणवश पति उस दान को अपने जीवन अवधि में न लौटा सके तो उसके पुत्र का यह कर्तव्य हो जाता है कि उस धन को व्याज के साथ अपनी माँ को लौटा दे।[१]

स्त्री धन के उत्तराधिकारी कौन होते हैं इस समस्या के विचार के बाद ही स्त्री धन के विषय में कोई निश्चित धारणा स्थापित की जा सकती है। याज्ञवल्क स्मृति में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि यदि स्त्री मर जाय और उसके पीछे कोई संतान न हो तथा वह विवाह मान्यता प्राप्त विवाह की कोटि का हो तो उसका स्त्री धन उसके पिता को लौटा दिया जायगा।[२] यद्यपि आजकल याज्ञवल्क स्मृति का यह अनुशासन मान्य नहीं है क्योंकि सभी प्रकार के विवाह समाज में मान्य कहे जाते है। इसलिए आधुनिक विधान के अनुसार स्त्री के मरने पर उसका पति ही इसका उत्तराधिकारी होता है। परन्तु दूसरी परिस्थिति वह है जिसमें स्त्री के मरने के बाद यदि उसके पीछे संतान हो तो सबसे पहले यह पुत्री को दी जायगी। इसका कारण ऊपर ही बताया जा चुका है कि नारियों को सबसे अधिक प्यारी लड़कियाँ होती हैं तथा स्त्री धन में गहना आदि अधिक रहता है, अतएव लड़कियों के लिए ही इसका अधिक महत्व हो सकता है। इसीलिए आगे यह भी कहा गया कि यदि किसी स्त्री की कई लड़कियाँ हों तो उनमें से जो अविवाहित हों उनको प्राथमिकता देनी चाहिए। इसलिए अविवाहितों को मान्यता मिली कि उनका विवाह होना है, अतएव माता की ओर से उसे कुछ स्त्री धन में मिलना चाहिए। साथ ही इसके द्वारा उसको कुछ आर्थिक सहायता भी मिलेगी क्योंकि उसे जीवन में उतरना है जब कि विवाहित लड़कियाँ जीवन में उतर चुकी हैं। परन्तु जब सभी लड़कियाँ विवाहित रहती हैं तो जो जीवन यापन में कठिनाई की अनुभूति करती हो उसे मान्यता दी गई। पुनः इसके बाद की परिस्थिति के सम्बन्ध में कहा गया कि यदि लड़कियाँ जीवित हों तो इस सम्बन्ध में यह अनुशासन दिया गया कि ऐसी परिस्थिति में लड़की के लड़की को अर्थात् नतिनी को स्त्री धन की अधिकारिणी बनने का अधिकार है। पर हमारा समाज और परिवार पितृ प्रधान है अतएव बाद के विचारकों ने यह मान्यता नहीं दी कि स्त्री धन नारी उत्तराधिकारियों में विभक्त किया जाय। गहने आदि को छोड़ कर शेष स्त्री धन के प्राप्त करने के उत्तराधिकारी पुत्र ही हैं। मनु आदि विचा-

---

१ पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, अल्टेकर, पृ० २७२।

२ अयुजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्रह्मादिषु चतुर्ष्वपि।
दुहितॄणां प्रसूता चेच्छेशेषु पितृगामि तत् ॥ २, १४५ ।

रकों ने इसे और अधिक ग्राह्य बनाने के लिए यह विधान किया कि लड़के तथा लड़की दोनों का ही अधिकार स्त्रीधन पर होता है।

लड़की का उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकार--धर्मशास्त्रों में तो यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो कुछ भी पुत्र, स्त्री तथा नौकर अर्जित करता है वह मालिक का होता है। इस प्रकार यह हुआ कि लड़की भी जो कुछ अर्जित करती है वह पिता का होता है क्योंकि पुत्र शब्द से उसका भी सम्बोधन हो जाता है। यह हुई व्यक्तिगत अर्जित सम्पत्ति सम्बन्धी बात। पर जब पारिवारिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि भ्रातृहीन लड़कियों का परिवार के उत्तराधिकार में प्रथम स्थान होता है। ऐसी लड़कियाँ अपने पुत्र द्वारा प्राप्त अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनती हैं। हमने परिवार के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह देखा है कि इस प्रकार के पिता जिन्हें पुत्र नहीं होता अपनी लड़की के पहले लड़के को अपना लड़का मान लेता है जिसे पुत्रिकापुत्र की संज्ञा दी गई है। ऋग्वेद की एक ऋचा इस बात को स्पष्ट करती है कि एक मातृहीन लड़की पुत्रिका पुत्र के द्वारा पैतृक सम्पत्ति में अधिकार पा रही है।[1] चूंकि ऐसी स्त्री से विवाह करने में पतियों को बड़ी हिचकिचाहट होती थी इसलिए अधिकांश भ्रातृहीन लड़कियाँ अविवाहित रहती थीं और यदि विवाह भी होता था तो इस शर्त पर कि उसके लड़के को लड़की का पिता पुत्रिकापुत्र के रूप में स्वीकार नहीं करेगा। फिर भी यह व्यवस्था चलती रही। परन्तु जब से समाज में बाल विवाह का प्रचलन हुआ और स्त्रियों की शिक्षा का कोई महत्व नहीं रह गया तो विचारकों का एक वर्ग यह कहने को तैयार हो गया कि मातृहींन लड़कियों को पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनने का अधिकार ही नहीं है। आपस्तम्ब ने इस सम्बन्ध में यह शर्त लगाई कि जब कोई उत्तराधिकारी बनने के योग्य न हो चाहे दूर के सम्बन्ध में अथवा समीप के, तब लड़की उत्तराधिकारी बन सकती है। उन्होंने आगे यह तक कहा कि पुत्राभाव में पिता को चाहिए कि वह सम्पत्ति जन कल्याण के लिए दें पर लड़की को नहीं देना चाहिए।[2] सम्भवतः आपस्तम्ब ने इसलिए यह कहा कि इसके द्वारा पैतृक सम्पत्ति में दूसरे परिवार वालों का अधिकार हो जायगा जिससे सम्भव है परस्पर द्वेष हो जाय। अतएव गौतम, वशिष्ट आदि विचारकों ने लड़की का उल्लेख उत्तराधिकारी के रूप में कहीं किया ही नहीं है।

पर इस पथ का विरोध कौटिल्य[3] नारद[4] बृहस्पति[5] आदि ने किया। वृ

---

१ ऋग्वेद—१,१२४,७।
२ २,१४,२–४।
३ अर्थशास्त्र—३,५।
४ पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसंतानकारणात्, १३,५०।
५ २५,५५.

स्पति ने कहा कि चूँकि दोनों का जन्म गर्भ से ही होता है इसलिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक उत्तराधिकारी हो सकता है और दूसरा नहीं। नारद ने भी यही कहा है कि पुत्री पुत्र के समान ही है जो उसे उत्तराधिकार के अधिकार से वंचित किया जाय। इसी पक्ष के समर्थकों के एक वर्ग ने जिसके प्रमुख कात्यायन हैं, यह मत व्यक्त किया कि लड़की सीमित उत्तराधिकारी है। वह तभी तक पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी बनी रह सकती है जब तक वह जीवन में व्यवस्थित रूप से निश्चित न हो जाय। आज भी यही विचार इस सम्बन्ध में विद्यमान है।

अब तक जो हमने लड़की के उत्तराधिकार प्राप्त करने के सम्बन्ध में विचार किया वह अधूरा है क्योंकि केवल मातृहीन लड़कियों के सम्बन्ध में ही हमने विचार किया है। पर दूसरा पक्ष अभी शेष है वह है, मातृयुक्त लड़कियों की समस्या। ऐसी लड़कियों के सम्बन्ध में वैदिक काल में यह प्रथा थी कि लड़कियाँ भाइयों के साथ पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी नहीं होती थीं। ऋग्वेद में इस प्रकार का एक विवरण मिलता है कि एक अविवाहित वृद्धा अपने भाई के साथ पैतृक सम्पत्ति में भाग लेने के लिए अधिकारी बन रही है।[१] यदि इस प्रकार के उत्तराधिकार की प्रथा होती तो उसे अधिकारी बनने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। पुनः परिवार की परम्परा भारत में पैतृक रही है, अतएव भाइयों के साथ लड़कियों को कभी उत्तराधिकारी बनाना कोई भी व्यक्ति उचित नहीं मानता। इसीलिए किसी भी धर्म स्रष्टा ने इस प्रकार का अधिकार लड़कियों को भारत में दिया ही नहीं। यद्यपि निरुक्त ने इसके विरोध में ऋग्वेद एवं मनुस्मृति के एक श्लोक के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि लड़कियों को अधिकार है कि वह अपने भाई के साथ परिवार की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनें। पर निरुक्त का मत मान्य नहीं है क्योंकि उनके आधार अप्रामाणिक हैं। ऋग्वेद की जिस ऋचा को इन्होंने आधार माना है वह इतना जटिल है कि अर्थ विभ्रम से उन्होंने उसे उल्टा समझ लिया है।[२] यह ऋण निम्नांकित व्यक्त करती है कि पुत्रिका पुत्र कौन होता है तथा उसे नाना कैसे ले सकता है। पुनः मनु के श्लोक को इन्होंने आधार माना है। डा० अल्टेकर के अनुसार वह श्लोक मनुस्मृति में नहीं है। साथ ही उसमें प्रयुक्त 'मिथुनानाम् पुत्राणाम्' शब्द की व्याख्या जहाँ यह होनी चाहिए कि 'मिथुन (माता-पिता) को चाहिए कि पुत्रों को' वहाँ निरुक्त ने इसका अभिप्राय 'पुत्र एवं पुत्रियों' से लिया है।[३] इस प्रकार निरुक्त का समर्थन कि

---

१ ऋग्वेद—३,३१,२.

२ शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् संशग्म्येन मनसा दधन् वै॥ ३,३१,१।

३ पोजीशन आॅव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, अल्टेकर, पृ० २८६–७।

लड़की का अधिकार पिता की सम्पत्ति में पुत्र के साथ रहे और वह भी इसकी उत्तराधिकारी बने कुछ आधाररहित ज्ञात होता है।

इस प्रकार की लड़कियों को उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकार देने का समर्थन शुक्र ने भी किया है। पर वह कहते हैं कि सम्पत्ति के बँटवारे के समय यदि पिता जोवित हो, जितना वह अपने प्रत्येक पुत्र को देता है, उसका आधा प्रत्येक लड़की को देना चाहिए। यदि विभाजन पिता का मृत्यु के बाद होता है तो केवल अष्टम् अंश ही प्रत्येक लड़की को दिया जाता है। यह भाग कोई उत्तराधिकार के अधिकार को नहीं प्रदर्शित करता, पर उसके जोविका निर्वाह करने के माध्यम को, पीछे जब विवाह प्रत्येक स्त्री के लिए अनिवार्य हो गया तो उसकी व्यवस्था में आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए हमारे शास्त्रकारों ने यह विधान किया कि पिता अथवा उसके मरने के बाद बड़े लड़के को अधिकार है कि परिवार की सम्पत्ति से ही विवाह की व्यवस्था करे। पिता को मृत्यु के बाद उसके विवाह में चतुर्थांश तक व्यय करने का अधिकार दिया गया। इस चतुर्थांश को व्याख्या विभिन्न रूप से को गई। कुछ विचारकों ने कहा कि प्रत्येक भाई का बँटवारे के हिस्से से चतुर्थांश विवाह के लिए निकाल देना चाहिए। इस प्रकार यह भाग बहुत अधिक हो जाता था। अतएव दूसरे विचारकों ने कहा कि बंटवारे के बाद प्रत्येक लड़के के जिम्मे जो भाग पड़े उसमें से एक लड़के के भाग का चतुर्थांश सम्पूर्ण सम्पत्ति में से विवाह के लिए निकाल देना चाहिए। यह बड़ा हो संकुचित वर्ग प्रतोत होता है क्योंकि इतने थोड़े से द्रव्य से विवाह सम्भव नहीं था। अतएव एक मध्यमवर्गी विचार प्रचलित हुआ कि इस प्रकार बँटवारा करना चाहिए कि प्रत्येक लड़की के विवाह के लिए एक लड़के के हिस्से का चतुर्थांश अलग-अलग व्यय किया जा सके। आगे यह भी कहा गया कि जो भाग इसमें से व्यय न हो सकेगा वह लड़को को नहीं दिया जायगा, पर पुत्रों में ही बाँट दिया जायगा। दूसरी ओर यह भी कहा गया कि यदि यह एकत्रित धन विवाह के लिए कम पड़े तो लड़कों को अपने भाग में से और अधिक भाग देकर उसे पूरा करना चाहिए।

विधवा का उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकार—विधवा का स्थान स्त्रियों में विशेष महत्व का है क्योंकि इसकी स्थिति परिवार में सबसे नाजुक होती है। इसलिए विधवा के अधिकार का अध्ययन करना पूर्ण समीचीन है।

वैदिक साहित्य में जहाँ यह कहा गया है कि स्त्री को उत्तराधिकार सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं है वहाँ स्त्री से अभिप्राय विधवा से ही है। पर विधवा पुत्र के संरक्षक के रूप में उत्तराधिकारी बन सकती थी क्योंकि नियोग का समाज में प्रचलन था। यदि कोई बिना पुत्र उत्पन्न किए ही मर जाता था तो उसकी विधवा इस प्रथा द्वारा पुत्र उत्पन्न करके उसकी संरक्षक बन जाती थी और पति के सम्पत्ति की उत्तराधिकारी भी बन जाती थी। पर व्यक्त रूप से न वेद और न धर्मसूत्र ही विधवा के उत्तरा-

धिकार सम्बन्धी अधिकार को स्वीकार करते हैं। बौद्धायन, नारद, मनु आदि विचारकों ने उत्तराधिकार के विधान में विधवा का कोई स्थान ही नहीं रखा है। सम्भवतः इसका कारण यह था कि भारतीय विचारक यह उचित समझते थे कि विधवा सामाजिक बंधनों से दूर हट कर पूर्ण धार्मिक जोवन व्यतोत करे।

पर कुछ उदारवादो विचारक जैसे कौटिल्य आदि ने यह स्वोकार किया है कि विधवा को जावित रहने भर के लिए परिवार को सम्पत्ति में से भाग देना चाहिए।[1] गोतम एवं विष्णु न कुछ और उदारवादो क़दम उठाया।। इन्होंने इसे सपिण्ड का काटि में माना ओर सापण्डों का तरह परिवार को सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बताया। याज्ञवल्क ने केवल इसका सैद्धान्तिक स्वरूप हो नहों प्रस्तुत किया पर व्यावहारिक जावन में भो चरितार्थ किया। अपने मरने के समय उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अपनी दा पत्नियों में बाँट दिया। इसके बाद इस विचार के ऊपर दो प्रवृत्तियाँ जागृत हुईं; एक था पुरातनवादा प्रवृत्ति तथा दूसरो था सुधारवादो प्रवृत्ति।

पुरातनवादा प्रवृत्ति के पोषक थे नारद, कात्यायन, भोज आदि। इन्होंने कहा कि पति के पोछे अगर उसका संतान न हो तो उसको सम्पत्ति सम्राट के हाथ सौंप देनो चाहिए पर विधवा को नहों देना चाहिए। परन्तु इस कठोर विचार के विरुद्ध बहुत सा कोमल प्रवृत्तियाँ भो जागृत हुईं जिन्होंने नारी का थोड़ा बहुत अधिकार उत्तराधिकार के रूप में स्वोकार किया। किसी ने एक निश्चित आमदनो की सम्पत्ति तक ही उसका अधिकार बताया, किसो ने केवल चल सम्पत्ति पर हो उसका अधिकार बताया आदि। इसका परिणाम यह हुआ कि उदारवादी प्रवृत्ति का समाज में जागरण हुआ। इसके समर्थक थे वृहस्पति आदि। इन्होंने कहा कि जब पति और पत्नी सह-उत्तराधिकारी कहे जाते हैं तो क्यों पति को मृत्यु पर उसे उत्तराधिकार के अधिकार से वंचित कर दिया जाय? यही तर्क प्रजापति, जोमूतवाहन, वृद्ध मनु ने भी प्रदर्शित किया। विष्णु ने तो यहाँ तक कहा कि पति की मृत्यु के बाद पहले विधवा को सम्पत्ति में अधिकार देना चाहिए, फिर लड़की और पिता तथा माता को। इसके साथ एक बंधन यह भी लगा दिया कि जब विधवा पतिव्रता रहेगी तभी वह उत्तराधिकार पा सकेगो अन्यथा नहीं।

इस प्रकार यह अब निश्चित हुआ कि विधवा परिवार की सम्पत्ति में अधिकार पा सकतो है। पर मिताक्षरा ने इसकी व्याख्या करते हुए एक शर्त यह लगा दी है कि कोई भो विधवा तभी परिवार की सम्पत्ति में हिस्सा पा सकती है जब उसके पति ने मरने के पूर्व सम्मिलित परिवार को छोड़ कर स्वतन्त्र परिवार स्थापित कर लिया हो। इसोलिए याज्ञवल्क ने कहा है[2] कि यदि विभाजन के बाद भी परिवार के सदस्य

१ अदायादकं राजा हरेत्स्त्रीवृत्तिप्रेतकदर्थवर्जम्। ३,५।

२ २,१३१।

पुनः मिल जायँ तो स्त्रियों का कोई अधिकार सम्पत्ति पर नहीं रह जाता। परिवार का उत्तराधिकारी कोई पुरुष ही हो सकता है। पर दायभाग ने इस प्रकार का कोई बंधन नहीं रखा है। उसने तो यहाँ तक कहा है कि चाहे पति विभाजन तक परिवार का भले हो सदस्य हो पर उसकी मृत्यु पर उसकी विधवा ही उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारी बन सकती है। दूसरे को कोई अधिकार नहीं कि उसके जीवित रहते उसके पति के अधिकार की सम्पत्ति पर अपना अधिकार स्थापित कर ले। वृहस्पति ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि उसके पति के भाई जीवित हो फिर भी विधवा का ही अधिकार प्रमुख रहेगा।

जहाँ तक उत्तराधिकार से प्राप्त सम्पत्ति पर विधवा के अधिकार की बात है महाभारत ने यह कहा है कि विधवा स्त्रियों को उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर केवल सीमित अधिकार ही प्राप्त है। इससे अभिप्राय है कि वह उसे बेच नहीं सकती है परन्तु केवल उपयोग मात्र कर सकती है। यही विचार नारद और वृहस्पति का भी है। परन्तु विचारकों के दूसरे वर्ग का यह अनुशासन है कि विधवा का अपने पति की सम्पत्ति पर एकमात्र सम्पूर्ण अधिकार है। वह अपनी रुचि के अनुसार इसका उपयोग कर सकती है और बेंच भी सकती है।

विधवा का पुनर्विवाह

आजकल भारत सरकार नारी की स्थिति सुधारने के लिए जहाँ प्रयत्नशील है वहीं नारियाँ स्वयं भी इस दिशा में अपने विभिन्न संगठनों द्वारा सचेष्ट ह। हिन्दू कोड बिल के अनुसार विधवाओं को पुनः विवाह करने को स्वीकृत प्रदान कर दी गई है। वास्तव में यह बहुत महत्वपूर्ण कदम है जिसे समाज सुधारकों ने एवं सरकार ने उठाया है। इसके अभाव में बहुत अधिक अनाचार समाज में फैलता था। जो स्त्रियाँ अल्पकाल में ही विधवा हो जाती थीं वह या तो अपना जीवन वेश्या बन कर व्यतीत करती थीं अथवा परिवार छोड़कर संन्यासी बन जाती थीं। परन्तु जो घर में रहती उनका जीवन दूभर होता था क्योंकि पति के अभाव में कोई समुचित रक्षा उन्हें प्राप्त नहीं होती थी। इसलिए उन्हें परिवार के लोगों की कटुता को सहन करना पड़ता था। यह स्थिति मध्यकाल में भी बनी रही। मूल रूप से मध्यकालीन भारत में बाल-विवाह का प्रचलन था, अतएव अल्पकाल में ही नारियों को कभी-कभी विधवा जीवन के दुःख भोगने होते थे।

परन्तु यदि प्राचीन भारत में इनकी स्थिति का सर्वेक्षण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि पहले इनके प्रति समाज का बड़ा ही उदारवादी विचार था।

अथर्व वेद में यह वर्णन मिलता है कि एक स्त्री दूसरी बार अपना विवाह कर रही है।[1] यों तो नियोग की भी प्रथा समाज में प्रचलित थी जो एक प्रकार से पुनर्विवाह को ही व्यक्त करती है। नियोग प्रायः अपने सपिण्ड में ही होता था। यह कोई बंधन नहीं था कि पुनः विवाह भी नियोग की तरह सपिण्ड में ही करे क्योंकि वैदिक साहित्य में ऐसा विवरण मिलता है कि अपने सपिण्डता के बाहर विधवाएँ विवाह करती थीं। धर्मसूत्रकारों ने पुनर्विवाह की मान्यता को और अधिक बल दिया। वशिष्ठ और दूसरे विचारकों ने तो यहाँ तक कहा कि यदि ब्राह्मणी का पति विदेश में हो और उसकी कोई सूचना पाँच वर्ष तक ब्राह्मणी को न मिले तो वह पुनर्विवाह कर सकती है। इसी परिस्थिति में क्षत्राणी के लिए तीन वर्ष और वैश्य के लिए दो वर्ष का बंधन लगाया गया। उदायी एक विधवा थी। उसने अर्जुन से प्रार्थना की कि वह उससे विवाह कर ले। इसी प्रकार जातक कथाओं में भी विभिन्न कथाएँ मिलती हैं जिनसे सिद्ध होता है कि व्यावहारिक जीवन में भी विधवा विवाह की प्रथा थी। इसका केवल सैद्धान्तिक महत्व ही नहीं था।

पर ३०० ई० पू० के बाद जन-रुचि इस प्रथा के विरोध में होने लगी। धर्मशास्त्रकारों ने विधवा के पुत्र को निम्न स्थान देना प्रारम्भ किया। दुर्योधन ने महाभारत में कहा है कि वह दूसरे की भूमि को विभाजित करना उसी प्रकार घृणित समझता है जैसे विधवा से विवाह करना।[2] मनु ने भी कहा है कि विधवा को कभी भी विवाह के लिए नहीं सोचना चाहिए। नारद ने कहा है कि लड़की का विवाह एक बार ही केवल होना चाहिए। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि विधवा विवाह का सामाजिक स्तर पर विरोध हो रहा था। परन्तु यह विरोधी बाल विधवाओं के विवाह के विरोधी नहीं थे। महाभारत में इसीलिए कहा गया है कि यदि लड़की बाल विधवा हो जाय और उसका पुनर्विवाह कर दिया जाय तो इसमें दोष नहीं लगता। वशिष्ठ ने भी यही मत व्यक्त किया है। इनके अनुसार यदि विवाह की क्रियाएँ पूर्ण हो गई हों पर पति और पत्नी के सम्बन्ध में स्थापित होने के पूर्व ही पत्नी यदि विधवा हो जाय तो उसके पुनर्विवाह में कोई दोष नहीं होता है। परन्तु पुराणों की रचना के समय इस प्रथा का विरोध होने लगा। आदित्यपुराण तो स्पष्ट रूप से कहता है कि कलियुग में विधवा विवाह होना ही नहीं चाहिए तथा उसके पुत्र को कभी भी पिता के श्राद्ध में आमन्त्रित नहीं करना चाहिए। इसके बाद निबन्धकारों ने बाल विधवाओं के विवाह को भी अमान्य घोषित किया। इस विचार के

---

१ ९,५,२९–८।

२ क्षीणरत्नां च पृथिवीं हतक्षत्रियपुंगवाम्।
न ह्युत्सहाम्यहं भोक्तुं विधवामिव योषितम् ॥ ९,३१,४५।

पोषक देवण भट्ट हैं। इसकी चरमता तो यहाँ तक पहुँच गई कि एक लड़की के लिए पति के योग्य लड़के पर यदि मन बैठ गया हो पर अभी कोई विवाह की बात उससे अथवा उसके घर वालों से न की गई हो और इसी बीच उस लड़के की मृत्यु हो जाय तब भी लड़की को विधवा ही मानना चाहिए और उसका विवाह विवर्जित होना चाहिए।

इस प्रकार विधवा विवाह केवल ३०० ई० पू० तक ही हमारे समाज में प्रचलित रहा इसके बाद इसमें क्रमशः ह्रास होने लगा।

नारी की अवस्था क्यों गिरी ?

अब तक जो कुछ भी नारियों के सम्बन्ध में हमने अध्ययन किया उसमें यह देखा कि ३०० ई० पू० के बाद ही सभी अच्छी प्रथाएँ समाप्त हो गईं तथा बुरी प्रथाएँ समाज में प्रचलित हुईं। शिक्षा के क्षेत्र में हमने देखा है कि ३०० ई० पू० के पहले नारी शिक्षा बड़ी उन्नतिशील थी पर इसके बाद इसमें क्रमशः ह्रास होता गया। प्रौढ़ विवाह ने भी ३०० ई० पू० के बाद समाप्त होकर बाल विवाह को अपना स्थान दे दिया। विधवा विवाह भी इसी के बाद समाप्त हो गया। सती तथा पर्दा प्रथाएँ जो समाज के लिए अभिशाप थीं तथा हैं वे इसी समय के बाद प्रारम्भ हुईं। इस प्रकार ३०० ई० पू० नारी के विकास में वह समय नियन्त्रक केन्द्र है जहाँ से अच्छी प्रथाएँ समाप्त हो कर बुरी प्रथाओं का जागरण हुआ। ऐसा क्यों हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में हम निम्नांकित कारण प्रस्तुत कर सकते हैं।

इसके पूर्व वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि नारियाँ विवाह के पूर्व ही अपने प्रेमियों के साथ भाग जाती थी। बौद्ध तथा जैन साहित्य से यह ज्ञात होता है कि विवाह की विभीषिका के कारण वह भिक्षुणी बन जाना विशेष उपयुक्त समझती थीं। इसलिए समाज में अनाचार एवं भ्रष्टाचारी फैलने की सम्भावना थी। साथ ही इस समय विवाह एक आवश्यक बंधन स्वीकार किया जाने लगा। इसलिए यह अनिवार्य हुआ कि उनके विवाह की अवस्था घटा दी जाय जिससे विवाह के पूर्व न वह प्रेम की कल्पना कर सकें और न विवाहित जीवन के दुःखों का चिन्तन ही कर सकें। इसका परिणाम यह हुआ कि उपनयन संस्कार, शिक्षा आदि प्रथाएँ इनके लिए अब नहीं रह गईं। इनको जनसम्पर्क से बचाने के लिए, इनके ऊपर पुरुषों का अधिकार बनाए रखने के लिए पर्दा, सती आदि प्रथाओं में बाँध दिया गया। इस प्रकार इनके आध्यात्मिक विकास एवं नैतिक समुन्नति के लिए इनको वाह्य सुविधाओं से वंचित कर दिया गया।

सूत्रकार एवं स्मृतिकार सदा वर्ण में ब्राह्मण तथा परिवार में पति की ही प्रधानता को स्वीकार करते थे। इसलिए उन्होंने अपने युग में नारियों के जीवन की स्वच्छन्दता को पूर्णतया सीमाबद्ध कर दिया और उन्हें पति के पूर्ण अधीन बना

दिया। इसीलिए कहा गया है कि इस समय से पति ही उनका गुरु हो गया, पति गृह पाठशाला बन गया और गृह के काम-काज पाठ्य विषय बन गए।

जहाँ इस प्रकार का समाज और विचारकों का सहयोग इनकी अवस्था के ह्रास में मिला वही परिस्थितियाँ भी इसमें बहुत सहायक हुईं। ३०० ई० पू० के बाद विदेशी जातियों का मिश्रण यहाँ क्रम से सदा होता रहा चाहे वह आक्रमणकारी के रूप में यहाँ आए हों अथवा व्यापारी के रूप में। उनके संघ से अपनी नैतिकता के रक्षार्थ बहुत सी परम्पराओं को मान्यता दी गई; जैसे पर्दा प्रथा, सती प्रथा आदि।

इस प्रकार इन कारणों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि इस समय के बाद समाज में, आर्थिक क्षेत्र में, शिक्षा में, धर्म में आदि सर्वत्र नारियों की स्थिति में ह्रास होने लगा जैसा की ऊपर के अध्ययन से ज्ञात होता है।

—o—

अध्याय ९

विवाह

अर्थ—प्राय: जैसा हमने ऊपर देखा है एक परिवार दो प्रकार का होता है, मातृ सत्तात्मक तथा दूसरा पितृ सत्तात्मक। भारतीय परिवार के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमने देखा है कि भारतीय परिवार पितृ सत्तात्मक है। अतएव यहाँ चाहे विधिवत अथवा किसी भी दूसरे प्रकार से विवाह की क्रिया अथवा उसका दूसरा कोई भी रूप इसी निमित्त सम्पन्न होता है तो पुरुष पक्ष, जिसे अविधिवत रीति का अनुसरण करने के कारण वर नहीं कह सकते, स्त्री पक्ष को, जिसे इसी कारण-वश सदा वधू भी नहीं कह सकते, जिस किसी भी प्रकार हो इस क्रिया के लिए अपने घर लाता है। इसी प्रकार दूसरे देशों में अथवा भारत में ही आधुनिक काल में इस थोड़ी सी इकाई में जहाँ मातृ सत्तात्मक परिवार होता है स्त्री अपने तथा कथित पति को, जो जिस किसी भी प्रकार उसका जीवन संगी चुन लिया गया हो, अपने घर लाकर रखती है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि इस संस्था में एक पक्ष दूसरे को अपने घर लाता है।

अतएव विवाह का अर्थ है उद्वाह। उद्वाह से अभिप्राय है अपने घर ले जाना। ऊपर की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि इस संस्कार के सम्पन्न होते ही परिवार की प्रणाली और सत्ता के अनुसार एक पक्ष दूसरे को घर ले जाता है।

महत्व—भारतीय विचार में जीवन को पूर्ण भौतिक और क्षणभंगुर माना गया है। इसके साथ ही क्रियाओं द्वारा प्राप्त फल को भाग्यनियन्ता माना गया है। प्रत्येक भारतीय की दृष्टि में भौतिक जीवन का कोई भी महत्व नहीं है क्योंकि इस संसार को सदा हेय दृष्टि से देखा जाता है। अतएव सुख और आनन्द जो क्षणभंगुर हैं, केवल इसी जीवन के लिए हैं। इसका कारण है कि हमारा दृष्टिकोण पूर्ण आध्यात्मिक है। हम प्रत्येक विचार को अध्यात्म के आधार पर आँकते हैं। इसीलिए मोक्ष को हम सदा अपने जीवन का आदर्श गन्तव्य नियत करते हैं। पुरुषार्थों को यदि देखा जाय तो उसमें भी अन्तिम पुरुषार्थ जिसे पुरुषार्थ का लक्ष्य मानते हैं मोक्ष ही स्वीकार किया गया है। आश्रम व्यवस्था को देखा जाय तो उसमें भी अपने जीवन का अन्तिम आश्रम संन्यास ही नियत किया गया है जो मोक्ष की सीढ़ी है। इसके अतिरिक्त ऋणों और यज्ञों से मनुष्य की कृतियों को इसीलिए बाँधा गया है कि उसका जीवन नियन्त्रित रहे और वह मोक्ष प्राप्त कर ले। इस मोक्ष की प्राप्ति के लिए कहा गया है कि

जब तक पुत्र नहीं उत्पन्न होता तब तक पिण्ड और उदक नहीं मिल सकता, अतएव मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। पिण्ड और उदक देने का अधिकार उसी पुत्र को है जो औरस है, अतएव औरस के प्रजनन के लिए विधिवत विवाह आवश्यक है।

'एशोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा।' (मनु,i x२५)

मनु के इस श्लोक का अर्थ है कि इससे स्त्री एवं पुरुष की लोकयात्रा जीवन-पर्यन्त शुभ रहती है। इस कथन का आशय यह है कि मनुष्य अपनी इन्द्रिय तुष्टि, काम की परिपूर्ति आदि इससे कर लेता है। इससे वह व्यभिचार से बच जाता है तथा अपनी जीवन अवधि को भली प्रकार व्यतीत करता है।

आश्रम व्यवस्था का अध्ययन करते हुए हमने देखा है कि जब तक गृहस्थ जीवन-को समुचित रीति से व्यतीत नहीं किया जाय तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। महा-भारत की इस सम्बन्ध में उल्लिखित दो कथाएँ जो आश्रम व्यवस्था में निर्देशित की जा चुकी हैं इसी बात की पुष्टि करती हैं। इसीलिए गृहस्थाश्रम को ही सभी आश्रमों का मूल बताया गया है। गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ ही विवाह संस्कार से होता है। इसके अभाव में बालक ब्रह्मचारी बना रहता है। इसलिए भी विवाह संस्कार का महत्व है।

धर्म की साधना भारतीय अकेले नहीं कर सकता। जब वह अकेला होता है तो वह अयज्ञीय होता है क्योंकि उसका मानसिक बलांश पूर्ण नहीं होता। इसलिए मानसिक बलांश को पूर्ण करने के लिए, चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के लिए, काम की प्रवृत्ति के प्रकोप से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि पुरुष के साथ प्रत्येक धर्म कार्य की पूर्ति के लिए स्त्री का होना आवश्यक है। वह स्त्री 'पत्नी' शब्द से सम्बन्धित की गई है। इससे यह स्पष्ट है सपत्नीक ही धर्म कार्य सम्पन्न कर सकता है—

'अयज्ञियो एष वा योऽपत्नीकः'।

महाभारत में कहा गया है कि संतन्ति ही इस लोक में तथा परलोक में आनन्द का अजस्र स्रोत है। इसीलिए मनु ने कहा है कि वही मनुष्य पूर्ण है जो स्त्री तथा पुत्र के साथ जीवन व्यतीत करता हो। इससे पितृ ऋण से मनुष्य उऋण होता है, मोक्ष प्राप्त करता है तथा इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन में अनन्त सुख भी प्राप्त करता है। इसलिए भारतीय परिवार में पुत्र का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह भी विवाह के द्वारा ही होता है।

वंश परम्परा को बनाये रखने की जैसी इच्छा आज भारतीयों में है उसी प्रकार पुरातन काल में भी थी। इस वंश परम्परा के ही निर्वाह के लिए मनुष्य ने अनेक प्रकार के पुत्रों को मान्यता दी है। पर वास्तविक परम्परा तो औरस से ही चलती है। जब औरस का प्रजनन किसी भी मातृ अथवा पितृ के पक्ष के दोष के

परिणाम स्वरूप नहीं होता तब ही दूसरे प्रकार के पुत्र को स्थान दिया जाता है। इसलिए विवाह का महत्व था और है।

स्त्री ही सभी पुरुषार्थों के साधन की केन्द्र है। धर्म की साधना, जैसे हमने देखा है कि व्यक्ति इस संस्कार से संस्कारित होने के पूर्व ही प्रारम्भ कर देता था, पर वह उसका केवल सैद्धान्तिक पक्ष था। जब हम उसके व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान देते हैं तो ज्ञात होता है कि गृहस्थ आश्रम में ही इसकी उपयुक्त साधना सम्भव हो सकती है। अर्थ और काम तो गृहस्थ आश्रम में ही सम्भव होता ही है। मोक्ष के सम्वन्ध में तो ऊपर ही विचार किया जा चुका है कि बिना पत्नी के मोक्ष की साधना नहीं हो सकती। इसलिए पुरुषार्थ की पूर्ति इसके अभाव में सम्भव नहीं है।

विवाह ही युवतियों के ऊपर नियन्त्रण का बंधन होता है। वाल्यकाल में पिता पुत्री की रक्षा करता है पर युवा काल में वह पति द्वारा ही नियन्त्रित हो सकती है क्योंकि वही उनकी काम वासना की तृप्ति करता है, उसके जीवन निर्वाह का जिम्मेदार होता है तथा उसका साथी होता है. पिता इस अवस्था में कोई नियन्त्रण समीप रखने में असमर्थ रहता है। अतएव विवाह का सामाजिक संस्था में विशेष स्थान है।

ऐतिहासिक सर्वेक्षण

महाकाव्यों के कुछ स्थलों को यदि प्रमाण मानें तो हम स्वीकार ही नहीं कर सकते कि चिर पुरातन में विवाह की एक जीवित परम्परा थी। इस सम्बन्ध में 'परिवार' अध्याय में हम उत्पत्ति के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए दन्तकथाओं के सिद्धान्त की व्याख्या में विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर चुके हैं। अतएव इसके पिष्टिपेषण का कोई विशेष महत्व नहीं है। फिर भी हम संक्षेप में संकेत कर सकते हैं कि महाभारत में उत्तरकुरु एवं महिष्मती के सम्बन्ध में सहदेव द्वारा वर्णित व्यवस्था, कि वहाँ पूर्ण वेश्या-वृत्ति थी, इस परम्परा का विरोध सिद्ध करती है। दूसरे शर्मिष्ठा का यह कथन कि 'समवेत्ता मती राजन पतिः सखाश्च यः पतिः' भी विवाह की स्थिति का विरोध करता है। पुनः श्वेतकेतु का भी यह कहना कि वेश्यावृत्ति के स्थान पर व्यवस्थित विवाह प्रणाली को जन्म देना चाहिए, यही सिद्ध करता है कि पुरातन काल में कोई भी व्यवस्थित विवाह प्रणाली नहीं थी। पर तीनों ही तर्क अमान्य हैं क्योंकि सहदेव का वर्णन एक विजेता का वर्णन है, शर्मिष्ठा का कथन एक दुराचारिणी स्त्री का अपने समर्थन के कथन में है और श्वेतकेतु का कथन भी कोई सर्व सत्यता की स्थिति का पोषक नहीं है। अतएव महाकाव्यों का प्रमाण इस दिशा में जिन विद्वानों ने दिया है वह भ्रामक है एवं असत्य है। अतएव इस व्यवस्था का विकास हम अन्य से आँकेंगे।

(१) **वैदिक काल**—वैदिक साहित्य इस बात का साक्षी है कि इस समय विवाह एक विकसित संस्था के रूप में समाज में विद्यमान था। इस समय 'अयज्ञियों एषा वा योऽपत्नीकः' की भावना प्रचलित थी। यज्ञ का विधान भी इस समय सर्वव्याप्त था। अतएव विवाह भी एक व्यवस्थित संस्था थी। वंशपरम्परा के रक्षार्थ भी वैदिक साहित्य में इस संस्था की महत्ता स्वीकार की गई है। प्रत्येक घर में गृह अग्नि चौबीसों घंटे प्रज्वलित रहती थी। जेन्दा अवेस्ता के अनुसार भी अविवाहित पुरुष विवाहित पुरुषों की अपेक्षा बहुत ही सशंक दृष्टि से देखे जाते थे। इस प्रकार ऊपर के सभी विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में विवाह एक सर्व प्रचलित संस्कार था। सभी पुरुष तथा स्त्री को इस संस्कार से संस्कारित होना पड़ता था। फिर भी यहाँ 'अमागुह्य' लड़कियों का वर्णन मिलता है। अमागुह्य का अभिप्राय ऐसी लड़कियों से है जो अपने पिता के घर में ही वृद्ध हो जाती थीं। इससे सिद्ध होता है कि फिर भी बहुत सी स्त्रियाँ अविवाहित होती थीं। पर यह परिस्थिति किसी कारण विशेष से ही उत्पन्न होती होगी जैसे घोषा का विवाह वृद्धावस्था तक नहीं हुआ क्योंकि वह रुग्णा थी।

(२) **वैदिक काल के बाद से ३०० ई० पू० तक**—बौद्ध साहित्य में यह वर्णित है कि लड़कियाँ विवाह की विभीषिका से इतनी त्रस्त हो जाती थीं कि वह विवाह के बाद श्वसुर तथा सासु के साथ रहने की अपेक्षा भिक्षुणी बनना विशेष श्रेयस्कर मानती थीं। थेरिगाथा में इस प्रकार का विवरण प्राप्य है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि बौद्ध काल में विवाह की प्रथा का अन्त हो गया था। केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही इस प्रकार का उदाहरण मिलता है।

(३) **३०० ई० पू० और उसके बाद**—इस समय विवाह की ओर जनरुचि विशेष रूप से झुकी। यह परम्परा आवश्यक स्वीकार कर ली गई। इसको आवश्यक स्वीकार करने का कारण यह था कि बहुत सी कन्याएँ भिक्षुणी होती जा रही थीं। समाज में इससे पापाचार बढ़ रहा था। इसको देखते हुए यही निश्चित किया गया कि विवाह को एक आवश्यक और अनिवार्य संस्था मान लिया जाय। पहले यह विधान था कि बालक तथा बालिका दोनों का उपनयन होता था जिससे दोनों ही आर्य वर्ण में परिगणित किए जाते थे। इसी प्रकार विवाह को एक अनिवार्य बंधन बनाने के लिए उपनयन के स्थान पर ही विवाह को स्थानान्तरित कर दिया गया। ऋषि दीर्घतमस ने कहा कि कोई भी इस समय अविवाहित न रहे। यम ने तो यहाँ तक कहा कि यदि उपयुक्त पति न मिल सके तो किसी भी अनुपयुक्त पति से ही उचित समय पर अपनी लड़की का विवाह कर देना चाहिए। जनरुचि भी इस समय कुछ इसी प्रकार की बन गई थी कि अविवाहित जीवन, विवाहित जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक कष्टमय है।

इसी प्रकार इस समय ईरान में भी विवाह एक आवश्यक संस्था का रूप कर लिया था।

यह संक्षिप्त विवरण यह सिद्ध करता है कि चिर पुरातन काल से आज तक यह संस्था पूर्ण विकसित रूप में चली आ रही है। यद्यपि कभी-कभी इसके अन्दर उत्पन्न होने वाले कलुष से नारियाँ घबड़ाती भी रहीं तो जनरुचि ने सदा इसका समर्थन किया और नारियों के विरोध का तिरस्कार। यह केवल भारत की ही बात नहीं है, सम्पूर्ण मध्य-एशिया की।

विवाह की आयु

भारत में समय-समय पर परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण इसकी सामाजिक संस्थाओं का प्रारूप भी बदलता रहा। यही कारण है कि नवीन विचारों नवीन परिस्थितियों के सदा समागम होते रहने से विवाह की आयु कभी एक नहीं रही। यदि कालगत रूप से इसकी अवस्था का सर्वेक्षण किया जाय तो ज्ञात होता है कि इसकी आयु में सदा परिवर्तन होता रहा।

(१) **वैदिक काल**—वैदिक काल में यौन विवाह की परम्परा थी। लिए एक ऋचा में यह कामना किया गया है कि उसकी आकृति पूर्ण पुष्ट हो यौन भाव से अत्यधिक विकसित हो। इसके लिए ऐसी भी कामना की गई है नव विवाहित युगल घर का सम्पूर्ण बोझ सम्भाले। अथर्व वेद में विवाह के उच्चरित किए जाने वाले ऐसे मन्त्रों का वर्णन है जिससे विरक्त पुरुष और को भी एक दूसरे के प्रति आसक्त कर दिया जाय। इस समय ऐसा विधान था प्रेमिका के लिए उपहार एवं कर्णफल दिया जाता था। इसी वेद में एक स्थल पर ऐसी घटना का वर्णन है जिसमें एक युवक के पास जो अविवाहित है कामवासना से उन्मत्त एक युवती इसलिए जाती है कि वह उससे विवाह कर ले।[1] इ साथ ही बहुत सी ऐसी ऋचाओं का भी यहाँ वर्णन है जिनसे सिद्ध होता है विवाह के तत्काल बाद ही पुरुष और स्त्री परस्पर मिलते थे।[2] यह प्रमाण करते हैं कि इस समय अवस्था प्राप्त अथवा प्रौढ़ विवाह परम्परा प्रचलित थी।

फिर भी कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जैसे विवाह के बाद पति के पास जाकर काम-वासना के लिए उकसाना, अपने लिए लम्बे बालों की प्रार्थना करना आ

१ पोजीशन ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, अल्टेकर, पृ० ५८।
२ वही पृ० ५९।

जिनके आधार पर साधारण पाठक यह अर्थ लगा सकते हैं विवाह के समय छोटी अवस्था रहती होगी। पर यह वर्णन छिटपुट हैं इससे यह सिद्ध होता है कि कुछ विशिष्ट बीमारी के कारण, अपनी बिगड़ी अवस्था को ठीक करने के सम्बन्ध में ऐसी ऋचाएँ प्रयुक्त हैं।

२. **गृह सूत्र काल**—गृह सूत्रों के भी वर्णन से यही ज्ञात होता है कि इनकी रचना की अवधि में भी भी प्रौढ़ विवाह प्रणाली समाज में प्रचलित थी। इसके सम्बन्ध में विवाह के बाद चातुर्थि कर्म का वर्णन गृहसूत्रों में है जिसके बाद तत्काल पुरुष एवं स्त्री एक दूसरे से मिलते थे।[1] इसके साथ विवाह के समय ही मासिक धर्म से संयुक्त होने का वर्णन भी किया गया है जिससे बंचने के लिए छूट भी बतलायी गयी है।[2] स्त्रियों के लिए नानीका शब्द का उल्लेख किया गया है जो महाभारत के अनुसार सोलह वर्ष प्राप्त करने के बाद की स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होता था।[3] इसी प्रकार मित्रदत्त ने भी नग्नीका अर्थ नंगा नहीं बताया है परन्तु उस स्त्री से लिया है जो अपने पति को अकेले में आकर्षित कर सके। वात्स्यायन के कामसूत्र में उन विभिन्न विधियों का वर्णन है जिससे कोई अपने पति को अकेले में लुभा सके। वात्स्यायन ने 'प्राप्त यवना' और 'विगत यवना' शब्द का का प्रयोग किया है तथा स्वयं पति तै करने का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि गृहसूत्रों के समय प्रौढ़ विवाह परम्परा का ही प्रचलन था।

(३) **महाकाव्य एवं बौद्ध काल**—इस समय भी प्रौढ़ विवाह की परम्परा समाज में प्रचलित थी। महाकाव्यों में सीता, कुन्ती, द्रौपदी आदि का विवरण मिलता है। यह विवरण सिद्ध करते हैं कि विवाह के समय यह पूर्ण अवस्था प्राप्त थीं। भीष्म ने महाभारत में विवाह सम्बन्ध की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है तीस वर्ष के पुरुष के साथ दस वर्ष की लड़की तथा बीस वर्ष के पुरुष के साथ सात वर्ष की लड़की का विवाह किया जांना चाहिए। इस प्रकार यदि अनुमान लगाया जाय तो यही सिद्ध होता है कि विवाह की कम से कम आयु सोलह वर्ष नियत की गई थी।

जातक कथाओं में इस प्रकार के अनेक स्थल हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि अपने प्रेमियों के साथ प्रेमिकाएँ विवाह के पहले ही भाग जाती थीं। इसके साथ ही प्रौढ़ अविवाहित बालाओं के भिक्षुणी बनने का भी उल्लेख है। यह सभी बौद्ध ग्रंथ के प्रमाण तथा महाकाव्यों के प्रमाण इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रौढ़ विवाह परम्परा का समाज में प्रचलन था।

---

१ वही, पृ० ६१।
२ वही
३ वीर मित्रोदय

(४) **धर्मशास्त्र का काल**—इस समय क्रमशः लड़कियों के विवाह की अवस्था कम होने लगी जिसने पीछे चलकर पुराणों के समय बाल-विवाह का रूप धारण कर लिया। धर्मशास्त्रकारों के अनुसार विवाह की आयु मासिक के बहुत पीछे नहीं होना चाहिए। वशिष्ट, बौद्धायन, मनु, कौटिल्य आदि सभी ने यह स्वीकार किया है कि मासिक होने के तीन वर्ष के अन्दर ही उनका विवाह हो जाना चाहिए।[1] गौतम तो यहाँ तक कहा कि मासिक धर्म आने के तीन मास के भीतर ही विवाह होना चाहिए।[2] इसका कारण यह बताया गया कि विवाह के समय लड़की युवा होनी चाहिए जिससे शीघ्र संतान उत्पन्न हो जाय। परन्तु इसकी आयु बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए जिससे यह प्रेम और वासना की दासी विवाह के पहले ही बन गई हो। यद्यपि मनु ने कहा है कि यदि उपयुक्त वरन मिले तो उसे अविवाहित रखना ही श्रेयस्कर है।

(५) **मौर्य काल**—यद्यपि मेगस्थनीज ने लिखा है कि ६ तथा ७ वर्ष की आयु तक लड़कियों को अविवाहित रखते थे पर ऊपर ही हमने कौटिल्य का वर्णन देखा है जिससे सिद्ध होता है कि मेगस्थनीज का वर्णन अप्रामाणिक है।

(६) **स्मृति काल**—इस समय से स्त्रियों की शिक्षा समाप्त हो गई। अतएव उपनयन संस्कार भी समाप्त कर दिया गया। भिक्षुणी बनना पूर्ण अनैतिक घोषित कर दिया गया। इस समय यह विचार उत्पन्न हुआ कि युवा काल के पूर्व ही विवाह सम्पन्न होना चाहिए क्योंकि उस समय तक उसका उपभोग उसके तीन पति सोम, सूर्य एवं अग्नि कर चुकते हैं तब वह पति के यहाँ आती है। अतएव अल्पकालीन विवाह के कारण इनके प्रभाव से मुक्त होकर सीधे वह पति के पास आ जायगी। इसलिए याज्ञवल्क ने कहा जो मासिक के पूर्व अपनी लड़की का विवाह नहीं करता वह प्रति वर्ष एक गर्भ के हत्या का भागी होता है। यम ने इसीलिए कहा कि यदि समय पर उपयुक्त पति न प्राप्त हो सके तो किसी के साथ विवाह कर देना चाहिए। पीछे के स्मृतिकारों ने इस अवस्था को और भी कम कर दिया और कहा—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा तु रोहिणी।
दसवर्षा भवेत्कन्या, अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥

(७) **पुराण काल**—पुराणों के समय यह अवस्था और भी कम कर दी गई। ब्रह्मपुराण के वर्णन के अनुसार यह अवस्था घटा कर चार वर्ष कर दी गई।[3]

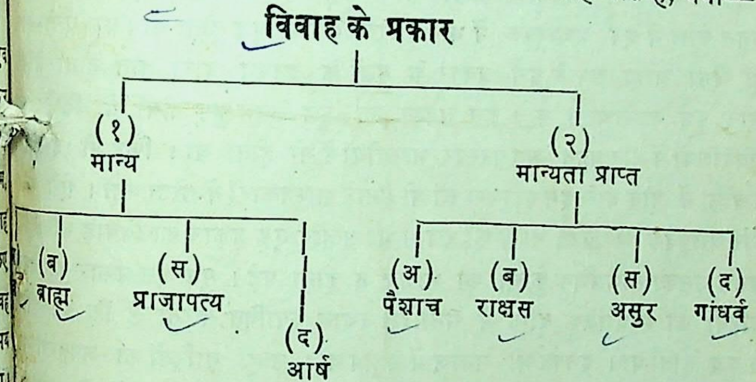
(८) **मध्यकाल एवं आधुनिक काल**—पर बाल विवाह का प्रचलन क्षत्रियों में और मालावार में नहीं था। अल्बरूनी ने बाल विवाह का निम्नांकित कारण बताया है:

---

१ **बौद्धायन धर्मसूत्र, ४,१–१४।**
२ **गौतम धर्मसूत्र, १७।५९।**
३ **ब्रह्मपुराण १६५–८।**

(अ) आर्थिक दृष्टिकोण, (ब) अन्तर जाति, (स) सती प्रथा का प्रचलन। (द) परिवार के विभिन्न सदस्यों के स्वभाव से परिचय प्राप्त करना। अकबर के समय में यह व्यवस्था प्रचलित थी पर वह इसका विरोधी था। अंग्रेजों के समय शारदा अधिनियम पारित कर तथा संगठन बना कर बाल विवाह की प्रथा के स्थान पर प्रौढ़ विवाह को स्थान दिया गया।

भारतवर्ष में प्रत्येक प्रकार के विवाह को, चाहे वह अनैतिक दृष्टि से हो अथवा नैतिक दृष्टि से हो, मान्यता दी गई है। इसीलिए स्मृतिकारों ने आठ प्रकार के विवाह का वर्णन किया है। इनके पुनः दो विभाग किए जा सकते हैं: एक श्रेणी वह है जिसमें समाज में अच्छे प्रकार के प्रचलित विवाह परिगणित किए जाते हैं, दूसरी श्रेणी वह है जिसमें अन्य प्रकार के विवाह जिनका प्रमुख केन्द्र अनैतिकता होता परिगणित किए जा सकते हैं। इस प्रकार एक कोटि मान्य विवाह की है तथा दूसरी मान्यता प्राप्त। मान्य विवाह पहले कोटि को कहते हैं तथा मान्यता प्राप्त विवाह दूसरी कोटि को कहते हैं। प्रत्येक के अन्दर चार प्रकार के विवाह आते हैं, यथा—



अब ऊपर के अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि मान्यता प्राप्त विवाह निम्न का है जब कि मान्य विवाह उत्तम कोटि का है। अतएव यहाँ अब निम्न की ओर से ही अध्ययन करेंगे।

मान्यता प्राप्त विवाह

पैशाच—सप्तां मत्ता प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
सापापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥

(मनु स्मृति ३, २४)

(अ) इस प्रकार मनु के अनुसार इस विवाह की परिभाषा यह बनती है कि सोई, प्रमत्त अथवा राह में अकेली जाती हुई लड़की के साथ जब कोई बलात्कार करे तो वह पापिष्टी विवाह आठों प्रकार के विवाहों में निम्न विवाह कहा

जाता है। यह वास्तव में एक बड़ी विचित्र बात है कि जानते हुए कि यह को विवाह नहीं है एकमात्र केवल अनाचार है फिर भी उस स्त्री के सतीत्व को र के लिए तथा उसके सम्मान का सामाजिक औचित्य बनाए रखने के लिए यह महत्वपू मान्यता दी गई कि ऐसा करने वाले अनाचारी को उस स्त्री को अपने साथ विवाहि तरह रखना पड़ेगा। वास्तव में यह बड़ा उच्च आदर्श एवं विचार है जो हर दू को भी अपने में मान्यता देकर अपना ले। फिर भी कुछ कट्टर नैतिकतावा विचारक जैसे आपस्तम्ब एवं वशिष्ट आदि ने इसे कोई विवाह ही स्वीकार नहीं कि है। इसकी मान्यता विशेष रूप से इसलिए दी गई कि यह अत्यन्त पुरातन परम्प थी, जनजातियों में यह फिर भी प्रचलित रही और है तथा हमारे मनीषियों का ऐ विचार था कि इस प्रकार के लोगों को भी जन आलोचना से वंचित कर दिया जा चूंकि इस प्रकार का कार्य पिशाच ही करते हैं अतएव इसे पैशाच कह गया।

(ब) **राक्षस—'युद्ध हरणेन राक्षसः'। (मनुस्मृति)** अर्थात् युद्ध में को हरण कर जो विवाह किया जाय वह राक्षस माना जाता है। प्र पुरातन काल में एवं मध्यकाल में भी नारियों के लिए युद्ध होता था। पर ऐसी व नहीं जैसा वाह्य रूप से इस प्रकार के युद्धों के कारण द्वारा ज्ञात होता है समाज पूर्ण कामाचारी था। इस प्रकार का युद्ध केवल कुछ क्षेत्रों में, विशेष से विदेशियों में और बहुत कम परस्पर भारतीयों में भी होता था। फिर भी इस सी सीमा में होने वाले इस परम्परा को भी हमारे शास्त्रकारों ने छोड़ा नहीं। ऐसे ब त्कार बलपूर्वक अपहरित नारी को रखना भी उन्होंने एक प्रकार का विवाह मान जिससे उसको सामाजिक कुत्सा का भाजन न होना पड़े। पुनः इस प्रकार का वि नारियों का सामाजिक दृष्टि में समाद्रित स्थान स्थापित करता है कि इनके भी युद्ध होता था। इनका भी समाज में महत्व था। उन्हीं नारियों का अपहरण था जिनकी ख्याति बहुविश्रुत हो अथवा किसी प्रेमी के पाश में फँस गई अथवा योद्धा विजय के उपहार स्वरूप उन्हीं को अपनाने में अपना गौरव समझते इस प्रकार के विवाहों के प्रमाण से हमारा पूरा साहित्य भरा है। पृथ्वी ने संयुक्ता से, कृष्ण ने रुक्मिणी से, अर्जुन ने सुभद्रा से इसी प्रकार का वि किया था। अर्जुन के इस कार्य को स्वयं श्रीकृष्ण ने समर्थन किया है[1]। भारत में पुनः यह वर्णित है कि भीष्म ने काशी पर चढ़ाई की तथा वहाँ की कुमारी अम्बा को विचित्र वीर्य के पास ले गए। परन्तु पीछे इस प्रकार के वि को निकृष्ट माना जाने लगा। फिर भी आज बहुत सी जनजातियों में विवाह यह प्रकार पूर्ण प्रचलित है। उत्तर प्रदेश एवं बिहार के लोक गीतों में आज

१ महा० I, २४५, ५–६।

विवाह के अवसर पर इस प्रकार के गीत गाए जाते हैं। चूँकि इस प्रकार छीनना आसुरी वृत्तिपूर्ण कार्य है, इसीलिए इसे राक्षस की संज्ञा दी गई।

(स) आसुर—**ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।**
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ (म० स्मृ० ३,३१)

(जब लड़की के सम्बन्धियों को यथाशक्ति धन देकर स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या से विवाह किया जाय तो उसे आसुर विवाह कहते हैं।)

यदि विश्व सभ्यता का अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि चिर पुरातन काल में (असिरिया) में एक प्रकार का विवाह प्रचलित था जिसमें लड़की को खरीद कर उसके साथ विवाह किया जाता था।[1] इसी प्रकार की एक प्रणाली भारत में भी प्रचलित थी। चूँकि इसका उद्भव असूरिया में हो चुका था इसलिए भारत में इसका नाम इसके उद्भव स्थान के नाम पर आसुर विवाह रखा गया।

परन्तु असूरिया के ठीक विपरीत जब वहाँ स्त्री का मूल्य पिता रख लेता था तब भारत में इस मूल्य को लड़की का ही पिता उसका धन–स्त्री–धन–कह कर लौटा देता था। यह मूल्य लड़की के पिता को इसलिए दिया जाता था कि वह लड़की की सेवा कार्य से वंचित कर दिया जाता था। अतएव यह पूरक रकम होती थी। पर किसी भी ... साहित्य में इसका वर्णन नहीं किया गया है। फिर भी यह क्षात्र विवाह की अपेक्षा अधिक उपयुक्त था क्योंकि लड़कियों का मूल्यांकन इसमें आदर्श आधार पर किया गया है। वैदिक परम्परा में इस प्रकार के विवाह का ज्ञान होता है पर यह प्रचलन में नहीं था। पाली साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है। थेरोगाथा में ईशदासी के विवाह का जो वर्णन है वह इसी प्रकार का है। धम्मपद भी इस परम्परा का उल्लेख करता है। महाकाव्यों में भी वर्णित गांधारी, माद्री, कैकयी आदि के विवाह का जो वर्णन है वह भी इसी परम्परा का द्योतक है। यहाँ तक कि शल्य जानबूझ कर भी इस विवाह को प्राथमिकता देते रहे। बौद्धायन तथा दूसरे धर्मशास्त्रकारों ने तो इसका स्पष्ट रूप से विरोध किया है।[2]

इसको निम्नसिद्ध करने के लिए पीछे यह भी कहा गया कि इस प्रकार से उत्पन्न पुत्र पिता का सगोत्र नहीं होता[3] अतएव न वह पिण्डदान ही कर सकता है तथा उसके पिण्ड से पिता मोक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकता है। पद्मपुराण ने तो यहाँ तक कहा है कि ऐसे सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र का मुँह भी देखना पाप है। इस प्रकार यह

---

१ विश्व की सभ्यताएँ, डा० विमलचन्द्र पाण्डेय ।
२ क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते ।
३ पित्र पिण्डो न विद्यते ।

व्यवस्था कुत्सा की भाजन हो गई। यहाँ तक कि बहुत सी परिषदों ने ऐसे लोगों के बहिष्कार का विधान बना दिया जो इस प्रकार का विवाह करें।

(द) गांधर्व इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वस्य तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ (मनुस्मृति ३,३२)

अर्थात् जब काम के वशीभूत मैथुन के लिए अपनी इच्छा के अनुसार परस्पर वर और कन्या सयोग करें तो उस संयोग द्वारा सम्पन्न विवाह गान्धर्व माना जायगा। चूंकि गंधर्व अपने रूप में यौवन के वशीभूत कामुक यक्षिणी और किन्नरियों के साथ तथा किन्न रियाँ एवं यक्षिणी इसी प्रकार गंधर्वों के साथ विवाह पाश में बंधती थीं य स्वरुचि के अनुसार ही होता था। अतएव इस प्रकार वर तथा कन्या के सुरुचि अनुसा होने वाले विवाह का नामकरण दैविय विवाह के नामकरण के आधार पर, गांध रखा गया। बौद्धायन तथा वात्स्यायन ने इस विवाह को अन्य विवाहों की अपेक्ष श्रेष्ट माना है क्योंकि किसी बाहरी दबाव से यह विवाह नहीं होता था पर सुरु से। इस प्रकार का विवाह सदा प्रचलित था जैसे शकुन्तला एवं दुष्यन्त का। आजक इसे प्रेम विवाह की संज्ञा से संबोधित करते हैं। इसीलिए कुछ विद्वान इसे मान्य को के विवाह में परिगणित करते हैं। परन्तु इस प्रकार का विवाह धीरे-धीरे पै सत्ता को हेय दृष्टि से देखने की ओर बल देता है तथा इससे समाज पूर्ण स्वे चारी हो जाता है। इसीलिए इसको साधारणतया धर्मशास्त्रकारों ने विशेष मान्य नहीं दी। मनु ने इसकी कोटि निर्धारित करने में इसीलिए असमर्थता प्रकट है। वह इस निर्णय के समय मूक हैं।[1] सम्भवतः इस विवाह को किसी प्रकार धार्मिक विधि विधान के अभाव के कारण कोई मान्यता न मिली।

मान्य विवाह

(अ) आर्ष एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ (मनुस्मृति ३,२९)

अर्थात् जब एक जोड़ा बैल और एक गाय देकर लड़का वाला लड़की के विवाह करता है तो वह आर्ष कहलाता है। यह सम्भवतः इसलिए था कि धर्म में गाय के दूध तथा बैल के जोड़े की आवश्यकता पड़ती थी। अतएव लड़ पिता को इसमें थोड़ी सुविधा हो जाय इसलिए यह विधान बनाया गया। यद्यपि रणतया यह अर्थ लगाया जाता है कि लड़की के पिता को लड़की के मू प्रारूप में यह दिया जाता था परन्तु ऐसी बात नहीं प्रतीत होती क्योंकि के लिए मूल्य अलग-अलग निर्धारित किया जा सकता है, अतएव एकरूपता क

---

१ ३, ३३–३५।

अभिप्राय प्रतीत नहीं होता। पुनः यदि यह मूल्य देने का समर्थन करती तो इसे मान्य विवाह की कोटि में स्मृतिकार नहीं रखते क्योंकि आसुर जो इसी का (यदि इसे मूल्य स्वीकार किया जाय तो), दूसरा विकसित स्वरूप है वह मान्यता प्राप्त विवाह की कोटि में रखा गया है। यही विचार जैमिनी तथा शबर का भी है।

गांधर्व: दैव--

'ऋत्विजे वितते कर्मणि दद्यादलंकृत्य स दैवः'। मनुस्मृति ३,५३.

-अर्थात् वह ऋत्विज जो दैव कार्य में निरत है उसे जब लड़की को भली प्रकार अलंकार से आभूषित करके दिया जाय तो दैव विवाह कहा जाता है। पुरातन काल में यज्ञों की परम्परा थी। यह महीनों और कभी-कभी वर्षों तक चलते रहते थे। पुरातन काल में अधिकतर पुरोहित यजमान के घर ही यज्ञ करता था। जब यजमान की कन्या से उसे इस बीच प्रेम हो जाता अथवा यजमान पुरोहित को ही अपनी कन्या देना उपयुक्त समझ कर उसके साथ कन्या का विवाह कर देता तो इसे दैव विवाह की संज्ञा दी जाती थी। इसके साथ गुरुकुल में शिष्य तथा शिष्या दोनों ही होते थे। पढ़ाते हुए गुरु को जब अपनी शिष्या के साथ प्रेम हो जाता था तो वह शिष्या से विवाह कर लेता था। यह विवाह भी इसी कोटि में रखा जाता है। स्मृतिकार इस प्रकार के विवाह की निन्दा करते हैं क्योंकि आध्यात्मिक जीवन के प्रति किए जाने वाले कार्यों के समय भौतिक जीवन के प्रति नहीं सोचना चाहिए। परन्तु केवल वैदिक धर्म तक ही यह प्रथा जीवित रही क्योंकि यज्ञों का, विशेष रूप से लम्बे अवधि तक चलने वाले यज्ञों का प्रचलन वैदिक परम्परा के साथ ही समाप्त हो गया।

गांधर्व : प्राजापत्य--

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥ मनुस्मृति ३,३०.

जब कन्या का पिता कन्या को उसके पति को देकर यह कहे कि तुम दोनों साथ-साथ धर्म का आजीवन आचरण करो तो वह विवाह प्राजापत्य कहलाता है। इस प्रकार के विवाह में सम्पूर्ण विधिविधान का पालन किया जाता था। परन्तु ब्रह्म एवं प्राजापत्य विवाह में कोई मूलभूत अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है। यह दोनों ही समान विवाह ज्ञात होते हैं। प्राजापत्य ही केवल वह विवाह नहीं है जिसमें धर्म का सह-आचरण आपेक्षित है परन्तु ब्रह्म में भी यही बात है। अन्तर केवल इतना ही है कि दूसरे प्रकार में यह कथन स्पष्ट रूप से नहीं कहा जाता जब कि प्राजापत्य में यह कहा जाता है। पर इसकी मान्यता तो सर्वत्र ही है। इसीलिए डा० अल्टेकर के अनुसार केवल विवाहों के सात प्रकार को सम बनाने के लिए प्राजापत्य के अन्दर एक भेद ब्रह्म का कर दिया गया है।[1] यही बात वशिष्ठ तथा आपस्तम्ब के विवाह के प्रकार के

१ पोजीशन ऑव वीमेन इन हिन्दू सोसाइटी--डा० अल्टेकर, पृ ५५।

वर्णन से भी ज्ञात होती है क्योंकि उनके वर्णित प्रकारों में प्राजापत्य का कोई स्थान ही नहीं है केवल ब्रह्म का ही है। इसलिए डा० अल्टेकर को यह समानार्थी प्रतीत होते हैं। वास्तव में वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में चाहे जिस किसी भी विवाह के प्रकार से सम्बन्धित पति पत्नी हों वह साथ ही धर्माचरण करते ही हैं। इसमें पिता द्वारा आज्ञापति होने की कोई बात ही नहीं है।

गांधर्व ब्राह्म

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयं।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्म प्रकीर्तितः॥ मनुस्मृति ३,२७.

लड़की को अच्छे वस्त्रों से भली प्रकार अलंकृत कर विद्वान तथा शीलवान वर को बुलाकर जब लड़की का पिता लड़की को देता है तो वह ब्रह्म विवाह कहा जाता है। यह विवाह पूर्ण विधि विधानतः होता था। इसमें वर को यह प्रतिज्ञा करनी होती थी कि वह लड़की के साथ पूर्ण समता का व्यवहार करेगा। ऊपर के श्लोक में दान का अर्थ है देना न कि दान करना। इस विवाह को सर्वोत्तम माना गया है। क्योंकि इसमें किसी भी पक्ष से किसी प्रकार का बंधन नहीं है।

परन्तु आधुनिक काल में केवल ब्रह्म विवाह ही सर्व प्रचलित है जब कि शेष विवाहों का कोई अस्तित्व नहीं है। कुछ उन्नतिशील समाज में गान्धर्व विवाह को भी स्थान मिला है और बहुत से दरिद्र परिवार में आसुर विवाह को भी स्थान मिला है पर यह बहुत ही कम प्रचलित है।

वर के गुण

वर का सर्व प्रमुख गुण बताया गया है कि उसे शरीर से पुष्ट होना चाहिए, घर का सम्पन्न होना चाहिए तथा कुछ विशिष्ट प्रकार की शारीरिक रुग्णता से रहित होना चाहिए जैसे बहरापन, नपुंसकता आदि। पर पहली विशेषताएँ उतनी महत्व की नहीं जितनी विशिष्ट प्रकार की शारीरिक रुग्णता। इनमें भी नपुंसकता का कोई इतना महत्व नहीं था क्योंकि नियोग प्रथा द्वारा, इसके होने पर भी संतानोत्पत्ति करा ली जाती थी जिसे धर्म की दृष्टि से मान्यता मिली थी। पर आजकल नपुंसकता को एक महान दोष मानते हैं क्योंकि नियोग प्रथा का इस समय कोई महत्व नहीं है।

दूसरी बात वर में यह देखी जाती थी कि वह स्त्री का सगोत्र और सपिण्ड न हो। इसका विवर्जन इसीलिए था कि परम्परागत दोष परिवार में न बना रहे। इसके साथ ही रक्त सम्बन्ध को विवाह में जोड़ा बनने से बचा दिया जाय।

तीसरी विशेषता यह बताई गई है कि उसे तीनों वेदों का ज्ञाता होना चाहिए तथा इसके साथ ही वेदांग एवं उपनिषद का भी जानकार होना चाहिए। यदि वह सभी वेदों का ज्ञाता न हो तो भी किसी एक वेद का अवश्य ज्ञाता होना चाहिए।

जिस वर के साथ एक लड़की का विवाह कर दिया गया हो उसी के साथ पू

दूसरी लड़की का विवाह नहीं करना चाहिए। इसके साथ ही एक घर में दो लड़कियों का विवाह भी नहीं करना चाहिए। गोलावट विवाह भी करने का विवर्जन था। गोलावट का अर्थ है कि जिससे अपनी लड़की या बहन व्याही जाय उसकी लड़की, बहन या उसी के घर की दूसरी लड़की से पुनः विवाह कर लिया जाय।

विवाह करने के लिए वर सजातीय तथा सभी दृष्टि से सम्पन्न खोजना चाहिए। लड़का सदैव लड़की से अवस्था में बड़ा होना चाहिए। पर बहुत अधिक अवस्था का अन्तर अशोभनीय होता है। इसलिए इसका विवर्जन किया गया है।

स्मृतियों के समय तक यद्यपि अनुलोम विवाह की प्रथा प्रचलित थी पर प्रतिलोम विवाह समाप्त हो चुका था। थोड़े ही दिनों के बाद अनुलोम को भी विवर्जित कर दिया गया। कल्हण की राजतरंगिणी इस बात की स्पष्ट प्रमाण है कि दसवीं शताब्दी से अनुलोम विवाह भी समाप्त हो गया था।

साधारणतया वर पक्ष की ओर यह गुण देखे जाने चाहिए।

बधू के गुण

कन्या देखने में सदा सुन्दर होनी चाहिए। उसके किसी भी शारीरिक अवयव में अति नहीं होनी चाहिए अर्थात् उसके बाल न बहुत लम्बे होने चाहिए न बहुत छोटे, आँखें बहुत छोटी नहीं होनी चाहिए, दाँत बहुत छोटे-छोटे नहीं होने चाहिए, होंट बहुत मोटे नहीं होने चाहिए आदि। उसकी चाल मन्द और मन्थर गति की होनी चाहिए। इसीलिए इन्हें गजगामिनी कहा गया है। उसके बाल घुंघराले नहीं होने चाहिए, भूरे नहीं होने चाहिए। यही सभी विशेषताएँ वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में उल्लेख किया है।

अन्तर विवाह तथा बहिर विवाह

(१) **अन्तर विवाह**—वर्तमान समाजशास्त्री जहाँ भी विवाह का विचार करना प्रारम्भ करते हैं वहाँ अन्तर विवाह और बहिर विवाह की समस्या का समाधान अनिवार्यतः किया जाता है। चूँकि विवाह का अध्ययन हम एक सामाजिक संस्कार के रूप में यहाँ कर रहे हैं अतएव यह निश्चित करना अनिवार्य है कि पुरातन काल में इस विषय पर क्या नियमन हमारे शास्त्रकारों ने प्रदान किया है। साधारणतया यह नियम जाति, वन्यजाति, प्रजाति और वर्ग पर लागू होता है। योरोप में चर्च के सम्बन्ध में इसने कानून का नियम धारण कर लिया है। कैथालिक, यहूदी तथा प्रोटेस्टेन्ट परस्पर विवाह नहीं कर सकते। अफ्रीका और अमरीका में भी यह नियम यथार्थ रूप से लागू होता है। साथ ही एस्कीमों तथा हब्शियों म भी यही परम्परा

प्रचलित है। प्राचीन मिस्र के माया और पूरू राज्य परिवारों के सगे भाई वहनों म विवाह होता था।[१]

अतीत में भारतवर्ष में भी अन्तर विवाह प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाता था। मनुस्मृति, याज्ञवल्क स्मृति तथा कामसूत्र[२] में भी अन्तर विवाह प्रणाली को ही प्राथमिकता दी गई है। कामसूत्र में यह उल्लेख मिलता है कि 'शास्त्रों के अनुसार जो व्यक्ति अपने वर्ण में विवाह करता है उसे ही उचित संतान प्राप्त होती है तथा वही लौकिक तथा यश का कार्य करता है।'[३] जब जातियों का विकास हुआ तब यह नियमन बना दिया गया कि एक ही वर्ण की एक ही जाति में परस्पर विवाह होता रहे। एक वर्ण के विभिन्न जातियों में परस्पर विवाह अन्तर विवाह की कोटि से परे बताया गया।

इस प्रकार अन्तर विवाह से हमारा तात्पर्य एक ही वर्ण या जाति में होने वाले विवाह से है। इसकी मान्यता विशेष रूप से दो कारणों से दी गई है: (१) वह अपने को दिव्य पुरुष समझते थे (२) इसके द्वारा रक्त की शुद्धता बनी रहती थी।

(२) **बहिर विवाह**--जहाँ एक ओर अन्तर विवाह से तात्पर्य एक ही वर्ण या जाति में विवाह करने से है वहीं दूसरी ओर बहिर विवाह से तात्पर्य अपने समूह के बाहर विवाह करने से है। ऊपर हमने अन्तर विवाह की दुहाई दिया है पर इसका मतलब यह नहीं कि हमारे ऋषियों ने एक ही समूह में परस्पर विवाह की मान्यता दी जैसा कि मिस्र के राजाओं के सम्बन्ध में ऊपर वर्णन किया जा चुका है। सगोत्र, सप्रवर तथा सपिण्ड विवाहों के वर्जन के सम्बन्ध में ऊपर बताया जा चुका है। यह बन्धन विशेष रूप से इसलिए उपस्थित किया गया है कि धर्मशास्त्रों में 'माता, वहन, पुत्री, पतोहू आदि के साथ कामजन्य सम्पर्क को महापातक कहा गया है।'[४] इसी से यह कहा गया कि माता की ओर पाँच पीढ़ी तक तथा पिता की ओर सात पीढ़ी तक विवाह नहीं करना चाहिए।[५]

इस प्रकार यद्यपि अन्तर विवाह को समर्थन प्रदान किया गया है परन्तु उसके महापातकी सम्बन्धों को रोकने के लिए वहिर विवाह के नियम से बाँध दिया गया है।

विवाह संस्कार के पद--भारतीय जीवन संस्कारों में बँधा है जैसा आगे के 'संस्कार' पाठ म हम अध्ययन करेंगे। यहाँ केवल हमारा तात्पर्य विवाह संस्कार

१ समाज शास्त्र, मदनमोहन, पृ० ४२।
२ हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन्स, प्रभु, पृ० १५६।
३ कामसूत्र III, । I, ॥
४ हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन्स—प्रभु, पृ० १५९।
५ वही।

से है। इसके सम्बन्ध में विशिष्ट समस्याओं का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ उनके पदों पर विचार करेंगे।

विविध गृह सूत्रों में विभिन्न विधियाँ विवाह के सम्बन्ध में दी गई हैं। यहाँ हम उनमें से सामान्य विधियों पर ही विचार करेंगे।

आश्वलायन[1] गृह सूत्र के अनुसार साधारणतया निम्नांकित पद ही सामान्य मान्यता के हैं:

(१) कन्यादान
(२) विवाह होम
(३) पाणिग्रहण
(४) लाजा होम
(५) अग्नि परिणयन
(६) अश्मारोहण
(७) सप्तपदी
(८) गृह प्रवेश
(९) चातुर्थिकर्म

कन्यादान––यह संस्कार पिता करता था। उपयुक्त वर को बुला कर वह तर्पण करता था। यह दान का प्रतीक था। वह उसे पुनः ग्रहण करता था और कामसूत्र का उच्चारण करता था। लड़की का पिता लड़के को इस बात के लिए उद्वेलित करता था कि धर्म, अर्थ तथा काम की पूर्ति में वह अपनी स्त्री का परित्याग नहीं करेगा।

विवाह होम––इसके पश्चात् अग्नि प्रज्वलित की जाती थी। इसके एक ओर पत्थर रखा जाता था तथा दूसरी ओर जलपूर्ण कलश गड़ा रहता था। इसमें लड़की तथा लड़का परस्पर तर्पण करते थे।

पाणि ग्रहण––पूरब की ओर मुँह करके लड़की बैठी रहती थी तथा पश्चिम मुँह करके लड़का खड़ा होता था और लड़की का हाथ पकड़ कर मन्त्रों का उच्चारण करता था।

लाजा होम––लड़की का भाई या उसी प्रकार का कोई सम्बन्धी लड़की के हाथ में अन्न गिराता था और वह वरुण, आर्यमा अग्नि तथा पूशन को साक्षी बना कर होम करता था कि शुभकार्य में वह भी प्रसन्न रहें।

अग्निपरिणयन––लड़का आगे-आगे और उसके पीछे उसकी स्त्री तीन बार विवाह के लिए प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे। जल कलश इनके दाहिनी ओर रहता था। लड़का मन्त्रों का उच्चारण करता रहता था।

---

१ **आश्वलायन गृहसूत्र** ७, २।

अश्मारोहण––आरोहण का अर्थ चढ़ने से होता है। अग्नि परिणयन के प्रत्येक चक्र में लड़का पास के पत्थर पर खड़ा हो जाता था। उसकी सहायता से उसकी स्त्री भी खड़ी हो जाती थी। लड़का कहता था 'अश्मेव त्वम् स्थिर भव'। इस समय वह अपने केश के दो बन्धनों को खोल देती थी जो पहले मन्त्र उच्चारण करते समय बँधे होते थे।

सप्त पदी[1]––'सप्त' का अर्थ सात है और 'पदी' का पद या कदम। यह विवाह का सर्व प्रमुख संस्कार है। इस समय लड़का अपनी स्त्री को वैवाहिक वेदी के पास उत्तर ओर सात पद घुमाता था और एक श्लोक गाता था। यह ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा पराशर गृह सूत्र आदि में दिया गया है।[2]

गृह प्रवेश––इसके पश्चात् लड़का अपनी स्त्री को घर ले जाता था। वहाँ उसके पिता कल्याणकारी मन्त्रों का उच्चारण करते तथा उसको अरुन्धती या ध्रुवतारा दिखाते थे।

चातुर्थि कर्म––विवाह के बाद शौच होने के लिए लड़की को तोन दिन तक भूमि पर बिना किसी सुन्दर आसन के सोना होता था, सामान्य वस्तुओं का भोजन करना होता था तथा गहने भी नहीं पहने जाते थे। पुनः चौथे दिन लड़की को स्नान कराया जाता था। वह श्रृंगार करती थी तथा पति के साथ शयन करती थी।

विवाह का बंधन कब दृढ़ मानते थे?

यह एक विवादास्पद बात है कि कब से अर्थात् किस पद के बाद से विवाह का बंधन दृढ़ माना जाता था। विभिन्न शास्त्रों तथा शास्त्रकारों ने विभिन्न मत इस सम्बन्ध में दिये है।

मनु के अनुसार वर पक्ष का चुनाव ही विवाह की पूर्णता मानी जाती थी।[3] यदि कोई वर जिसका विवाह निर्धारित लड़की वर से न हो सके जब कि उसकी मृत्यु हो जाय तो वह विधवा की कोटि में मानी जायगी और वह नियोग कर सकती है।'

दूसरे विचारक यह भी मानते हैं कि 'यदि विवाह सम्पन्न हो जाय पर परस्पर सम्पर्क न स्थापित हो सका हो तो वह विवाह वैध नहीं माना जायगा. और वह लड़की दूसरे के साथ व्याही जा सकती है। वह पूर्ण रूप से शुचि मानी जायगी। उसके सतीत्व में कोई दोष नहीं कहा जा सकता।[4]

---

१ वर्तमान काल का 'सत भँवरी'।

२ ऋग्वेद—१०,८५, ३९–४२; अथर्ववेद १४,१,४७–४८; पा० गृ० सू० i, ४,१६।

३ पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन—अल्टेकर, पृ० ९३।

४ वही, पृ० ९७।

सर्वमान्य धारणा इस सम्बन्ध में यह है कि सप्तपदी और पाणिग्रहण के पश्चात् ही विवाह मान्य समझा जाता है। इसके समर्थक वशिष्ठ, बौद्धायन, वात्स्यायन, भीष्म आदि विभिन्न प्रमाणिक धर्मशास्त्री हैं।[1] उपर्युक्त विचारों की कुत्सा की गई, क्योंकि इस प्रकार विवाह की पूर्णता मान लेना दोनों ही पक्ष के लिए उपयुक्त नहीं था। इसी से पीछे मनु ने भी अपना विचार परिवर्तित किया और यह आदेश दिया कि वैवाहिक मन्त्रोच्चारण जो पाणिग्रहण के समय किया जाता है वही इस बात का प्रमाण है कि लड़की का वैधानिक विवाह हो गया। पर विद्वानों को इसकी वास्तविकता तभी माननी चाहिए जब सप्तपदी की क्रिया सम्पन्न हो जाय।'[2] नारद ने भी इसकी पुष्टि की है कि 'एक बार विवाह के मन्त्रों का उच्चारण ही पाणिग्रहण के समय इस संस्कार की पूर्णता का द्योतक है।'[3] कौटिल्य के अनुसार पाणि ग्रहण के पश्चात् उच्च कुलों में तभी परित्याग किया जा सकता था जब लड़की का दूसरे पुरुष के साथ संयोग का होना ज्ञात हो जाय। अन्यथा इस संस्कार को विवाह की पूर्णता मानते थे। इसके पूर्ण होने के पूर्व चाहे जिस किसी भी कारण वश लड़की का परित्याग किया जा सकता था। यद्यपि निम्न कुलों में किसी भी स्तर पर यह बात सम्भव थी।[4]

विवाह निश्चित करने के माध्यम

वर्तमान काल में विवाह निश्चित करने के लिए विभिन्न साधनों का प्रयोग किया जाता है, यथा: टिप्पणी का प्रयोग, दहेज आदि। क्या यह व्यवस्था और इतनी कठिनाइयाँ हिन्दू समाज में प्राचीन काल में भी थीं। अब हम इसी विषय पर यहाँ विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से छः बातों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना अनिवार्य है जो वर्तमान विवाह प्रणाली के जाग्रत तत्व हैं : स्वेच्छाविवाह, स्वयम्वर प्रथा, प्रेम विवाह, बाल विवाह टिप्पणी का प्रयोग तथा दहेज व्यवस्था।

(अ) स्वेच्छा विवाह—३००० ई० पू० जब अवस्था प्राप्त प्रौढ़ विवाह का समाज में प्रचलन था तो वर तथा कन्या का चुनाव परस्पर इनके विचार के अनुसार पिता बिना इनकी इच्छा के विवाह का निर्णय नहीं करते थे।

(ब) स्वयंवर प्रथा—स्वयंवर प्रथा से अभिप्राय उस प्रथा से है जिसमें लड़की के विवाह के लिए उपयुक्त वर चुनने के हेतु पिता अपनी रुचि के अनुसार वरों को आमन्त्रित करता था जिसमें से लड़की स्वयं अपनी इच्छानुसार चुनाव कर लेती थी। प्रमुख रूप से यह प्रथा क्षत्रिय परिवार में प्रचलित थी। इस प्रकार से आयोजित विवाहों का

---

१ **हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन—प्रभु, पृ० १७६।**

२ **मनु०, iii, २२७।**

३ **नारद, १२,३।**

४ **अर्थशास्त्र, २१२।**

वर्णन महाभारत से प्राप्त होता है। पर १२वीं शताब्दी से इस प्रथा का अन्त हो गया क्योंकि बाल विवाह का समाज में प्रचलन हो गया।

(स) प्रेम विवाह—वैदिक काल से ही इस प्रकार के विवाह का प्रचलन था। अथर्ववेद में इस प्रकार के विभिन्न मन्त्रों का उल्लेख है जो पुरुष स्त्री को तथा स्त्री पुरुष को लुभाने के लिए प्रयोग किया करती थी। यह प्रथा ३०० ई० पू० तक चलती रही। वात्स्यायन के अनुसार यह बड़ा ही आदरणीय प्रकार का विवाह है। इसका कारण उन्होंने पारस्परिक प्रेम बताया है जो विवाह का वास्तविक एवं चरम लक्ष्य है। भीष्म ने कहा है कि ब्राह्म, राक्षस तथा गांधर्व विवाह चाहे सवर्ण में हों अथवा अवर्ण में यह सभी धर्म परक हैं। अथर्व वेद के अनुसार किसी भी प्रकार का विवाह चाहे वह मान्य हो अथवा मान्यता प्राप्त हो सभी समान हैं यदि इससे पुरुष तथा स्त्री दोनों ही प्रसन्न हों। महाभारत में भी यह स्वीकार किया गया है कि अभिभावकों द्वारा आयोजित विवाह तो मान्य है ही पर उससे भी उत्तम वह है जिससे दोनों पक्ष सन्तुष्ट रहें। वात्स्यायन ने लड़की को आकर्षित करने की रीति का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने बतलाया है कि पुरुष को चाहिए कि उसके लिए सुन्दर माला बनवावे, उसकी रुचि की वस्तुओं को एकत्रित करे, उसके साथ सदा घूमे, अपने को बीमार बतलावे, परस्पर मिलता-जुलता रहे, उसके साथ खेल खेले तथा संगीत का आयोजन करे आदि। इस प्रकार विभिन्न रीतियों से जब वह आकृष्ट हो जाय तो अग्नि को प्रज्वलित कर एकान्त में तीन बार अग्नि की परिक्रमा कर उन्हें प्रतिज्ञा करनी चाहिए और तब अपने अभिभावकों के समक्ष अपना प्रस्ताव रखना चाहिए। इस प्रकार के विवाह का वर्णन जातक कथा कथासरित सागर में प्राप्य है। यह केवल क्षत्रिय परिवार तथा उच्च परिवारों में प्रचलित था। इसको विभिन्न विचारकों ने मान्यता दी है।

(द) बाल विवाह—जब समाज में बाल विवाह का प्रचलन हुआ तो लड़के एवं लड़की की रुचि का कोई स्थान नहीं रह गया। पिता ही विवाह तय करता था। यम तथा याज्ञवल्क ने तो यहाँ तक कहा है कि पिता लड़की के विवाह की अवस्था के होने पर अनिद्रित रातें व्यतीत करने लगता था। इस समय उसे अपमान सह कर एवं द्रव्य व्यय करके भी किसी प्रकार विवाह कर देना चाहिए। पिता की मृत्यु पर भाई, माता, चाचा, पितामह जो कोई भी हो उसी का यह धर्म होता था कि वह विवाह तै कर दें।

(य) टिप्पणी[1] प्रथा—चौथी शताब्दी के पहले टिप्पणी का प्रयोग विवाह तै करने के लिए किया जाता था कुछ ठीक तरह से ज्ञात नहीं। फिर भी राशिचिन्हों का प्रचलन भारतीय विचारों में कला में इसके पहले ही हो चुका था। चौथी शताब्दी से नवीं शताब्दी के बीच इसका समुचित विकास हो गया था। आजकल भी इसका प्रचलन

१ **टिप्पणी को आजकल टीपन कहते हैं।**

सर्वत्र है विशेष रूप से उस परिवार में जो आर्य समाजी विचार धारा से साम्य रखते हैं। इसके प्रचलन के साथ ही ग्रह एवं नक्षत्रों के प्रयोग का भी प्रचलन समाज में हो चला। इनका भी महत्व बढ़ गया।

(र) **दहेज प्रथा**—दहेज प्रथा वर्तमान काल की एक प्रचलित समस्या है पर वैदिक काल में बिलकुल ही यह प्रचलित नहीं थी। पर उत्तर वैदिक काल के सम्बन्ध में कुछ विचारक इस विषय पर संशय प्रकट करते हैं क्योंकि अथर्ववेद में यह वर्णन मिलता है कि लड़कियों को पिता बहुत उपहार के साथ विदा करता था। पर यह दहेज नहीं है, यह तो कोरा प्रेमोपहार है। इसके लिए कोई पूर्व निश्चय नहीं होता था। वैदिक काल के बाद के विवाह में केवल प्रेमोहार का ही वर्णन मिलता है कहीं भी दहेज का नहीं। धर्मशास्त्रों की रचना के समय भी इस प्रकार के प्रमाणों का पूर्ण अभाव प्रतीत होता है। अतएव इनका प्रचलन बाल विवाह के साथ प्रारम्भ हुआ क्योंकि लड़की के विवाह की अवस्था के होते ही धार्मिक बंधन के अनुसार उसका पिता वर तय करने के लिए लड़के के पिता को कुछ धन प्रलोभन स्वरूप देता था। पर फिर भी बहुत कम मात्रा में इसका प्रचलन था। राजपूत परिवार में वास्तव में यह प्रमुख रूप से प्रचलित था। यह शासक जाति थी, अतएव यह अभिमान और गौरव के प्रतीक स्वरूप इसे मानती थी। इस प्रकार प्राचीन भारत के अन्त के साथ इस प्रथा का विकास हुआ। अकबर के समय तथा अंग्रेजी भारत में एवं आजकल यह बहुत अधिक मात्रा में प्रचलित है। बिहार में तो यह प्रथा अपनी चरमता पर है। यद्यपि इसके निरोधक अधिनियम पारित हो गए हैं फिर भी यह पूर्ण रूप से कब तक प्रतिबन्धित हो जायगा नहीं कहा जा सकता है।

विवाह की मान्यताएँ

विवाह के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं जिसके द्वारा कुछ विशिष्ट प्रकार के विवाहों को विवर्जित किया गया हैं। इस सम्बन्ध में हमें मान्यताओं से परिचित होना चाहिए। यह मान्यताएँ इसलिए बनाई गईं कि मनुष्य में शक्ति, नैतिकता परस्पर बनी रहे क्योंकि हमारे यहाँ तो कहा गया है कि—

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्य एतद पशुभिः नराणाम्।
धर्मोंहि तेषाम् अधिको विशेषो . . . . ॥

इस प्रकार धर्म की मर्यादा का इस सामाजिक व्यवस्था द्वारा उल्लंघन न हो जाय यह मान्यताएँ नियत की गई हैं:

(अ) **अनुलोम विवाह**—लोम का अर्थ है रोम तथा अनु का अर्थ है समान जिसका वर्ण के सम्बन्ध में अर्थ है अपने से एक सोपान नीचे के वर्ण से। इस प्रकार के विवाह को पहले से ही हेय दृष्टि से देखा जाता था पर ७ वीं शताब्दी के समय

से तो इसका प्रत्यक्ष विरोध किया जाने लगा। इस प्रकार के विवाह से अभिप्राय है उस विवाह की रीति से जिसमें उच्च वर्ण के लड़के का विवाह उससे निम्न वर्ण की लड़की से कर दिया जाय।

(ब) प्रतिलोम विवाह—अनुलोम के विपरीत प्रतिलोम का अभिप्राय है। प्रतिलोम का अभिप्राय होता है रोएँ का उलटा। यदि अपने शरीर के रोम को देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि रोम का सीधा क्रम उस पर हाथ चलाने से ऊपर से नीचे की ओर ज्ञात होता है और उल्टा हाथ घुमाने से प्रतिकूल प्रतीत होता है। अतएव वह विवाह जिसमें उच्च वर्ण की लड़की का विवाह निम्न वर्ण के लड़के के साथ कर दिया जाता है प्रतिलोम कहलाता है। मनुस्मृति की रचना के बहुत पहले से ही इस प्रकार के विवाह का विवर्जन था। इसे निकृष्ट माना जाता था।

(स) सपिण्ड विवाह—पिण्ड का अर्थ परिवार के अध्याय में बताया जा चुका है कि इसका अर्थ है रक्त पिण्ड तथा चावल का पिण्ड। यहाँ अभिप्राय है रक्त पिण्ड से। एक रक्त पिण्ड से निर्मित व्यक्तियों का परस्पर विवाह सम्बन्ध विवर्जित कर दिया गया था क्योंकि इसके द्वारा नैतिकता की सीमा का उल्लंघन हो जाता है और रक्त विकार के परम्परागत रूप से परिवार में बने रहने की सम्भावना ही बनी रहती है। इसके सम्बन्ध में यह बताया गया है कि मातृ पक्ष की ओर तीन पीढ़ी तक तथा पितृ पक्ष की ओर सात पीढ़ी तक विवाह विवर्जित था।

(द) सगोत्र विवाह—गोत्र से अभिप्राय है गोत्र ऋषि से उद्भूत वंशज से। प्रत्येक परिवार अपनी एक पैतृक सत्ता नियत करते हैं। इसे नियत करने में यह किसी न किसी ऋषि को अपना पूर्व पुरुष बताते हैं। एक पूर्व पुरुष वाले ऋषि की सन्तानों का जिन्हें हम सगोत्र की संज्ञा देते हैं परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए।

(य) सप्रवर विवाह—जैसे सगोत्र से अभिप्राय है समान ऋषि कुल परम्परा से उद्भूत परिवार से उसी प्रकार सप्रवर से अभिप्राय है ऐसे परिवारों से जिनका एक ही आदि पुरोहित हो। यहाँ आदि पुरोहित प्रवर ऋषि होते हैं। पुरातन काल में एक परिवार का एक पुरोहित ऋषि होता था जिसके माध्यम से ही परिवार के दूसरे लोग यज्ञ आदि में देवताओं को आमन्त्रित करते थे। इस प्रकार के समान ऋषि गुरु के परिवारों में जिसे प्रवर की संज्ञा दी जाती है विवाह के पूर्व मनाई थी।

(र) एक ही पति से दो-दो लड़की का विवाह—एक ही घर में दो-दो लड़की का विवाह तथा गालावट विवाह पूर्ण विवर्जित था।

यही उपर्युक्त मान्यताएँ विवाह के सम्बन्ध में मान ली गई हैं।

परित्याग अथवा तलाक

अंग्रेजी सभ्यता में जहाँ स्त्रियों और पुरुषों को तलाक की सुविधा दी गई है

वहीं भारतीय सभ्यता में भी तलाक की मान्यता अत्यन्त प्राचीन काल से ही है। पर भारत में नैतिकता का विचार कर एवं इस बंधन को पूर्ण धार्मिक मान कर इसका व्यावहारिक स्वरूप कभी प्रस्तुत नहीं किया गया। फिर भी हमें परित्याग के विभिन्न नियमों से परिचित होना आवश्यक है। निम्नांकित प्रकार की अवस्था में परित्याग की स्वीकृति दी गई है:—

(अ) मनु ने कहा है कि यदि पति नपुंसक हो तो पत्नी को अधिकार है कि वह उसे छोड़कर दूसरा विवाह करे।

(ब) पुनः अधिकांश धर्मशास्त्रकारों ने यह कहा है कि जब ब्राह्मणी का पति पाँच वर्ष तक घर से निरन्तर बाहर रहे, क्षत्राणी का तीन वर्ष तक बाहर रहे तथा वैश्य का दो वर्ष तक निरन्तर बाहर रहे तो पत्नी को अधिकार है कि उसके साथ अपने वैवाहिक सम्बन्ध को त्याग कर दूसरे के साथ यह सम्बन्ध कर ले।

(स) कौटिल्य ने मान्यता प्राप्त विवाह के अन्दर परित्याग के लिए बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है। इसमें सबसे बड़ा बंधन यह लगाया गया है कि जो इस प्रकार के विवाह से विवाहित हो वह अपनी पत्नी को उसके घर से प्राप्त धन लौटा कर तथा पत्नी अपने पति को उसके द्वारा दिए गए सामानों को लौटा कर परित्याग कर सकती है।

(द) उच्च परिवार एवं वर्णों में ब्राह्मण तथा बौद्ध ग्रंथों में परित्याग का कोई वर्णन नहीं मिलता। मनु ने तो यहाँ तक कहा कि यदि परस्पर विचारों में मेल न बैठता हो तो दोनों में से कोई भी एक दूसरे को छोड़ सकता है। पर पीछे इसे मान्यता नहीं दी गई। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से संन्यास की प्रवृत्ति समाज में जागृति हुई इसलिए परित्याग का कोई विशेष महत्व नहीं रह गया।

(य) वशिष्ठ के अनुसार यदि पुरुष या स्त्री दूसरे के साथ मैथुन कर ले तो उसे परित्याग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरे किसी भी प्रकार के पाप करने पर वह मासिक धर्म के बाद पवित्र हो जाती है।

(र) मनु के अनुसार स्त्री के किसी भी दोष पर उसका परित्याग किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि मनु ने सदा अति का सहारा लिया है जिसका कभी भी प्रायोगिक स्वरूप सम्भव नहीं हो सकता। फिर भी समाज में इसका प्रचलन बड़ा ही न्यून था और है।

अध्याय १०

शिक्षा व्यवस्था

हमारी वर्तमान शिक्षा की प्रगति इस द्रुत गति से यदि किसी भी कारण सम्भव हो सकी है तो अन्य बातों की अपेक्षा प्रेस को ही हम श्रेय दे सकते हैं क्योंकि विचारों का प्रसार इसी के द्वारा बड़ी शीघ्रता तथा सरलता से हो सका है। इसके साथ ही भारत में अंग्रेजी राज्य का इतिहास के अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि अंग्रेज गवर्नर जनरलों ने विभिन्न कारणों से समय-समय पर शिक्षा के लिए प्रपत्र चालू किये जिससे क्रमिक एवं व्यवस्थित शिक्षा का विकास हो सका। इसके थोड़े ही पहले अगर मुगलकालीन भारत पर दृष्टि डाली जाय तो यह ज्ञात होता है कि शिक्षा को न कोई क्रमिक व्यवस्था थी और न उसकी ओर लोगों का ध्यान ही गया था। मकतब और मन्दिरों में मुल्ला, काजी तथा पण्डित अव्यवस्थित रूप से शिक्षा का संचालन करते थे। इसलिए एक जिज्ञासु भारतीय के मन में तत्काल यह भावना उठती है कि जब छापाखानों का पूर्ण अभाव था तथा मुगल काल में इतने कम लोग शिक्षित थे एवं शिक्षा को कोई भी क्रमिक व्यवस्था नहीं थी तो उस सुदूर प्राचीन भारत में इसका क्या स्वरूप रहा होगा। इसीलिए शिक्षा व्यवस्था का अध्ययन अत्यन्त समाचीन है।

साधन—इस व्यवस्था के अध्ययन के लिए किसी भी समुचित साधन का पूर्ण अभाव है। पुरातन काल में मनीषियों ने इस पर कोई व्यवस्थित ग्रंथ नहीं लिखा। इसलिए धर्मसूत्र, स्मृति साहित्य का उपयोग हम विशेष रूप से करते हैं। इनमें यथा-स्थान प्रसंगवत इस व्यवस्था का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न नाट्य एवं कथा साहित्य के ग्रंथों में भी शिक्षा प्रणाली का वर्णन मिलता है। गुप्त काल और उसके बाद के बंगाल तथा मगध के अभिलेखों में भी इस प्रथा को कहीं-कहीं निदर्शित किया गया है। कुछ विदेशी यात्री जो शिक्षा प्राप्त करने अथवा भ्रमण के लिए भारत आए थे उनके विवरण भी अध्ययन में सहायता प्रदान करते हैं। बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए जिस व्यवस्थित शिक्षा योजना को स्वरूप दिया गया उसका **निर्देशन** बौद्ध साहित्य में मिलता है। इसी प्रकार छिट-पुट प्रमाणों को संकलित कर हम अपने ज्ञान को इस सम्बन्ध में व्यवस्थित कर सकते हैं।

महत्व—प्राचीन भारत में शिक्षा का महत्व बहुत अधिक था। विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में शिक्षा की महती गरिमा का उल्लेख किया गया है। सुभाषित रत्न सन्दोह में

ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र बताया गया है।[१] महाभारत में विद्या का स्थान किसी भी चीज से बहुत ऊँचा बताया गया है।[२] विद्या की तुलना भारतीय साहित्य में माता, पिता और स्त्री से की गई है। इन्हीं के समान यह कल्याणकारिणी है।[३] यही नहीं इसकी महत्ता यहाँ तक बताई गई कि इसी के द्वारा मनुष्य में मानवता का जागरण होता है।[४] इसी को मनुष्य में बल का स्रोत माना गया है[५] तथा यह भी कहा गया कि इसी से इहलोक तथा परलोक दोनों ही सुधरता है[६] एवं इसी से मुक्ति भी मिलती है।[७] इस प्रकार उपर्यूक्त वर्णन के पश्चात् यही निश्चय होता है कि विद्या का महत्व आज से कहीं ऊँचा प्राचीन भारत में स्वीकार किया गया था।

अर्थ—वर्तमान शिक्षा का जिस प्रकार दो अर्थ निश्चित करते हैं एक व्यापक अर्थ तथा दूसरा संकुचित अर्थ ठीक उसी प्रकार डा० अनन्त सदाशिव अल्टेकर ने भी शिक्षा का प्राचीन काल में दो अर्थ व्यापक एवं संकुचित स्वीकार किया है।[८] व्यापक अर्थ से उनका अभिप्राय शिक्षा में आत्म संशोधन एवं आत्मविकास की प्रवृत्ति से है तथा संकुचित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय शिक्षण अवधि में विद्यार्थी के प्रशिक्षण एवं निर्देश से है।

आदर्श—भारतीय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था धार्मिक भावना का जागरण। बालक का मस्तिष्क बड़ा लचीला होता है। जो भाव उसके मन में इस समय बैठा दिया जाता है वह चिरस्थायी बन जाता है। भारत में सब गुणों के सार का संकलन धर्म शब्द में अवगुण्ठित कर दिया गया है। इसीलिए धार्मिक भावना को ही भारतीय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बताया गया है। इसके लिए व्रत, प्रार्थना, त्योहार आदि पर बल दिया गया। इसके द्वारा बालक का आध्यात्मिक विकास सम्भव था। पर इसका यह अर्थ नहीं कि विद्यार्थी का एक मात्र कार्य था केवल धर्म की साधना करना।

भारत में शिक्षा का दूसरा आदर्श था चरित्र निर्माण करना। डा० अल्टेकर ने इस प्रवृति की तुलना लोक के विचार से किया है जो इस मत का पोषक है कि

---

१ ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं.........सुभाषितरत्नसन्दोह पृ० १९४।

२ नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।, महाभारत XII ३३९–६।

३ मातेव रक्षति पितेव हिते नियुंक्ते कान्तेव चापि रमयत्यद्धनीय खेदम्।

४ विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

५ बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।

६ विद्या तु वैदुष्यमुपार्जयन्ती जागर्ति लोकद्वय साधनाय॥

७ सा विद्या या विमुक्तये।

८ एडुकेशन इन एनशिएण्ट इण्डिया, अल्टेकर, पृ० ३।

केवल बौद्धिक विकास इतने महत्व का नहीं है जितना चारित्रिक विकास।[1] इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि वही शिक्षित है जो धार्मिक है।[2] उसके विकास के लिए ही गुरु के साथ बालक को समाज से दूर रखा जाता था। गुरु नित्य उपदेश देता रहता था। पाठ्य ग्रंथों में भी इसी प्रकार का विषय वर्णित होता था। समय-समय पर विद्यार्थियों को जो धार्मिक कार्य करना होता था उनका भी नियोजन इसी दृष्टि से होता था कि चरित्र विकसित हो सके। विद्यार्थियों को आदर्श चरित्र वाले व्यक्ति की ओर उकसाया जाता था जैसे राम, कृष्ण, सीता आदि।

व्यक्ति का विकास हमारे शिक्षा का सदा से एक महत्वपूर्ण आदर्श रहा है। यद्यपि व्यापक रूप से यह भ्रामक धारणा है कि पुरातन शिक्षा में भारतीयों के व्यक्तित्व के विकास का कोई स्थान नहीं था। पर यह धारणा अमान्य है क्योंकि ५०० ई० पू० तक प्रत्येक को व्यावसायिक स्वतन्त्रता थी उसके बाद पैत्रिक व्यवसाय को ही बल दिया जाने लगा। फिर भी मेधावी बालकों को उनकी रुचि के अनुसार व्यवसाय चुनने का अधिकार था। यहाँ प्रारम्भ से ही बालक में आत्माभिमान, आत्मविश्वास एवं आत्मनियंत्रण की भावना पर बल दिया जाता था। बालक को जो विद्याध्ययन कर चुका है समाज में आदर का स्थान प्रदान किया जाता था। उसे निष्ठा की दृष्टि से देखते थे। इसी से अभिमान जागृत होता था। बालक में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न करने के लिए शास्त्रार्थ की व्यवस्था थी जिसमें विषय पर आत्मबल के आधार पर तर्क प्रस्तुत करना पड़ता था। इस समय बालक को नियमित जीवन व्यतीत करना पड़ता था, वस्त्र में, भोजन में, जीवन यापन आदि में। यहीं से नियन्त्रण की भावना पर बल पड़ता है। इस प्रकार चरित्र और व्यक्तित्व दोनों का ही विकास शिक्षा का आदर्श बना गया।

न्याय की प्रवृत्ति को भी स्वतन्त्र रूप से विकसित करने पर बल दिया जाता था। विषय के पक्ष एवं विपक्ष से ही परिचित करा कर विद्यार्थी को छोड़ देते थे वहाँ विद्यार्थी स्वतः निर्णय करता था कि औचित्य क्या है।

समाज कल्याणकारी प्रवृत्ति पर बल देना शिक्षा का दूसरा और प्रमुख आदर्श था। बालक एक सामाजिक प्राणी है, उसे समाज में ही रहना पड़ता है, इसलिए उसमें जन कल्याण की प्रवृत्ति को जागृत करने पर बल दिया गया। इसके लिए शिक्षा में भिक्षाटन व्यवस्था[3] चलाई गई जिससे विद्यार्थी के मन में यह अनुभूति होती थी कि

१ एडूकेशन इन एन्शेन्ट इण्डिया—अल्टेकर, पृ १०।

२ धर्म ही यो वर्धयते स पण्डितः—महाभारत, ३२१,७८।

३ भिक्षाटन व्यवस्था—प्रत्येक गुरुकुल के विद्यार्थी को प्रातःकाल का अध्ययन समाप्त करने के बाद पड़ोस के गाँव में घूम कर भिक्षाटन करना पड़ता था। इसी भिक्षा से प्राप्त हुए अन्न को पका कर वह गुरु को भोजन कराता था तथा स्वयं भी भोजन करता था।

समाज का बहुत बड़ा ऋण हमारे ऊपर अध्ययन काल से ही पड़ा है। इससे उऋण होने के लिए समाज कल्याण की शिक्षा विभिन्न विषयों के साथ-साथ दी जाती थी। विभिन्न आवश्यक व्यवसायों का विधान भी ऐसा ही बना दिया गया था कि अधिक से अधिक सामाजिक कल्याण सम्भव हो सके। इस सम्बन्ध में वैद्य और योद्धा के व्यवसाय को हम ले सकते हैं जिनका आदर्श था व्यक्ति और देश की पुकार पर सदैव प्रस्तुत रहना।

संस्कृति का प्रसार शिक्षा का दूसरा महत्वपूर्ण आदर्श था। इस समय छापाखाने नहीं थे, अतएव शिक्षा कण्ठाग्र ही होती थी। इसलिए संस्कृति के मूलतत्वों को स्मरण कर संरक्षित करना तथा आगे आने वाली पीढ़ी को प्रदान करना जिससे शिक्षा की अनवरतता चलती रहे विद्यार्थी का कर्तव्य होता था। इसीलिए ऋणों का जहाँ विधान किया गया वहाँ ऋषि ऋण को एक प्रमुख ऋण माना गया और इससे उऋण होने के लिए ऋषि यज्ञ का विधान भी किया गया।

सिद्धान्त—शिक्षा का पहला सिद्धान्त था ज्ञान में विशिष्टता (स्पेशैलटी) प्रतिपादित करना। ज्ञान के संरक्षण का दूसरा उपाय छापाखानों का अभाव होने से सम्भव न हो सकने के कारण शिक्षा में विशेषज्ञता लाने का प्रयास किया गया जिससे परम्परा पूर्णता में बनी रहे। प्रत्येक विद्यार्थी को किसी एक ही विषय की उच्च शिक्षा एक समय दी जाती थी और वह भी सर्वांगीणता में जिससे परम्परा में उस विषय को सम्पूर्णतया जीवित रख सके।

आज जब स्वतंत्र भारत में भारतीय सरकार इस ओर आगे बढ़ रही है कि अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा दी जाय वहाँ उस सुदूर अतीत में निःशुल्क और प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य शिक्षा का विधान था। इसके लिए ऋषि ऋण बना और इससे उऋण होने के लिए अध्ययन को ही माध्यम बनाया गया। इसी प्रकार पितृ ऋण के सम्बन्ध में यह कहा गया कि बालक उत्पन्न करने से ही कोई इस ऋण से उऋण नहीं हो सकता जब तक उसकी शिक्षा की व्यवस्था नहीं करता। उपनयन संस्कार जो शिक्षा का प्रमुख संस्कार था आर्य परिवार के पुरुष और स्त्री के लिए अनिवार्य बना दिया गया। इसी प्रकार निःशुल्क के लिए भिक्षाटन की व्यवस्था, गुरुकुल व्यवस्था की गई, ब्राह्मणों का कर्तव्य ही अध्यापन बन गया तथा राज्य एवं समाज का कर्तव्य बताया गया कि अध्यापक एवं विद्यार्थी दोनों की सहायता करें।

ब्रह्मचर्य पालन शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त था। यह विचार तथा क्रिया दोनों से ही पालन करना चाहिए इसी पर सभी विचारकों ने बल दिया। विवाह और शिक्षा के इसी बिलगाव को बनाए रखने के लिए विवाह से दूसरे आश्रम का प्रारम्भ माना गया और शिक्षा अवधि का संकेत आश्रम से किया गया। इसीलिए विद्याध्ययन की अवधि को ब्रह्मचर्याश्रम की संज्ञा प्रदान की गई है।

पुरातन काल में विद्याध्ययन की अवधि की समाप्ति के साथ बालक का अध्ययन समाप्त नहीं होता था जैसा कि वर्तमान काल में होता है। इसीलिए यजुर्वेद में कहा गया है कि पढ़े हुए पाठ को भूलना जघन्य अपराध है।[1] अतएव समावर्तन समारोह के अवसर पर प्रत्येक स्नातक गुरु के सम्मुख आता था और अपनी अर्जित ज्ञान वृद्धि को उसके समक्ष रखता था। पुनः इसीलिए कहा गया है कि आजन्म अध्ययन करता ही ब्राह्मण का लक्षण है।[2]

सहयोग को ही शिक्षा का आधार नियत किया गया था। जितने भी विद्यार्थी थे वह एक कुल में रहते थे। उस कुल का प्रत्येक विद्यार्थी अपने नीचे वाले विद्यार्थी के लिए गुरु होता था, इसी से उस कुल को गुरुकुल की संज्ञा दी गई। पुनः परस्पर विमर्श, मिलजुलकर कार्य सहयोग की भावना को प्रदर्शित करता है।

बालक में उचित आदतों को डालना ही शिक्षा और शिक्षक का कार्य था। इस आदत का मूल लक्षण था 'सादा जीवन उच्च विचार।' इसको दृढ़ बनाने के लिए बालक के जीवन को एक नियमितता प्रदान की गई। उसे कठोर जीवन यापन करने के लिए योग्य बनाया गया यथा : जूता न पहनना, मांस न खाना, छाता न लगाना, तेल न लगाना आदि।

नियत समय से प्रत्येक बालक की शिक्षा आरम्भ की जाती थी। प्रत्येक वर्ण के लिए उसके मानसिक विकास के वातावरण को देखते हुए अलग-अलग समय निर्धारित किया गया। ५ वर्ष और ८ वर्ष क्रमशः इसके लिए उपयुक्त अवधि निर्धारित की गई।[3]

अध्यापक—हिन्दू धर्म ग्रंथ तथा बौद्ध एवं जैन धर्म ग्रंथ में समान रूप से अध्यापक के प्रति श्रद्धा का वर्णन है। इसका कारण यह है कि वेद के लिखने की मनाही थी, अतएव अध्यापक की सहायता से ही इसका ज्ञान समाज को प्राप्त होता था। इसी के निर्देशन के आधार पर आध्यात्मिक मुक्ति संभव थी। पुस्तकों के अभाव के कारण अध्यापक ही ज्ञान के वह सागर थे जहाँ से विद्यार्थी था। व्यवसाय में व्यावहारिक ज्ञान केवल अध्यापकों का सहायता से ही सम्भव था। निःशुल्क शिक्षा देने के कारण उसका आदर और भी अधिक होने लगा। इसी से उन्हें माता और पिता की कोटि में लिखा जाने लगा।

अध्यापक के प्रशिक्षण के लिए किसी अलग विद्यालय की व्यवस्था नहीं थी। शास्त्रार्थ की सहायता से विद्यार्थी को तार्किक बनाया जाता था। कभी विद्याध्ययन की अवधि में ही उच्च कक्षा के विद्यार्थी को छोटी कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाने के

---

१ यजुर्वेद; iii. २२८.।

२ यावज्जीवयं धीते विप्रः।

३ माता शत्रुः पिता वैरी बालो येन न पाठितः। सुभाषित।

लिए सौंप दिया जाता था। इसी प्रकार अनुकरण एवं व्यवहार से विद्यार्थी काल म हो अध्यापन के लिए मेधावी छात्रों को दक्ष बना दिया जाता था।

गुण के सम्बन्ध में अध्यापक को विनयी, विनम्र, निष्कक्ष, शान्त चित्त, नैष्ठिक ब्रह्मचारिन, विद्यापारंगत होना चाहिए। इसी के साथ वाकपटुता ,प्रत्युत उत्पन्न बुद्धि वाला, व्याख्याता तथा कथा प्रसंगों के माध्यम से व्याख्या करने में उसे कुशल होना चाहिए।[१] अध्यापक को आजन्म पढ़ना चाहिए जिससे ज्ञान का भण्डार बढ़ता रहे।[२] बालकों के चारित्रिक, मानसिक, बौद्धिक एवं कोमल प्रवृत्तियों को उसमें विकसित करने की क्षमता होनो चाहिए, अध्यापक को वड़ा ही स्पष्ट होना चाहिए। जो कुछ भी वह जानता है उसे अपने शिष्य को पढ़ा देना चाहिए कुछ छिपा कर नहीं रखना चाहिए।[३] ज्ञान के लिए उसमें सदा प्रतिस्पर्धा की भावना चाहिए जिससे सतत उसमें विकास होता रहे। इसी से मैत्रेय ने मौद्गल्य से पराजित होने पर अध्यापन का कार्य तब तक के लिए छोड़ दिया जब तक विशिष्ट ज्ञान न प्राप्त कर लिया।

शिष्य और अध्यापक का सम्बन्ध सदा पिता पुत्र का माना गया है।[४] इसीलिए अध्यापक को माता पिता के साथ रखकर अति गुरु की संज्ञा से सुशोभित किया गया है। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक विकास का दायित्व केवल अध्यापक पर ही रहता है। उसका कर्तव्य है बालक के आध्यात्मिक विकास के साथ चारित्रिक विकास पर बल देना। [गरीब विद्यार्थियों की सहायता करना, उचित की सलाह देना, भोजन एवं वस्त्र की व्यवस्था करना, बीमार पड़ने पर उसके उपचार की व्यवस्था करना, रहने की व्यवस्था करना आदि अध्यापक का कर्त्तव्य था।

अध्यापक को वेतन के रूप में कुछ नहीं मिलता था। विद्यार्थियों द्वारा शिक्षा समाप्त होने पर तथा त्योहार एवं उत्सवों पर गाँव वालों से दान-दक्षिणा के रूप में जो कुछ भी अध्यापक को मिलता था तथा धनी लोग अपने बालक के पढ़ाये जाने के उपलक्ष में विद्याध्ययन के अन्त में एक धनराशि देते थे वही अध्यापक की जीविका का सहारा था। परन्तु तत्पश्चात् राज्य की ओर से कुछ विशेष विद्यालय के अध्यापकों का वेतन नियत कर दिया गया। पर यह व्यवस्था दक्षिण भारत में ही हुई क्योंकि उत्तर भारत में अध्यापक भिक्षु होते थे जिन्हें सम्पति की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। पुनः अग्रहारा दान (ग्राम दान) की व्यवस्था चली जिसमें कुछ विद्यालयों को राज्य की ओर से भूमि दान दे दी जाती थी। उस ग्राम के निवासी

---

१ **महाभारत v, ३३,३३।**

२ **यावज्जीवमधीते विप्रः।**

३ **मिलिन्दपन्हा, १ पृ० १४२।**

४ **आपस्तम्ब धर्मसूत्र १, २, ८।**

अध्यापक एवं विद्यार्थी के लिए कुछ नियत वस्तुएँ प्रतिदिन देते थे। विभिन्न प्रकार के करों से अध्यापक मुक्त होता था।

शिष्य—द्विज अर्थात् शूद्रों को छोड़ कर शेष तीन वर्ण के लोग शिष्य हो सकते थे। शिष्य बनने के लिए उपनयन संस्कार प्रारम्भिक होता था। इस आश्रम को ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से पुकारते थे। शिक्षा प्रारम्भ करने की अवधि अलग-अलग वर्ष के लिए अलग थी। प्रारम्भ करने के कुछ दिन बाद प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने पर गुरु का शिष्यत्व ग्रहण करके गुरु के साथ ही परिवार से अलग होकर बालक रहता था। विद्यार्थी का कर्तव्य था कि वह अपने गुरु को माता, पिता, राजा, अग्नि, देवता आदि सबसे ऊँचा माने।[1] उसे अध्यापक के आदर्शों का पालन करना चाहिए। अध्यापक के प्रति उसे श्रद्धा रखना चाहिए। उसकी आज्ञाओं का समुचित आदर करना चाहिए। जहाँ कहीं अध्यापक के कार्यों में अनौचित्य का ज्ञान हो वहाँ उसे निर्देशित करना चाहिए। अध्यापक की व्यक्तिगत सेवा यथाः दातौन लाना, बरतन धोना, कपड़े साफ करना, सेवा करना, झाड़ू लगाना आदि विद्यार्थी को करना पड़ता था। पर सभी समय सेवा में ही व्यतीत करना नहीं होता था। जो अत्यन्त निर्धन विद्यार्थी होते थे वही दिन में ऐसा कार्य करते और रात को शिक्षा ग्रहण करते थे। पर साधारणतया सभी विद्यार्थी दिन में ही कुछ अवकाश काल में सेवा कार्य करते थे और फिर शिक्षा ग्रहण करते थे। अध्यापक के बीमार पड़ने पर सेवा-सुश्रूषा का विधान था।

अध्यापक शिक्षा के लिए ऐसे ही शिष्य को चुनता था जो मेधावी हों और पात्र हों। ऐसे ही विद्यार्थी भी अध्यापक के चरण में बैठते थे जो सुख्यात हो। विद्यार्थी अध्यापक के घर ठहरते, भोजन करते और शिक्षा ग्रहण करते थे जब कि अध्यापक के लिए उन्हें सेवा कार्य करना होता था। इसके बदले अध्यापक उनका निरीक्षण, उत्थान और शिक्षा का आयोजन करता था। जो विद्यार्थी अध्यापक को एक नियमित धन राशि देता था उससे सेवा की आशा अध्यापक नहीं करते थे। पर यह पारस्परिक सम्बन्ध केवल शिक्षा अवधि तक ही नहीं बना होता था अपितु उसके बाद भी प्रति वर्ष स्नातक समावर्तन समारोह के अवसर पर उपस्थित होते थे तथा गुरु के लिए दातौन तथा दक्षिणा जो भी उनके सामर्थ्य योग्य होता था लेकर आते थे। अध्यापक भी इसी प्रकार स्नातक शिष्य की सहायता के लिए सदैव प्रस्तुत रहता था।

अति प्रातः विद्यार्थी उठता था। गुरु को प्रणाम करके दैनिक क्रिया से निवृत्त होता था। फिर संध्या करता था तथा वेदपाठी वेद ध्वनि करते थे, पुनः अध्ययन में जुट जाते थे। इसमें सबसे पहले पिछले पाठ की आवृत्ति और पुनरावृत्ति करते थे

---

१ मनुस्मृति

उसके बाद उसे गुरु से सुनाते थे। फिर गुरु आगे का पाठ पढ़ा देते थे। इस प्रकार दोपहर तक यह क्रिया चलती रहती थी। विद्यार्थी दोपहर को पड़ोस में भिक्षाटन के लिए जाता था। भिक्षा का अन्न पकाता था, गुरु को भोजन कराकर स्वयं भोजन करता था और विश्राम करता था। अपराह्न में पुनः पढ़ते थे। संध्या को व्यायाम करते थे, अग्नि प्रज्वलित कर उसके पास बैठते थे तथा दिन के पढ़े हुए पाठ पर विचार विमर्श करते थे, फिर सो जाते थे। यही विद्यार्थी का दैनिक कार्यक्रम था।

विद्यार्थियों का जीवन प्राचीन काल में कठोर एवं नियन्त्रित होता था। उन्हें छाता लगाने, तेल लगाने, माला पहनने, मांस खाने, सुन्दर वस्त्रों के प्रयोग करने की पूर्ण मनाही थी। जूता नहीं पहन सकते थे, लड़कियों के साथ तालाब में स्नान नहीं कर सकते थे, एक बार ही स्नान कर सकते थे, सिर पर बाल नहीं रख सकते थे आदि। ब्रह्मचर्य धारण करना, वृद्धों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव रखना तथा नैतिक उत्थान उन्हें बनाए रखना पड़ता था। परन्तु कुछ विभिन्न परिस्थितियों में इसमें छूट भी थी, जैसे दलदल स्थानों पर चारपाई का प्रयोग, कुछ स्थानों पर सप्ताह में एक बार तेल लगाना, उत्सवों में मिठाई खाना, कठिन और भीषण ग्रीष्म में जूता और छाता का प्रयोग करना आदि।

शिक्षा संगठन—अतीत काल में नियमित, व्यवस्थित एवं क्रमिक शिक्षा संगठन का पूर्ण अभाव था। इसका कारण सम्भवतः यही था कि शिक्षा राज्य के कर्तव्य की बात नहीं थी, यह व्यक्तिगत और धार्मिक प्रयास थी। पर कुछ काल के पश्चात् राजाओं ने भी अपना कर्तव्य शिक्षा में योगदान देना समझा तभी से कुछ संगठन इस व्यवस्था में आया। फिर भी नियमितता एवं क्रमिकता का पूर्ण ह्रास हो रहा।

शिक्षा संस्थाओं में प्रारम्भिक पाठशालाओं का पूर्ण अभाव था। यह कार्य बालक तथा बालिका दोनों के ही लिए परिवार को करना पड़ता था। इसके बाद पहले तो बालक गुरु गृह भेज दिया जाता था जहाँ उसे यथेष्ट ज्ञान कराया जाता था। क्रमशः व्यक्तिगत अध्यापन (प्राइवेट टच्यूशन) का प्रसार हुआ तथा गुरुकुल के स्थान मठ और मन्दिर विद्यालयों ने लिया। तत्पश्चात् परिवार के बाद, व्यक्तिगत अध्यापकों द्वारा विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता था और उसके बाद मठ तथा मन्दिरों के साथ संलग्न पाठशालाओं में भेज दिए जाते थे। इसके साथ ही बौद्ध धर्म से सम्बन्धित स्थानों पर विशेष रूप से बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणी को शिक्षा देने के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। यह विश्वविद्यालय राजाओं द्वारा सहायता प्रदत्त थे तथा संरक्षित थे। इसी से सामान्य जनता को भी शिक्षा देते थे। इस प्रकार बौद्ध धर्मावलम्बियों ने शिक्षा में यत्किंचित् संगठन लाने का प्रयास किया।

परिवार को आज के भी शिक्षाशास्त्री शिक्षा की प्रौढ़ और प्रारम्भिक संस्था स्वीकार करते हैं। प्राचीन काल में बाल-शिक्षा के क्षेत्र में इनका विशेष हाथ था।

अक्षर ज्ञान, उच्चारण, प्रारम्भिक मन्त्रों को स्मरण करना, लिखने का साधारण ज्ञान तथा कुछ व्याकरण का ज्ञान परिवार से ही हो जाता था।

व्यक्तिगत अध्यापन में विशेष रूप से पुरोहित होते थे। विभिन्न वैदिक शाखा के पण्डित अपना अलग-अलग संगठन बनाते थे, जिन्हें शाखा, चरण परिषद् आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। यह व्यक्तिगत योयता के अनुसार शिक्षा देते थे। बालक इनके पास भेज दिए जाते थे परन्तु बालिकाओं की शिक्षा के लिए यह घर बुलाए जाते थे। संगठन का अर्थ यह नहीं था कि यह व्यवस्थित संस्था का रूप धारण कर लेते थे। परन्तु सदा इनका स्वरूप व्यक्तिगत इकाई का ही होता था। साधारणतया यह प्रत्येक स्थानों पर होते थे तथापि कभी-कभी जब किसी स्थान पर इस प्रकार के अध्यापकों की संख्या अधिक होती थी तो वह स्थान शिक्षा केन्द्र के रूप में विख्यात हो जाता था जैसे वाराणसी एवं तक्षशिला।

इसके बाद मठों का स्थान शिक्षा संस्था के रूप में आता है क्योंकि मन्दिरों का निर्माण मठों के पश्चात् हुआ। मठों में शिक्षा का समन्वय भगवान बुद्ध के उपदेशों को ग्राह्य बनाने के लिए ही किया गया परन्तु क्रमशः यहाँ से विभिन्न विषयों की शिक्षा की व्यवस्था की गई। शुरू में केवल बौद्ध धर्मावलम्बी भिक्षु एवं भिक्षुणी ही इसमें सम्मिलित हो सकते थे परन्तु समयानुसार सब के लिए इसका द्वार खोल दिया गया। कुछ बाद में किन्हीं स्थानों पर इनका स्वरूप बहुत अधिक संगठित कर दिया गया और उन्होंने विश्वविद्यालयों का स्वरूप धारण कर लिया।

मठों में शिक्षा व्यवस्था की देख मन्दिरों में भी वेद और वैदिक साहित्य की शिक्षा प्रत्येक हिन्दू के लिए की गई। मठ में शिक्षक के कार्य उसके अधिष्ठाता करते थे और मन्दिर में पुरोहित। भारतीय अभिलेखों में मन्दिर-विद्यालयों की चर्चा प्रचुरता से मिलती है। मन्दिर के संरक्षक का कार्य जिस संगठन के अधीन होता था उसी संगठन द्वारा इसकी शिक्षा संस्था का भी संचालन होता था। अध्यापकों की नियुक्ति, विषयों का निर्णय, विद्यार्थियों की संख्या का निश्चय यहीं निश्चित होता था। आन्तरिक समस्याओं के विषय में प्रधान पुरोहित ही जिम्मेदार होता था। विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था, भोजन तथा दूसरी आवश्यकताओं की व्यवस्था का दायित्व उन्हीं से संलग्न चिकित्सालय की स्थापना इन विद्यालयों में की जाती थी। इस प्रकार प्रधान आन्तरिक व्यवस्था पुरोहित करता था और वाह्य व्यवस्था समिति।

इसके बाद विश्वविद्यालयों का नाम लेते ही आदन्तपुरी, विक्रमशिला, नालन्दा आदि विश्वविद्यालयों का नाम स्मरण हो जाता है। इनकी व्यवस्था का अधिक दायित्व प्रमुख मठाधीश पर होता था जिसे भिक्षु की संज्ञा देते हैं। इसका चुनाव इसकी योग्यता के आधार पर संघ के सदस्यों द्वारा किया जाता था। इसकी सहायता के लिए दो प्रकार की समितियाँ होती थी, प्रशासकीय और व्यवस्थापिका

समिति प्रवेश, पाठ्य विषय, अध्यापकों आदि के सम्बन्ध में ध्यान रखती थी। परीक्षा, पुस्तकालय, तथा पुस्तक लेखन का भी कार्य इसी के अधीन था। प्रशासकीय समिति प्रशासन तथा आर्थिक संगठन के लिए उत्तरदायी होती थी। विद्यालय भवन, भोजन, वस्त्र, उपचार, निवास स्थान की व्यवस्था, धर्म प्रसार आदि का कार्य इसके अन्तर्गत होता था। आर्थिक व्यवस्था भी इसी से सम्बद्ध होती थी।

गुरुकुल तथा व्यक्तिगत अध्यापकों के लिए विशेष प्रकार के भवन की आवश्यकता नहीं थी। किसी भी स्थान पर साधारणतया गुरुगृह में ही शिक्षा प्राप्त कर लेते थे। मन्दिर तथा मठों के लिए भी अलग भवन की आवश्यकता नहीं होती थी क्योंकि मन्दिर और मठ के ही किसी एक भाग में इस प्रकार का विद्यालय चलता था। इन दोनों ही प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में विद्यार्थी के रहने के लिए अध्यापक का घर और मन्दिर तथा मठ में ही क्रमशः व्यवस्था थी। विश्वविद्यालयों में पुस्तकालय, सामूहिक सभाभवन, कक्षाएँ आदि होती थी। इस सम्बन्ध में हम नालन्दा विश्वविद्यालय को ले सकते हैं। इसमें तिनमंजिला पुस्तकालय जो एक अलग नगर की ही भाँति बना था ३०० छोटे-छोटे कमरे कक्षाओं का कार्य करते थे तथा आठ बड़े-बड़े सभा भवन होते थे। रहने के लिए कई मठ वने थे जिनमें प्रत्येक मठ में सामूहिक भोजन पकाने की व्यवस्था थी। प्रत्येक विद्यार्थी को एक पत्थर की पटिया और एक ताख दिया जाता था। किसी-किसी स्थान पर निःशुल्क वस्त्र, चिकित्सा आदि की व्यवस्था थी तथा दीपक जलाने के लिए तेल भी दिया जाता था। कुछ केन्द्रों पर विद्यार्थियों को एक नियमित द्रव्य दिया जाता था। बंगाल में पाल राजाओं के समय अग्रहरा दान की व्यवस्था थी, जिसके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

प्रवेश के लिए गुरुकुल में पात्रता का ध्यान रखा जाता था। पर विश्वविद्यालयों में इसके लिए प्रवेश परीक्षा देनी पड़ती थी। इसके लिए द्वार पण्डित नियुक्त होते थे जो कठिन प्रश्न पूछते थे और उचित उत्तर पाकर ही प्रवेश की अनुमति देते थे। मूर्खों को विद्या विरत होने की सलाह दी जाती थी। नालन्दा का प्रवेश एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इतने विद्वान द्वार पण्डित थे तथा कठिन प्रश्न पूछते थे कि दस में से केवल दो-तीन ही प्रवेश पा सकते थे।

कक्षाओं की आकृतियाँ छोटी होती थी। नालन्दा के विश्वविद्यालय में एक अध्यापक पर ९–१० छात्रों को ही प्रविष्ट करते थे। जातकों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि एक-एक ख्याति प्राप्त अध्यापक ५०० विद्यार्थी को पढ़ाते थे। पर यह संख्या उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि १९वीं शताब्दी में बंगाल में एक अध्यापक पर १०–२० विद्यार्थी होते थे।

ऊपर के विवरण से ही यह स्पष्ट हो गया होगा कि पढ़ाई दो समय होती थी--प्रातः एवं रात्रि। यदि विद्यार्थी दिन में श्रम करते थे और रात्रि को गुरु के चरण

में बैठ कर शिक्षा प्राप्त करते थे तथा सामान्य विद्यार्थी दिन में ही शिक्षा प्राप्त करते थे। जातकों में तक्षशिला का जो वर्णन मिलता है उसके आधार पर रात्रि पाठशाला के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[1] इस समय सामान्य विद्यार्थी धर्मचर्चा करते थे।[2] प्रायः प्रातः विद्यालय ही होता था जो प्रायः ७ बजे से प्रारम्भ होता था और ११ बजे तक चलता रहता था। पुनः दो बजे से विद्याध्ययन प्रारम्भ होता था जो २, ३ घंटे तक होता रहता था। स्मरण करने का कार्य प्रातःकाल किया जाता था तथा दोपहर के बाद नया पाठ पढ़ा जाता था।

पूर्व-ऐतिहासिक काल में जब ज्ञान का प्रसार इतना अधिक नहीं था तब साधारणतया ५–६ मास ही अध्ययन के लिए पर्याप्त होता था। अगस्त के लगभग यह सत्र प्रारम्भ होता था और फरवरी में समाप्त हो जाता था। इस समय वैदिक ऋचाएँ ही अध्ययन की मूल सामग्री होती थीं तथा इसके साथ व्याकरण, भाषा विज्ञान, खगोल, दर्शन, धर्मशास्त्र के विषय में थोड़ा बहुत ज्ञान करा दिया जाता था। पीछे जब ज्ञान का और प्रसार हुआ तो यह अवधि और बढ़ा दी गई। पर बीच में लम्बी छुट्टियों का विधान नहीं था क्योंकि बहुत दूर-दूर के विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे। इसलिए पढ़ाई समाप्त होने पर ही वह घर लौट सकता था। केवल साधारण छुट्टियाँ ही होती थीं। मास में अमावस्या, पूर्णिमा तथा दोनों पखों के बीच में होने से कुल मिला कर ४ छुट्टियाँ होती थीं। किसी अतिथि के आने पर, किसी घटना के घटित होने पर तथा विषय परिस्थिति यथा वर्षा, अत्यधिक गर्मी, अत्यधिक सर्दी में अनध्याय होता था पर विषय परिस्थितियों के अनध्याय में मौन अध्ययन चलता रहता था। इस प्रकार पीछे चल कर शिक्षा सत्र १० से १२ वर्ष तक चलता रहता था। पर जब विद्यार्थी विशेष दक्षता प्राप्त करना चाहता था तो उसे एक लम्बी अवधि तक अध्ययन करना पड़ता था। इस प्रकार के विद्यार्थियों को ३५ से ४० वर्ष तक अध्ययन करना होता था।

शिक्षा के साथ ही साथ भ्रमण का भी महत्व मानते थे। इसके द्वारा वर्तमान काल की तरह पहले भी व्यावहारिक ज्ञान की परिपक्वता में विश्वास करते थे। पर कुछ विद्यार्थी आजन्म शिक्षा प्राप्त करते थे इन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते थे।

आर्थिक सहयोग—राज्य और समाज दोनों ही शिक्षा में आर्थिक योगदान देते थे। समाज की प्राथमिकता इस सम्बन्ध में हम मान सकते हैं क्योंकि राज्यकीय सहयोग बहुत पीछे प्रारम्भ हुआ, पहले समाज का ही सहयोग इस ओर विशेषरूप से था। समाज में भी साधारण और धनी दोनों ही प्रकार के व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार

---

१ **जातक, सं० २५२।**

२ **अनध्यायो निशायामन्यत्र धर्मोपदेशात् शिष्येभ्यः। आप० धर्मसूत्र, ३२–१२।**

सहायता प्रदान करते थे। इसी प्रकार राज्य भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही रीतियों से सहयोग प्रदान करता था।

सामान्य जनता भिक्षाटन के समय विद्यार्थियों को शिक्षा देकर इन्हें उपकृत करती थी। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में यथा विवाह, श्राद्ध आदि के अवसर पर ग्राम वाले विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को भोजन कराते थे तथा कुछ दान के रूप में भी प्रदान करते थे। यह दान एवं भोजन प्रायः ही मिलता रहता था। संस्कारों के अवसर पर भी इसी प्रकार दान आदि की व्यवस्था की जाती थी। धनी वर्ग कभी-कभी अपने ओर से ही विद्यालय चलवाते थे। कभी अध्यापकों को अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए नियुक्त करते थे तो ग्रामीणों को यह सुविधा प्रदान करते थे कि वह भी अपने बालक भेज सकें। कभी-कभी एक बड़ी रकम अनुदान रूप में धनी परिवार इसलिए दे दिया करता था कि पुस्तकालय के लिए पुस्तकों की व्यवस्था की जा सके तथा अधिक लेखक बैठाकर एक ही पुस्तक की कई प्रतियाँ भी तैयार कराई जा सकें। कुछ लोग एक नियत धन निकाल देते थे जिससे निर्धन विद्यार्थियों को भोजन के लिए व्यवस्था की जा सके। नारायण नामक राष्ट्रकूट राजा की तरह कभी-कभी धनवान् व्यक्ति विद्यालय भवन भी बनवा देते थे। अग्रहारा भूमि भी बंगाल में धनी व्यक्तियों द्वारा शिक्षा संस्थाओं को अनुदान के लिए दे दी जाती थी। कभी-कभी श्रेणियाँ और और ग्राम सभाएँ भी इसी प्रकार का अनुदान देती थीं।

क्रमशः सरकार का भी इसमें सहयोग होने लगा। कभी-कभी विद्यालय का भवन बनाना, विद्यार्थियों के भोजन की व्यवस्था करना, अध्यापकों के जीविकोपार्जन की व्यवस्था करना, रहने आदि की व्यवस्था करना आदि कार्य भी सरकार स्वयं अपने ऊपर ले लेती थी। इसका स्पष्ट ज्ञान नालन्दा विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में गुप्त एवं पाल राजाओं के इतिहास से होता है। दानपत्रों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा भूमि का अनुदान शिक्षा संस्थाओं के विकास के लिए सदैव देता था। कभी-कभी इस प्रकार का अनुदान विद्वान ब्राह्मणों को दिया जाता था और कभी विद्यालय को। पर इसके साथ ही परोक्ष रूप से भी कर मुक्ति, योग्यता दान, बड़ी रकम पुरस्कार रूप में देकर, राजकीय एवं प्रशासकीय क्षेत्रों में नियुक्तियाँ करके, शिक्षा संस्थाओं और शिक्षित वर्ग को दिया जाता था। पर सबसे बड़ी विशेषता इस प्रकार के अनुदान के साथ यह थी कि जहाँ विश्व की अन्य सभ्यताओं में अनुदान के साथ प्रतिबन्ध लगा दिया जाता था वहाँ भारत में शिक्षा संस्थाएँ पूर्ण स्वतन्त्र थीं।

विद्यार्थी भी अध्ययन काल में एवं स्नातक काल में किसी न किसी प्रकार इसकी आर्थिक व्यवस्था में योगदान देते थे। व्यक्तिगत अध्यापकों को स्वयं अभिभावक ही बड़ी सहायता देते थे। सब के अन्त में अभिभावक अपनी अपनी योग्यता के अनुसार गुरुदक्षिणा देते थे। धनी अविभावक एक साथ ही एक धनराशि देते थे पर निर्धन

अभिभावक अलग-अलग टुकड़ों में धनराशि देते थे। जो अत्यन्त निर्धन विद्यार्थी होते थे वह सुश्रूषा करके ही शिक्षा प्राप्त करते थे। कभी-कभी विद्यार्थी अपना अध्ययन समाप्त कर चुकने पर अपने गुरु के लिए गुरु दक्षिणा एकत्रित करते थे। स्नातक हो चुकने पर प्रति वर्ष समावर्तन समारोह के अवसर पर उसे गुरु के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता था तथा और योग्यता के अनुसार दक्षिणा देनी पड़ती थी। इस प्रकार विद्यार्थियों का भी योगदान शिक्षा के क्षेत्र में समाज और राज्य की अपेक्षा कुछ कम नहीं माना जा सकता।

शिक्षा केन्द्र

ऊपर हमने व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह निर्देशित किया है कि मठ और मन्दिर विद्यालय के साथ-साथ नगर विद्यालय किया है कि मठ और मन्दिर विद्यालय के साथ-साथ नगर विद्यालय, गुरुकुल तथा विश्वविद्यालय आदि विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ थीं। इस सम्बन्ध में नगर विद्यालयों में तक्ष-शिला को लेते हैं।

(१) तक्षशिला—[1]रामायण के अनुसार भारत ने इसकी स्थापना किया तथा अपने पुत्र तक्ष के आधार पर इसका नामकरण तक्षशिला कर दिया। राजनीतिक दृष्टि से इस स्थान का बहुत महत्व रहा। भारत की पश्चिमी सीमा पर स्थित रावलपिण्डी से २० मील की दूरी पर बसा हुआ यह स्थान कुषाण राजा कनिष्क का शासन केन्द्र था तथा सदा विदेशियों से आक्रान्त होता रहा। परन्तु इसका महत्व राजनीतिक दृष्टि से इतना अधिक नहीं है जितना शिक्षा की दृष्टि से। इसके महत्व का क़ारण यह था कि यूनानी, ईरानी आक्रमणों के कारण कनिष्क के बहुत पहले यह स्थान जहाँ भारतीय आध्यात्मिक एवं भौतिक ज्ञान का भंडार था वही विदेशी प्रभाव के कारण दोनों ही स्थानों के विचारों का समन्वय प्रस्तुत कर सका। भारतीय ब्राह्मी लिपि के साथ विदेशी खरोष्टी लिपि का भी प्रचलन यहाँ हुआ। इसके अतिरिक्त यूनानी, इरानी आदि भाषाएँ, वहाँ की कला, वहाँ के विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन यहाँ के विद्वानों ने किया। इससे पश्चिमी भारत में ही नहीं पर पूरे भारत में यह एक ख्याति प्राप्त केन्द्र शिक्षा की दृष्टि से बन सका। यद्यपि इसकी ख्याति कला में कोई कम नहीं है पर वह केवल कुषाण काल तक ही सीमित रही जब की शिक्षा सम्बन्धी ख्याति सातवीं शताब्दी ई० पू० से लेकर ५वीं शताब्दी तक बनी रही।

साधारणतया तक्षशिला विश्वविद्यालय के नाम से इसे हम संबोधित करते हैं पर यह प्रयोग भ्रामक है। विश्वविद्यालय का अर्थ होता है उच्चतम शिक्षा की वह संस्था जिसका एक अपना भवन हो, एक व्यवस्था हो, प्रशासन हो आदि। पर तक्षशिला में न इस प्रकार का भवन था, न व्यवस्था थी और न कोई शासन प्रथा। परन्तु वहाँ

१ रामायण, VII, १०१, १०–६।

उच्च शिक्षा के लिए अध्यापक थे जो काशी की तरह अलग-अलग घरों में रहते थे और व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे। इसी प्रकार पूरा नगर गुरुओं से भरा था। इसलिए इसे विश्वविद्यालय के स्थान नगर विद्यालय ही कहना श्रेयस्कर है।

यहाँ वेद, व्याकरण, दर्शन, विदेशी कला आदि की शिक्षा दी जाती थी। विशेषरूप से यह स्थान व्यावसायिक शिक्षा के लिए पूर्ण ख्याति प्राप्त था जिनमें विविध प्रकार के व्यवसाय तथा चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। ने जीवन जो महान वैद्य था यहीं शिक्षा प्राप्त की थी।

अध्यापक जैसा ऊपर निर्देशित किया गया है अपने घरों में रहकर शिक्षा देते थे। विद्यार्थी भी उन्हीं के साथ रहते थे। जिन विद्यार्थियों को एक से अधिक विषय में शिक्षा प्राप्त करना होता था वह किसी एक विषय के अध्यापक के साथ रहते हुए भी दूसरे विषयों के अध्यापकों के घर जाकर दूसरे विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। केवल धनी विद्यार्थी ही अपना निजी मकान लेकर रहते थे।

इस शिक्षा केन्द्र की ख्याति इतनी फैली थी कि बहुत दूर दूर से लोग यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। कौटिल्य, प्रेसेनजित, जीवक आदि यहीं के विद्यार्थी थे। मगध, कोशल और काशी आदि स्थानों से यहाँ पढ़ने के लिए विद्यार्थी आते थे।[१]

(२) **नालन्दा**—नालन्दा नामकरण के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यहाँ कमलनालों की अधिकता थी, इसी से इसे नालन्दा कहा गया। दूसरे विद्वान यह व्याख्या करते हैं कि 'न अलं ददाति इति स नालन्दा' (जहाँ किसी भी समय अध्ययन को विश्राम न मिले)। चाहे जिस किसी भी कारण को हम मान्यता प्रदान करें इनका कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि कोई ऐसा सुनिश्चित आधार प्राप्य नहीं जिस पर हम कोई मत निश्चित कर सकें।

भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित यह स्थान अतिशीघ्र एक ख्याति प्राप्त शिक्षा केन्द्र बन सका। इसे शिक्षा केन्द्र का स्वरूप देने का प्रयास दानी गुप्त राजा कुमारगुप्त प्रथम ने किया। इसके बाद विभिन्न गुप्त राजाओं ने इसमें योगदान दिया। पालकाल में इसकी ख्याति और फैल गई और यह एक महान शिक्षा केन्द्र बन गया। पर इसके बाद होने वाले मुसलमानी आक्रमणों के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति के विभिन्न केन्द्र विनष्ट हो गए। इसी परिवार का एक वंशज जो खिलजी वंश के नाम से विख्यात है उसके शासक बख्तियार खिल्जी ने इस विद्यालय की गरिमा को भूमिसात कर दिया।

पुरातत्व विभाग के उत्खनन तथा बौद्ध ग्रंथों में प्राप्त विवरणों को, जो इससे सम्बन्धित हैं, मिलाकर नालन्दा के भवनों के सम्बन्ध में तथा यहाँ की शिक्षा के विभिन्न व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में कुछ सीमा तक व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। विदेशी विवरण भी इसमें सहायक हैं।

१ इस सम्बन्ध में अत्यधिक ज्ञान जातक कथाओं से मिलता है।

उत्खनन के आधार पर इस विश्वविद्यालय का क्षेत्रफल १ मील लम्बा और आधा मील चौड़ा प्रतीत होता है। इसके चारों ओर एक चाहारदीवारी थी[1] और बीच में विभिन्न राजाओं द्वारा निर्मित कराया हुआ विहार। इसके भवनों को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। कुछ भवन ऐसे हैं जो विद्यार्थियों के आवास के लिए बने थे। दूसरे प्रकार के भवन विद्याध्ययन के लिए बनाए गए थे। तीसरे प्रकार के भवन पुस्तकालय के लिए बने थे तथा चौथे प्रकार के भवन धार्मिक भवनों की श्रेणी में परिगणित किए जा सकते हैं।

विद्यालय का भवन जिसे और स्पष्ट रूप से विद्याध्ययन का भवन हम कह सकते हैं इसके ३०० छोटे-छोटे कमरे थे जहाँ विद्यार्थी अपने गुरुओं के चरणों में बैठ कर शिक्षा प्राप्त करते थे तथा सात बड़े-बड़े सभा भवनों का निर्माण किया गया था जहाँ समय-समय पर सामूहिक रूप से शिक्षा और अध्ययन सम्बन्धी विषयों पर विचार विमर्ष एवं व्याखानों का आयोजन होता था क्योंकि विश्व के विभिन्न क्षेत्रों के विषयों के उदभट्ट विद्वान यहाँ अपनी समस्याएँ समाधान करने के लिए आते थे।[2] यह निर्माण विद्यालय के मध्य के मठ का है। इसी प्रकार एक क्रम में कई मठ बने थे जिनमें इसी प्रकार की व्यवस्था थी। यह भवन कई मंजिल होते थे तथा इतने ऊँचे कि इनका शिखर गगन को चूमता था।[3] यहाँ मठों के पड़ोस में सुन्दर तालाब कमल फूलों से सुशोभित हो रहे थे।[4]

यहाँ लगभग १० हजार विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे तथा एक हजार अध्यापक शिक्षा देते थे। इस प्रकार एक-एक अध्यापक पर १० विद्यार्थी होते थे। इन विद्यार्थिओं के निवास के लिए भी उसी प्राचीर के अन्दर मठ बने थे। अभी तक उत्खनन के द्वारा तेरह मठ प्राप्त हो सके हैं। इन मठों में रहने के लिए छोटे-छोटे कमरे बने थे। इन कमरों में दो विद्यार्थी रहते थे। प्रत्येक के रहने के लिए एक पत्थर की पट्टिया, एक ताखा मिलता था। इसी मठ के प्रांगण में एक कुंआ होता था तथा भोजन पकाने के लिए रसोईघर। इस रसोईघर में सामूहिक रूप से भोजन बनता था। इसका खर्च उन २०० ग्रामों की वसूली से होता था जो राज्य की ओर से विश्वविद्यालय को मिले थे।

---

१ लाइफ आफ ह्वेनसांग—बील, पृ० १०९।
ह्वेनसांग, वाटर्स, भाग २, पृ० १६४–७१।
२ एजूकेशन इन एन्शेण्ट इण्डिया, अल्टेकर, पृ० ११७।
३ यस्याम्बुधरावलेहिशिखरश्रेणीविहरावली, मालेवोर्ध्वविराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवः।। इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २०, पृ० ४३।
४ लाइफ आफ ह्वेनसांग—बील, पृ० १०९।

यहाँ प्रवेश के लिए प्रत्येक संघाराम में एक 'द्वार पण्डित' होता था। यह विभिन्न विषयों का पारंगत विद्वान होता था और प्रवेश के समय विद्यार्थी से बड़ा ही कठिन प्रश्न पूछता था। उत्तर देने के बाद ही संघाराम में प्रवेश कर सकता था। यहाँ वेद, व्याकरण, धर्मशास्त्र, वेदांग आदि १४ विषयों की शिक्षा की यहाँ व्यवस्था थी। इससे अधिक महत्वपूर्ण था यहाँ के शिक्षाक्रम में बौद्ध दर्शन, धर्म आदि। इसके साथ व्यावसायिक शिक्षा भी यहाँ दी जाती थी यथा निदान, व्यापार, आदि।

पुस्तकालय की यहाँ विशेष सुविधा थी क्योंकि गुप्त अभिलेखों और दान पत्रों से ज्ञात होता है कि राजा पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैय्यार कराने के लिए तथा नवीन पुस्तकों की रचना करने एवं दूसरी भाषा के पुस्तकों के अनुवाद के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। इसी से खुदाई के पश्चात् यहाँ तीन मंजिल का एक पुस्तकालय मिला है। यह जिस प्रांगण में था उसे 'धर्मगंज' की संज्ञा देते है[1] तथा तीनों मञ्जिलों को क्रम से : रत्नसागर, रत्नोदधि एवं रक्तरञ्जक की संज्ञा देते हैं।[2]

इस विश्वविद्यालय के प्रबन्ध को दो खण्डों में विभाजित किया गया था आन्तरिक एवं वाह्य। इन दोनों ही कार्यों के लिए दो सभाएँ बनाई जाती थी। इन सभाओं के ऊपर का अधिकारी मठाधीश था। यही कुलपति होता था। यह विद्वता के आधार पर नियुक्त किया जाता था।

(३) **काशी**—वैदिक काल में काशी की ख्याति बिलकुल नहीं थी। परन्तु उपनिषदों के रचना काल से ही काशी की ख्याति बढ़ गई। यह ७वीं शताब्दी ई० पू० से भारतीय धर्म, संस्कृति एवं शिक्षा का ख्याति प्राप्त केन्द्र हो गया। यह केन्द्र मुसलमानी आक्रमणों से प्रभावित नहीं हुआ क्योंकि बौद्ध काल में यह बौद्ध कालीन शिक्षा केन्द्र के रूप में बना रहा, हिन्दू काल के पुनरोत्थान के समय संस्कृत साहित्य एवं शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। जब मुसलमानी आक्रमण भारत पर हुआ और उनकी संस्कृति का प्रसार होने लगा तब भी संस्कृत साहित्य इसके प्रांगण में जीवित रहा। इसी का परिणाम है आज भी काशी संस्कृत साहित्य का एक प्रमुख केन्द्र माना जाता है।

बौद्ध धर्म के विकास के समान काशी इस धर्म का एक प्रमुख केन्द्र बन गया क्योंकि भगवान बुद्ध ने सारनाथ में सर्वप्रथम अपने ज्ञान के सम्बन्ध में भाषण दिया था। अशोक के समय यहाँ मठ स्थापित कराया गया। ह्वेनसांग ने एक बड़ी संख्या में मठों का यहाँ वर्णन किया है। यद्यपि इसके शैक्षणिक प्रगति का कोई भी

---

१ इत्सिंग, पृ० १।

२ विद्याभूषण कृत हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० ५१६।

ज्ञान हमें ह्वेनसांग से नहीं मिलता फिर भी डा० अल्टेकर ने यह अनुमान किया है कि १२ वीं शताब्दी तक यह अवश्य ही शिक्षा का केन्द्र रहा होगा।[१]

भविष्य पुराण में इसके हिन्दू शिक्षा के विख्यात केन्द्र का विवरण मिलता है।[२] यहाँ नालन्दा की तरह किसी व्यवस्थित शिक्षा संस्था का जन्म नहीं हुआ पर तक्षशिला की तरह यह भी एक नगर विद्यालय था जहाँ पण्डित अपने-अपने घरों में स्वाध्याय करते थे तथा उनके साथ रहने वाले शिष्य संस्कृत साहित्य के अक्षुण भण्डार की शिक्षा भी पाते थे। गहड़वाल राजाओं के दानपत्रों से यह ज्ञात होता है कि संस्कृत साहित्य की शिक्षा को प्रोत्साहन के लिए यहाँ के पण्डितों को अनुदान मिलता रहा। परन्तु पश्चिमी भारत के विद्वान मुसलमानी आक्रमणों से आतंकित होकर काशी में तथा दक्षिणी भारत में त्राण पाने के लिए करने लगे। इस प्रकार मुसलमान काल में संस्कृत का प्रमुख केन्द्र काशी था। यहाँ वेद, वेदांग, दर्शन, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि की शिक्षा हो जाती थी।

इसीलिए बर्नियर ने लिखा है कि काशी एक विश्वविद्यालय था पर आधुनिक विश्वविद्यालयों की तरह भवन, शासन आदि का पूर्ण अभाव था।[३]

(४) **अन्य शिक्षण संस्थाएँ**---वल्लभीविक्रमशिला इन प्रमुख शिक्षण संस्थाओं के साथ ही कुछ छोटी-छोटी और भी शिक्षण संस्थाएँ उस समय चल रही थीं। इस सम्बन्ध में बल्लभी का नाम प्रमुख है। यह काठियावाढ़ में स्थित था। इसका विकास अति शीघ्र हुआ इसका कारण यह था कि यह स्थान व्यापार के केन्द्र होने से धनधान्य से परिपूर्ण था। अतएव यहाँ की शिक्षण विद्यानुसंस्था को प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहयोग मिला। इसके साथ ही यहाँ के एक राजा रागी एवं दानी थे। इन्होंने भी इसमें सहायता प्रदान किया। यहाँ शंका समाधान करने के लिए भारत के विभिन्न भागों से एकत्रित होते रहते थे। यहाँ के स्नातक प्रशासकीय पदों पर नियुक्त किए जाते थे। गुणमती एवं स्थिरमती नामक बौद्ध विद्वानों की शिक्षा दीक्षा यहीं हुई थी।

इसी प्रकार का एक दूसरा विश्वविद्यालय विहार प्रान्त के भागलपुर जनपद से २४ मील पूरब स्थित था। इसे विक्रमशिला विश्वविद्यालय के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यहाँ तिब्बत के विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए आते थे। अतएव उनके आवास के लिए एक अतिथि गृह बना था।[४] यहाँ एक विशाल पुस्तकालय था जो मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा विनष्ट कर दिया गया। यहाँ ३,००० विद्यार्थी

१ **एडूकेशन इन एमशेण्ट इण्डिया, अल्टेकर, पृ० ११४।**
२ **भविष्यपुराण---ब्रह्मखण्ड, पाठ ५१, २,३।**
३ **ट्रैवेल्स इन इण्डिया, बर्नियर, पृ० ३४१।**
४ **इण्डियन पण्डित्स इन दी लैण्ड ऑव स्नो---दास, पृ० ५८।**

शिक्षा प्राप्त करते थे। यहाँ भी 'द्वार पण्डितों' को नियुक्त किया गया था जो प्रवेश की अनुमति देते थे। व्यवस्था के लिए एक सभा का आयोजन किया गया था जिसका प्रमुख मठाधीश होता था। तन्त्र, मन्त्र, दर्शन, व्याकरण आदि की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ शिक्षा के अन्त में परीक्षा होती थी तथा पालवंशीय शासकों द्वारा प्रमाणपत्र दिया जाता था।

(५) **गुरुकुल**—साधारणतया विद्यार्थियों के पाँच लक्षण काकचेष्टा, बकोध्यान, स्वाननिद्रा, अल्पहारी और गृहत्यागी बताए जाते हैं।[1] यह पाँचों गुण विद्यार्थी घर रह कर अर्जित नहीं कर सकता, इसलिए घर से बाहर उसे भेजना चाहिए। पुरातन काल में मनीषी, विद्वान जंगलों में रहते थे अलग-अलग स्थानों पर। ऋषि ऋण से उऋण होने के लिए शिक्षा दिया करते थे। इसी से उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को उनके पास भेज दिया जाता था। एक-एक ऋषि के आश्रम में बहुत से बालक इस प्रकार विद्यार्थी होकर रहते थे, अतएव गुरु के लिए यह सम्भव न था कि प्रत्येक विद्यार्थी को पाठ पढ़ा चुकने के बाद सदा व्यक्तिगत रूप से उसके साथ बने रहें। इसलिए पुराने विद्यार्थियों को नए विद्यार्थी अपना गुरु ही मानकर उनसे बहुत कुछ सीखते रहते थे। कभी-कभी गुरु जी पुराने विद्यार्थी को नवीन विद्यार्थियों के पढ़ाने का आदेश भी देते थे। चूंकि गुरु जी का पूरा विद्यार्थी परिवार क्रम से एक दूसरे के लिए गुरु था इसलिए गुरु जी के कुल को जिसमें प्रत्येक विद्यार्थी किसी न किसी प्रकार गुरु था गुरुकुल कहा गया।

गुरुकुल से यह अभिप्राय नहीं कि यह नगर से बहुत दूर जंगल के बीच होता था। परन्तु कभी-कभी नगर में अथवा उसके समीप जो कोलाहल से दूर हो तथा जहाँ शान्त वातावरण हो स्थापित किया जाता था। इसके निवासी विद्यार्थी 'अन्तेवासिन' अर्थात् आचार्यकुलवासिन कहलाते थे।

यहाँ विद्यार्थियों का जीवन, उनका व्यवहार, अध्यापक तथा विद्यार्थियों के कर्तव्य, पाठ्यविषय, पाठन प्रणाली, दैनिक दिनचर्या, कक्षा आदि के सम्बन्ध में में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। यह समान रूप से विद्यालय और गुरुकुल दोनों में पाला जाता था।

उच्चशिक्षा व्यवस्था

पाठ्य-विषय—वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में विषयों की संख्या बड़ी ही कम थी। वैदिक काल में प्रमुख रूप से वेद का अध्ययन होता था। पर इसके साथ ही व्याकरण, ज्यामित, खगोल आदि की शिक्षा दी जाती थी। वैदिक ऋचाओं को कण्ठस्थ कराया जाता था। उनकी व्याख्या बताई जाती थी तथा उनके गुणों का विश्लेषण किया जाता था। परन्तु जो पुरोहित थे उन्हें संस्कार के मन्त्र भली

१ इन्डियन पंडित्स इन दी लैंड आँव स्नो, दास, पृ० ५८।

प्रकार कण्ठस्थ करा दिये जाते थे साथ ही जो योद्धा आदि थे उन्हें धर्म की ऋचाएँ कण्ठस्थ करा दी जाती थी। इनके लिए समझाने का प्रयास किया जाता था।

उत्तर वैदिक काल में चारों वेद, ज्यामित, ज्योतिष, व्याकरण, शब्दशास्त्र, आदि की शिक्षा दी जाती थी। इस समय ऋचाओं और मन्त्रों को कण्ठस्थ कराने पर ही विशेष वल दिया जाता था। पर इन्हें अक्षरशः याद करना पड़ता था।

उपनिषद काल में वेद, वेदांगों का पूर्ण विकसित स्वरूप व्यक्त हो चुका था। ज्योतिष, व्याकरण, छन्द आदि विभिन्न साहित्यिक अंगों का प्रणयन शास्त्र के समान हो चुका था। इसे सटीक स्मरण करना ही इनके लिए समीचीन था। इसके लिए वैदिक ऋचाओं को विभिन्न रीति में वाँट कर स्मरण किया जाता था। इन रीतियों को पाठ कहते थे—पद पाठ, कर्म पाठ, जटा पाठ और घन पाठ। इस प्रकार यान्त्रिक रीति से स्मरण पर ही अत्यधिक वल दिया जाता था। इसके अतिरिक्त दर्शन, चिकित्सा, व्याकरण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, शब्दशास्त्र, महाकाव्य, कला आदि के सम्बन्ध में भी शिक्षा प्राप्त करते थे। इस समय के स्नातक केवल सैद्धान्तिक ज्ञान ही नहीं प्राप्त करते थे परन्तु इसके साथ ही साथ विभिन्न जीविकोपार्जन के व्यापारों में व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करते थे।

इसके बाद स्मृति, निवन्ध और पुराणों का युग आता है। इस समय पाठ्य विषयों का स्वरूप और अधिक विस्तृत हो गया। ऋचाओं के साथ उनकी व्याख्या पर बल दिया गया। इसलिए बहुत से विद्वान इस समय वैदिक साहित्य की व्याख्या पर बल देने लगे। दर्शन की प्रगति इस समय विशेष रूप से हुई। व्याकरण के अध्ययन पर वल दिया जाने लगा। व्याकरण जानने वालों के प्रति लोगों के मन में श्रद्धा की भावना का जागरण हुआ। भविष्यवाणियों में लोगों का विश्वास बढ़ने लगा, इससे खगोल ज्योतिष का भी अध्ययन प्रारम्भ हुआ। यह समय था जब भारत में गुप्त शासक शासन कर रहे थे। अतएव संस्कृत साहित्य के विकास पर अधिक वल दिया गया। इस समय साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में विशेष योग्यता प्राप्त करने का प्रयास विद्वत समाज करने लगा। विभिन्न विषय यथा तर्क, दर्शन, काव्य, ज्योतिष एवं गणित के लिए भी संस्कृत को ही माध्यमस्वरूप अपनाया गया। पुराणों का भी संकलन इस समय हुआ। इसलिए नवीन हिन्दू धर्म के इस स्रोत का भी अध्ययन किया जाने लगा। साहित्य में जो विशेष योग्यता प्राप्त करते थे वह कालिदास, बाण आदि कवियों की कृतियाँ, काव्यशास्त्र, शैली आदि का तो अध्ययन करते थे ही साथ ही महाकाव्यों और परम्परागत कहानियों पर वल दिया जाता था। इसी प्रकार दर्शन में विशेष दक्षता प्राप्त करने वाले विद्यार्थी को भाषा और व्याकरण का सामान्य ज्ञान करा कर तर्क और दर्शन के विविध स्वरूपों से परिचित कराया जाता था, उनके गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया जाता था तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता था।

पुस्तकों की स्वीकृति बहुत छानवीन के बाद एक विद्वत सभा करती थी। इन्हीं मान्यता प्राप्त पुस्तकों की प्रतियाँ लिखवाई जाती थीं जिसे विद्यार्थी खरीद कर पढ़ते थे।

पाठन प्रणाली—पहले भारत में लिखने की कला का ज्ञान नहीं था। पर यह धारणा अब डा० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने गलत सिद्ध कर दी है।[1] फिर भी अतीत में, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि, इसका ज्ञान बहुत सीमित था। इसीलिए वैदिक साहित्य को कण्ठस्थ ही करते थे। यही कारण है कि वेदों को श्रुति कहते हैं तथा वैदिक विद्यालयों में मौखिक पाठों का ही प्रयोग करते थे। अध्यापक एक-एक विद्यार्थी को वैदिक ऋचाओं को खण्ड-खण्ड करके सुनाता था और पुनरावृत्ति के द्वारा विद्यार्थी उसे आत्मसात कर लेते थे। अवैदिक विद्यालयों में पाठन के लिए भी इसी विधि का प्रयोग किया जाता था क्योंकि हमारे यहाँ कण्ठस्थ विद्या को ही विद्या मानते थे।[2]

पाठन प्रणाली में पुनरावृत्ति का सहारा लिया जाता था। अध्यापक एक बार पाठ को पढ़ा देता था। विद्यार्थी उसकी पुनरावृत्ति करता था। इसके अतिरिक्त एक साथ अथवा अलग-अलग गा कर पढ़ने की प्रणाली अपनाई जाती थी। इसके लिए पदों की रचना की जाती थी। गा कर पढ़ने से शीघ्र ही पाठ स्मरण हो जाता था। इसके अतिरिक्त व्याख्या प्रणाली का सहारा लिया जाता था। अध्यापक स्मरण करने के पहले गूढ़ विषयों की व्याख्या कर देता था जिससे वह अत्यधिक बोधगम्य हो जाय। कभी-कभी कथा प्रणाली का भी सहारा लिया जाता था। परन्तु इस प्रणाली का प्रयोग अत्यन्त गूढ़ विषयों के सम्बन्ध में किया जाता था जैसे राजनीति, दर्शन आदि। इसका स्पष्ट प्रमाण हितोपदेश है। शास्त्रार्थ के द्वारा भी शिक्षा को विकसित किया जाता था। इसके सहारे गुप्त भावों का प्रकाशन तथा गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन बड़ी कुशलता से होता था। इसके साथ ही तर्क की प्रवृत्ति विद्यार्थियों में जागृत होती थी। व्यक्तिगत रूप से शिक्षा के आधारित होने के कारण विद्यार्थियों को बड़ी सुविधा होती थी तथा दैनिक परीक्षाएँ होती रहती थीं। इसके अतिरिक्त एक साथ सामूहिक रूप से मिल कर रहने के कारण तथा गुरु परम्परा स्थापित होनसे विद्या के सीखने में बड़ी सरलता हो जाती थी।

परीक्षा—पहले परीक्षा की प्रणाली नहीं थी। नित्य पूर्ण पाठ को विद्यार्थियों को दुहराना पड़ता था। इससे दैनिक परीक्षा की यहाँ विधि थी। सत्र के अन्त में विद्यार्थी को एक विद्वत सभा के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। उसमें विद्वान

१ **प्राचीन भारतीय लिपि माला, डा० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा।**

२ पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥ सुभाषितरत्नभाण्डार, १६८
v, ४१३।

विभिन्न प्रश्न विद्यार्थी से पूछते थे और उनके सफल उत्तर देने के पश्चात् ही उन्हें उत्तीर्ण माना जाता था। पाल राजाओं के समय परीक्षा की प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। राजशेखर ने इसका वर्णन काव्य मीमांसा में किया है। प्रमाणपत्रों का कोई विशेष महत्व नहीं माना जाता था।

प्रारम्भिक शिक्षा

प्राचीन काल में प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था का पूर्ण अभाव था। इसके लिए न कोई व्यवस्थित विद्यालय था और न पाठन प्रणाली। इस ओर एकमात्र परिवार ही एक ऐसी संस्था थी जो थोड़ी बहुत रुचि रखती थी। यहाँ लिखने, पढ़ने और गणित की सामान्य शिक्षा दी जाती थी। शब्दों के उच्चारण आदि पर बल दिया जाता था। बालक तथा बालिका दोनों के लिए उपनयन का महत्व था। इससे भी इसे बल मिला। सामान्य व्याकरण, शब्दशास्त्र आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। परिवार के साथ गुरु भी इस शिक्षा का एक साधन था। इसके लिए ईस्वी सन् के बाद एक नवीन प्रकार का संस्कार चल निकला जिसे अक्षरा विकरण संस्कार कहते हैं। तीसरी शताब्दी के बाद संस्कृत के शब्दोच्चारण के साथ ही प्राकृत के शब्दों के उच्चारण पर भी बल दिया जाने लगा। तख्ती का प्रयोग लिखने के लिए लड़के करते थे। इसके पूर्व पृथ्वी पर रेत फैला दी जाती थी और उसी पर बालक को लिखना सिखाया जाता था। फिर पट्टी और ताम्रपत्र तथा भोजपत्र का प्रयोग किया जाता था। तख्ती पर लिखने के लिए सब्जियों के राख की स्याही तथा सरकण्डे की कलम का ही प्रयोग होता था। गिनती तथा पहाड़े की तालिका भी उन्हें रटा दी जाती थी। पीछे चल कर प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पण्डित तथा पुरोहितों ने छोटे-छोटे चटशाला एवं पाठशाला खोल दिए जिन्हें 'लिपिशाला' के नाम से पुकारा जाता था। इसके साथ ही यह अध्यापक धनी लोगों के बच्चों को उनके घर जाकर पढ़ाते थे। वहाँ पड़ोस के बच्चे भी बैठ कर पढ़ लेते थे। इसके बदले उन्हें बालकों के अभिभावक कुछ देते थे।

पीछे इन्हीं केन्द्रों से स्थानीय विषयों की शिक्षा भी दी जाने लगी। इसका उद्देश्य यह था कि सामान्य जनता के जीवन के व्यावहारिक पक्ष में पूर्ण कुशल बना दिया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू परिवार के स्त्री एवं पुरुष दोनों ही बड़ी संख्या में शिक्षित हो गए।

इस प्रकार शिक्षा के उच्च क्रम में जहाँ भारत की उपलब्धियाँ इतनी अधिक थीं वहाँ प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में किसी भी प्रकार यह कम नहीं थी।

व्यावसायिक शिक्षा

सामान्य रूप से विभिन्न व्यवसायों की शिक्षा का भी आयोजन था। इनके

व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ कुछ वैदिक ऋचाएँ, प्रारम्भिक साहित्य, व्याकरण आदि का साधारण ज्ञान कराया जाता था। कुछ इस प्रकार के व्यावसायिक शिक्षा केन्द्र व्यवसायियों के घर होते थे। अन्य गुरुओं के कुलों में। इस प्रकार किसी भी स्थान पर रह कर इस प्रकार की शिक्षा ग्रहण करनी होती थी। कुछ व्यावसायिक विषयों के सम्बन्ध में पुस्तकें भी लिखी जा चुकी थीं। इसीलिए सामान्य भाषा और गणित का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक था। किन्हीं व्यवसायों के प्रशिक्षण के लिए शिक्षा केन्द्र भी खोल दिए गए थे। इनमें बालक को कार्य करना पड़ता था। परन्तु उत्पादन का सम्पूर्ण उसे गुरु को ही देना होता था। गुरु इसके बदले में प्रशिक्षण अवधि में बालक के आवास और भोजन की व्यवस्था करता था। इस प्रशिक्षण में गुरु तथा शिष्य के बीच एक प्रसंविदा होता था जिसके अनुसार विद्यार्थी को एक नियमित अवधि तक व्यवसाय शाला में रहना होता था। इस प्रशिक्षण अवधि में २४ घंटे विद्यार्थी को गुरु के आदेशानुसार कार्य करना होता था। इस सम्बन्ध में चिकित्सा के प्रशिक्षण का अध्ययन करना अनिवार्य था। यों तो व्यवसाय, सैन्य व्यवस्था, कला और हस्तकला के प्रशिक्षण को भी महत्ता दी जाती थी।

चिकित्सा में प्रशिक्षण

भाषा के सामान्य ज्ञान के पश्चात् ही इसमें विद्यार्थी प्रवेश करता था। यहाँ उसे रोग, उसके निदान आदि के विषय में ज्ञान दिया जाता था। शल्यविद्या के सम्बन्ध में भी उसे शल्यों के प्रयोग से परिचित कराया जाता था। इनका प्रयोग पहले जलकुम्भी के ऊपर करना सिखाया जाता था, फिर मृतकों के ऊपर और उसके बाद शरीर के ऊपर। इसी प्रकार खरबूजा और तरबूज के प्रयोग के सम्बन्ध में भी विधान था कि इनके ऊपर भी इनका प्रयोग दक्षता लाने के लिए कराया जाय। इस प्रकार टाँका लगाने, दवा लगाने, मरहमपट्टी करने आदि के सम्बन्ध में विधान था। सुई लगाने की भी कला का प्रचलन था। विद्यार्थी को शरीर संरचना विज्ञान से इसके लिए परिचित कराना नितान्त आवश्यक था, अतएव मृतकों के शवों को सुरक्षित रीति से रखा जाता था, उसके अंग-प्रत्यंगों को काट-काट कर शरीर संरचना, शरीर के अंगों की क्रिया आदि का समुचित एवं प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते थे।

यह विज्ञान इतना विकसित था कि एक लम्बी अवधि तक इसका अध्ययन करना पड़ता था। इसके साथ तभी उसे नैतिक रूप से इस कार्य को स्वच्छन्द होकर करने की मान्यता दी गई जब वह पूर्ण सिद्धहस्त हो जाय।

इसके साथ ही पशु चिकित्सा विज्ञान कहीं कम विकसित नहीं था। अशोक के अभिलेखों से दोनों प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों का वर्णन मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी पशु चिकित्सा के ऊपर प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न जानवरों के रोग और निदान के लिए अलग-अलग चिकित्सा पर पुस्तकें

लिखी गई जैसे अश्व चिकित्सा, गज चिकित्सा आदि। मनुष्यों के सम्बन्ध में चरक तथा सुश्रुत ने भी संहिताएँ लिखीं जिसमें इस प्रकार के विषयों पर गम्भीर अध्ययन किया गया है। रूसा नामक स्त्री ने मिडवाइफरी पर एक पुस्तक लिखी।

रोगों के निदान के लिए जड़ी-बूटियों, भस्मों, पारा, अफीम आदि का भी प्रयोग किया जाता था। जो जड़ी-बूटियाँ यहाँ नही मिलती थी उन्हें बाहर से मँगाया जाता था। इसी से यूनानी तथा मिश्रानी चिकित्सा पद्धति को बहुत कुछ बल मिला।

इसी प्रकार अन्य व्यावसायिक विषयों की शिक्षा देने का विधान था।

यह हुई पुरुषों की बात शिक्षा के क्षेत्र में पर नारियों की शिक्षा का जहाँ तक प्रश्न है उसका व्यवस्थित अध्ययन नारी-व्यवस्था के अन्दर किया जायगा।

---o---

अध्याय ११

संस्कार

भारतीय समाज की कुछ अपनी विशिष्ट परम्परा है जो विश्व की किसी भी सामाजिक संस्था में प्राप्य नहीं। इसका कारण यह है कि हमारे जीवन का मापदण्ड अन्य देशों की सामाजिक व्यवस्थाओं में निर्धारित मापदण्ड से पूर्णतया भिन्न है। जहाँ हमने आध्यात्मिकता पर बल दिया है वहीं दूसरे देशों ने भौतिकता पर। हम स्व के लिए अपने जीवन में कोई महत्व नहीं रखते। इसी प्रकार की एक व्यवस्था है आश्रम व्यवस्था। इस पर पहले ही विचार किया जा चुका है। संस्कार भी एक ऐसी ही संस्था है। इसका विचारात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष यदि कहीं सिद्ध हो सकता है तो केवल शुद्ध भारतीय परिवार में ही क्योंकि इसमें अन्तरनिहित भावना का समर्थन एक शुद्ध भारतीय के लिए ही सम्भव है। वही इस महत्ता को स्वीकार करता है कि हमारा सम्पूर्ण जीवन ऋणों के बोझ से बोझिल है और उसे हल्का करने के लिए केवल एक ही मात्र माध्यम है—यज्ञ। इस याज्ञिक क्रिया के लिए एक ओर जहाँ आन्तरिक शुद्धता की आवश्यकता होती है वहीं दूसरी ओर वाह्य शुद्धता की भी। इस शुद्धता को बनाए रखने के लिए जिसके द्वारा जीवन के प्रत्येक स्तर पर हम अपने अशोच विचारों, क्रियाओं तथा अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभावों का वहिष्कार कर पवित्र नैतिकता, आध्यात्मिकता आदि गुणों का संवरण करें उसे संस्कार की मान्यता दी जाती है। बालक गर्भ से ही अपने इन गुणों का परिपालन एवं अवगुणों का वहिष्कार करता रहे इसीलिए संस्कार का सम्बन्ध बालक के गर्भस्थत होने के पूर्व से ही कर दिया गया है। पुनः इसकी महत्ता केवल भौतिक जीवन तक ही नहीं मानी गई है पर उसके बाद के जीवन में भी। इसीलिए मृत्यु के बाद तक हमारे जीवन में संस्कार जोड़ दिया गया है। प्रत्येक भारतीय चाहे वह जिस किसी भी धर्म का पालन करने वाला हो एवं जीवन के प्रति किसी भी दृष्टिकोण को रखता हो उसकी परिशुद्धता के लिए उसका सम्पूर्ण जीवन संस्कारों की श्रृंखला में बाँध दिया जाता है। अतएव यह संस्कार की श्रृंखला हमारे जीवन के प्रारम्भ होने के पूर्व से लेकर अन्त होने के बाद तक जुटी होती है।

अर्थ—संस्कार शब्द का पर्य्यायवाची शब्द दूसरे किसी भी भाषा में ढूँढ़ना बड़ा ही कठिन है। इसका कारण यह है कि संस्कार शब्द इतना जटिल एवं भाव-गुण्ठित है कि किसी भी अन्य भाषा के एक शब्द द्वारा इसमें अन्तर्निहित भावनाओं

की अभिव्यक्ति करना बड़ा ही असम्भव दिखाई पड़ता है। इसमें न केवल वाह्य कर्मकाण्डों का ही स्थान है परन्तु इसके साथ आन्तरिक विचार, अन्तरनिहित धार्मिक भावना, औपचारिक नियम, आध्यात्मिक विधान, अनुष्ठान आदि बहुत सी बातों को एक ही साथ समाहित कर दिया गया है। इस प्रकार इस भारतीय आदर्शों के अभिव्यक्तात्मक शब्द का अर्थ जो दूसरे देशों के आदर्शों से पूर्ण भिन्न अभिप्राय रखता है, किसी भी विदेशी शब्द की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता।

वाह्य रूप से यद्यपि लैटिन का 'सिरीमोनियाँ' शब्द और अंग्रेजी का 'सिरीमोनी' क्रमशः इसके पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं[१] परन्तु इन शब्दों की परिधि का सर्वेक्षण करने पर यह ज्ञात होता है यह केवल जीवन के वाह्य पक्षों को ही परिलक्षित करते हैं। यें शब्द जोवन की वाह्य धार्मिक क्रियाओं, व्यर्थ के आडम्बरों, कर्म-काण्डों और समाज द्वारा निर्दिष्ट परम्पराओं को ही केवल अपनी परिधि में समाहित करते हैं। परन्तु जहाँ तक संस्कार की बात है केवल यह वाह्य स्वरूप उसकी व्याख्या की परिधि का एक अंग मात्र ही परिपुष्ट कर सकते हैं। पुनः इस शब्द की व्याख्या भी विभिन्न प्रकार के विचारकों के विभिन्न समय अपने-अपने अनुरूप किया। मीमांसक, नैयायिक, वेदान्ती आदि सभी ने इस शब्द का प्रयोग अलग-अलग अपने संदर्भ में किया है। इसी प्रकार साहित्यकारों का भी प्रयोग है। अतएव सब ने इसको अपने प्रसंग में आँका है। इसलिए सभी की व्याख्या एकांगी है।

डा० राजबली पाण्डेय ने संस्कार की परिभाषा निर्धारित करते हुए यह कहा है कि इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति की दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों में से है जिससे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके।[२] वास्तव में यह शब्द संस्कृत के संस्कार से लिया गया है जिसका अर्थ है परिषोधन अर्थात् शुद्ध करना। इसीलिए जब हम यह कहते हैं कि सोने का संस्कार हो रहा है तो हमारा अभिप्राय होता है कि स्वर्ण शुद्ध किया जा रहा है। अतएव मनुष्य को अपने जीवन की सम्पूर्णता के लिए सदा आवश्यकता पड़ती है कि वह आगे बढ़ने के पूर्व अपने को शुद्ध कर ले। जीवन की सम्पूर्णता की प्राप्ति के क्षेत्र में अपने को शुद्ध करने के ही प्रक्रिया को 'संस्कार कहते हैं।'

विकास का ऐतिहासिक सर्वेक्षण—संस्कारों का प्रचलन हमारे समाज में कब से हुआ यह निर्धारण करने के लिए जब हम वैदिक साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं तो सबसे पहले ऋग्वेद के सर्वेक्षण से यह ज्ञात होता है इस समय संस्कारों का कोई व्यवस्थित क्रम समाज में विद्यमान नहीं था। कुछ फुटकर जैसे विवाह आदि का

१ हिन्दू संस्कार––डा० पाण्डेय, पृ० १७।
२ हिन्दू संस्कार––पृ० १९।

उल्लेख अवश्य किया गया है पर यह संस्कार के रूप में वर्णित नहीं है। फिर भी लोगों को संस्कार का इस समय ज्ञान था इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है क्योंकि अन्त्येष्टि एवं गर्भाधान का भी उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद के बाद जब हम सामवेद पर ध्यान देते हैं तो ज्ञात होता है ऋग्वेद की ही तरह यहाँ भी संस्कारों का कोई भी व्यवस्थित सामाजिक स्वरूप अभी नहीं प्रतीत हुआ था। यद्यपि यजुर्वेद यज्ञ की क्रियाओं का वर्णन करता है फिर भी नाई और छुरे की स्तुति की गई है तथा मुण्डन संस्कार का उल्लेख किया गया। पुनः अथर्ववेद के समय इसका स्वरूप सम्भवतः पुष्ट हो चला था क्योंकि मुण्डन, उपनयन, गोदान आदि संस्कारों का इसमें प्रयोग मिलता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल के अन्तिम चरण में संस्कारों की सामाजिक मान्यता स्वीकार कर ली गई थी परन्तु इसके व्यवस्थित स्वरूप का अभी भी पूर्णतया अभाव था।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन यह ज्ञात होता है इस समय भी वदिक काल की तरह ही अव्यवस्थित रूप से संस्कार समाज में प्रचलित थे। गोपथ ब्राह्मण में उपनयन का ज्ञान मिलता है, शतपथ ब्राह्मण में उपनयन एवं अन्त्येष्टि का वर्णन है आदि। परन्तु किसी भी ब्राह्मण ग्रंथ में व्यवस्थित संस्कार का ज्ञान नहीं मिलता।

पुनः आरण्यकों एवं उपनिषदों पर विचार करने पर भी इसी प्रकार की व्यवस्था का ज्ञान होता है। इसके दो कारण हैं, एक तो यह साहित्य पूर्ण दार्शनिक है, दूसरे वैदिक काल की ही परम्परा इस समय तक चलती रही।

परन्तु इसके बाद क्रमशः गृह सूत्रों, धर्मशास्त्रों, महाकाव्यों, पुराणों आदि का युग आता है। गृह सूत्रों के समय से ही संस्कार पूर्ण व्यवस्थित हो चुके थे क्योंकि गृहसूत्रों में संस्कारों का व्यवस्थित विवरण प्राप्त होता है। इसका प्रकार, कर्मविभाग आदि सभी इस समय तक नियत हो चुके थे।

महत्व—संस्कार की इतनी अधिक महत्ता हमारे जीवन में स्वीकार की गई है कि प्रत्येक भारतीय इसका पालन अक्षरशः अपने जीवन में करता है। इसका कारण यह है कि एक ओर जहाँ यह व्यक्ति के वाह्य विकास को संगठित करता है वहीं दूसरी ओर उसके आंतरिक गुणों को भी पुष्ट करता है। इस प्रकार इसका दो प्रयोजन है, वाह्य विकास और आन्तरिक समुन्नति। मूल रूप से यही इसके महत्व को दो केन्द्र हैं।

इसी के द्वारा बालक के व्यक्तित्व को विकसित करने का प्रयास किया जाता है। जब से वालक गर्भ में आता है तभी से उसके जीवन के साथ इस प्रकार के संस्कार जोड़ दिए जाते हैं जिससे उसके गुणों में अधिवृद्धि होती जाय और वह व्यक्तिगत विकास करता चले। क्रम से उसके विकास का सोपान इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि इसके द्वारा वह उपनयन, विवाह आदि के सहारे एक सुसंस्कृत व्यक्ति के रूप में अपना विकास कर लेता है। इसका बड़ा ही स्पष्ट परख उपनयन संस्कार है।

जन्म से प्रत्येक बालक को शूद्र माना गया है परन्तु उपनयन संस्कार से ही संस्कार कर उसे द्विज वर्ण में सम्मिलित किया जाता है।

इस विकास के क्रम में बहुत सी बाधायें, विघ्न आदि हमारे सम्मुख आती हैं। इन विघ्न तथा बाधाओं का भी परिष्कार संस्कार के ही द्वारा होता है। संस्कार में उपकरण के रूप में अग्नि, जल आदि ऐसे उपादानों का प्रयोग किया जाता है जो अशुभ नाशक हैं। इसके साथ ही मन्त्रों का उच्चारण, दण्ड का धारण, पुरोहित द्वारा देव रूप होकर आशीर्वाद देना सभी अशुभ नाश के बल प्रदान के सम्बल हैं। अशुभ शक्तियों की भर्तत्स्ना का विधान किया गया तथा गोबर के प्रयोग को स्थान दिया गया जिससे भूत-प्रेत का कोई स्थान हमारे जीवन में न रह सके।

जहाँ एक ओर उपर्युक्त उपकरणों के विधान द्वारा अशुभ शक्तियों का विनाश किया जाता है वहीं और इसी संस्कार से शुभ की शक्तिओं को बालक के अन्दर लाने का प्रयास भी किया जाता है। इसीलिए पुरोहित, अनुष्ठान, शुभ घड़ी, देवता और पित्रों का आमन्त्रण किया जाता है। यज्ञ होता है, इसमें आंगलीक सामग्रियों का प्रयोग किया जाता है तथा हवन में घी आदि डाला जाता है जिससे वातावरण शुद्ध रहे, देवता वहाँ आवें और शुभ गुणों का प्रणयन करें। इसी प्रकार अतीत में ब्रह्मचारी का हृदय स्पर्श गुरु करता था तथा पत्नी का हृदय स्पर्श पति करता था जिससे यह अपने अच्छे गुण उसमें समाविष्ट करा सकें।

धार्मिक कर्मकाण्डों को संस्कार में पूर्ण स्थान दिया गया है, जैसे, पुरोहित, हवन, यज्ञ, मन्त्र आदि। इसका कारण यह है कि व्यक्ति की निष्ठा धर्म में पूर्ण रूप से बनी रहे। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि धर्म के बाहरी स्वरूप तक ही केवल मनुष्य को सीमित कर दिया जाता है। वह इस प्रकार वाह्याडम्बरों से बहुत आगे बढ़ कर आन्तरिक भावना के ऊपर अपना विचार आधारित करता है।

इस प्रकार प्रत्येक पग-पग पर मनुष्य को पवित्र बनाने का उद्देश्य क्या है? इसका लक्ष भी हमारे जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं के लक्ष के समान मोक्ष की प्राप्ति करना है। हम इसी उद्देश्य से इन संस्कारों द्वारा मनुष्य को उनके दायित्व और कर्तव्यों से परिचित कराते हैं, उसके निर्वाह के लिए प्रेरणा देते हैं तथा शुद्ध बनाये रखने के लिए पवित्रता को स्थान देते हैं। इसीलिए संस्कारों के सम्बन्ध में गौतम ने लिखा है कि इनका उद्देश्य है आठ आत्मगुणों का अनुष्ठान अपने जीवन में करना। शंखलिखित ने इसके आगे यह भी कहा है कि संस्कारों से संस्कृत तथा आठ आत्मगुणों से युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोक में पहुँच कर ब्रह्म पद को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह फिर कभी च्युत नहीं होता।[1]

---

१ हिन्दू संस्कार—डा० पाण्डेय पृ० ३५।

भूखी हो अथवा अधिक भोजन कर चुकी हो उसके पास ऋतु काल में भी न जाने से कोई दोष नहीं होता।
के समुन्नति की कामना करता है। उपनयन द्वारा वह शिक्षा प्राप्त करता है। अतएव अलग-अलग संस्कारों से अलग-अलग प्रकार से भौतिक समृद्धि होती है।

इस प्रकार संस्कारों से विभिन्न प्रकार का आन्तरिक एवं वाह्य विकास इस जीवन के लिए तथा अगले जीवन के लिए सम्भव होता है।

प्रकार—ऐतिहासिक सर्वेक्षण में हमने देखा है कि संस्कार की संख्या अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न वर्णित की गई है। इसलिए आवश्यक है कि हम यह ज्ञान प्राप्त करें कि वास्तव में इसकी प्रमाणिक संख्या क्या है जिसे हम साधारणतया अपने जीवन में पालन कर सकते हैं।

वैदिक विचारकों की वर्णित संख्या को यदि हम इस आधार पर छोड़ दें कि उस समय संस्कार का कोई व्यवस्थित स्वरूप नहीं था तो सीधे इसके अध्ययन के लिए हम गृह सूत्रों के काल पर पहुँच जाते हैं। गृह सूत्रों में गृहस्थ जीवन की सभी व्यवस्थाओं का समुचित वर्णन किया गया है। पर इनमें बहुत अधिक परस्पर मत-भेद हैं। संस्कार के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का मतभेद हमें मिलता है। आश्वलायन ने ग्यारह संस्कारों का वर्णन किया है परन्तु पारस्कर ने और बौद्धायन ने तेरह प्रकार के संस्कारों का उल्लेख किया है। परन्तु इन विचारकों ने संस्कार की अपनी तालिका में सर्व प्रथम स्थान विवाह को दिया है जो सैद्धान्त्रिक रूप से अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि संस्कार तो गर्भ के पहले से शुरू होता है और विवाह संस्कार जीवन के बीच में होता है। इस प्रकार पिता की ओर ध्यान केन्द्रित करके बालक का संस्कार निर्धारित किया गया है जब कि बालक की ओर ध्यान केन्द्रित करके इसकी गणना करनी चाहिए। वखानस गृह सूत्र इस क्रम में समुचित प्रतीत होता है क्योंकि ऋतुसंगमन से ही संस्कार की गणना यह प्रारम्भ करता है। पर दोष यह है कि पाणिग्रहण तक के ही संस्कारों का उल्लेख अपनी तालिका में यह करता है जो उसके बहुत बाद तक होनी चाहिए।

धर्मसूत्रों में संस्कारों की व्यवस्थित तालिका दी गई है। जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु के बाद तक संस्कार की स्थिति को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार की एक तालिका गौतम धर्मसूत्र में दी गई है परन्तु यह व्यावहारिक नहीं है क्योंकि इसमें चालीस संस्कारों का वर्णन किया है। जीवन में इतना अधिक संस्कार पालन करना व्यावहारिक दृष्टि से बड़ा कठिन प्रतीत होता है।

स्मृतियों ने पूर्ण व्यावहारिक दृष्टि से संस्कारों की संख्या का उल्लेख किया है। मनु ने तेरह संस्कारों की तालिका दी है जिसको थोड़े बहुत अन्तर से, गौतम को छोड़ कर, लगभग सभी स्मृतिकारों ने स्वीकार किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी संस्कार विधि नामक पुस्तक में सोलह संस्कारों का वर्णन किया है

मनुष्य संस्कार के द्वारा भौतिक जीवन में सुख एवं समृद्धि प्राप्ति का प्रयास करता है। इसके द्वारा वह स्त्री से पुत्र उत्पन्न करने का प्रयास करता है, परन्तु वर्तमान काल में केवल बारह संस्कारों को ही पालन किया जाता है। यह निम्नांकित हैं :

१. गर्भाधान	२. पुंसवन	३. जातकर्म
४. नामधेय	५. निष्क्रमण	६. अन्नप्राशन
७. चूड़ाकरण	८. उपनयन	९. सावित्री
१०. समावर्तन	११. विवाह	१२. अन्त्येष्टि

संस्कारों का विवेचन

१. गर्भाधान--'गर्भः संधार्यते येन कर्मना तद्वार्भाधार्नामित्यनुगतार्थं कर्मनारूधेयं'

पूर्वमीमांसा अ० १.

अर्थात् जिस कर्म के द्वारा पुरुष अपना शुक्र स्त्री को धारण करता है वह गर्भाधान कहलाता है। इस सम्बन्ध में कहा गया कि विवाह की चौथी रात्रि को यह संस्कार करना चाहिए। उसमें भी नियत किया गया कि रात्रि का ही समय इसके लिए उपयुक्त है। उसमें भी अर्धरात्रि और उसके बाद का समय ही अधिक उपयुक्त बताया गया। यह कहा गया है कि जो दिन में यह संस्कार करता है वह दुर्गुणी पुत्र का प्रजनन करता है। साथ ही एक मास की कुछ विशिष्ट तिथियाँ आठवीं, चौदहवीं, पन्द्रहवीं, और तीसवीं गर्भ धारण कराने के कार्य के लिए उपयुक्त नहीं मानी गई हैं। सभी पर्वों की रात्रि भी इसी प्रकार अनुपयुक्त बताई गई हैं।

इसे पति ही करता था। पर जब पति नहीं होता तो नियोग के लिए जो भी व्यक्ति निर्धारित किया जाता था वही इसका कर्ता होता था। मनु ने तो यहाँ तक इस सम्बन्ध में कहा है कि यदि नपुंसक पति हो अथवा अयुक्त हो तो 'उनकी पत्नियाँ देवर, सगोत्र एवं ब्राह्मण से संतति उत्पन्न कराने के लिए अनुमति प्रदान करती हैं। पर जब नियोग प्रथा की स्थिति समाप्त हो गई तो केवल पति को ही इसका कर्ता माना जाने लगा।

इसको एक महत्वपूर्ण कर्तव्य माना गया है। मनु ने कहा है कि अपनी पत्नी के प्रति सच्चा रहते हुए पुरुष का धर्म है कि ऋतु काल में उसके समीप वह जाय। पराशर ने तो यहाँ तक कहा है कि जो ऐसा नहीं करता वह ब्रह्म हत्या का भागी होता है। इसी प्रकार यह स्त्री के लिए भी बंधन बनाया गया है। परन्तु इसमें कुछ छूट भी दी गई है जैसे विष्णु पुराण के अनुसार जो स्त्री स्नान न कर चुकी हो, जो पीड़ित हो, आर्तवावस्था में हो, प्रशंसनीय न हो, क्रूद्ध हो, बुरा सोचती हो, उदार न हो, किसी दूसरे पुरुष के साथ सम्बन्धित हो, जिसे स्वयं उन्माद न हो, जो

(२) **पुँसवन--'पुमान प्रसूयते येन कर्मणा तत पुँसवनमीरितम्'** अर्थात् जिस क्रिया द्वारा पुरुष संतति के जन्म की व्यवस्था की जाय उसे पुंसवन संस्कार कहते हैं। भारत एक पितृ प्रधान देश है, अतएव चिर अतीत से ही यहाँ पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों की महत्ता स्वीकार की गई है। इसलिए गर्भाधान के बाद यह संस्कार बनाया गया जिसमें पति तथा पत्नी वह विधान करते थे जिससे योग्य संतति का प्रजनन हो जो पुत्र हो। वैदिक काल से ही इस संस्कार का ज्ञान प्राप्त होता है।

इस संस्कार के लिए यह कहा गया है कि यदि स्त्री प्रथम बार गर्भ धारण करती हो तो यह संस्कार गर्भ धारण के तीसरे मास में ही करना चाहिए और यदि यह पहला गर्भ न हो तो गर्भ धारण करने के दो मास से आठ मास के भीतर किसी भी समय किया जा सकता है। इसका मूल उद्देश्य यह है कि जब बालक की स्थिति गर्भ में स्पष्ट हो जाय अथवा गर्भ चलने लगे तब यह संस्कार करना चाहिए।

इसमें विभिन्न देवों की प्रार्थना की जाती है जिससे पुत्र का प्रजनन हो। स्त्री के दाहिने नासिकापुट में बट वृक्ष का रस डाला जाता है जिससे गर्भपात न हो। उसके अंक में एक जल पूरित घट रखा जाता है जिससे शुभ का संदेश बना रहे तथा उसका गर्भ पति बड़ी सावधानी से स्पर्श कर प्रार्थना करता है।

(३) **जातकर्म**—जब बालक का प्रजनन हो जाता है तो बहुत सी बाह्य परिस्थितियाँ जिनमें कुछ अनिष्टकारी भी होती हैं उसे प्रभावित करती हैं। उसे हटाने के लिए पिता अपने नवजात शिशु को छूता है, देखता, सूंघता है और आशीर्वचन वाले मन्त्रों का उच्चारण करता है जिनका आशय यह होता है कि बालक दीर्घायु हो और मेधावी हो। इसके बाद बालक को शहद चटाया जाता है और मक्खन भी और उसके बाद उसे पहली बार माता का दूध पिलाया जाता है। इसी समय नाभि की गुण्डी भी काट दी जाती है तथा दोनों को स्नान कराया जाता है। पिता एक झीने वस्त्र से बालक को ढँक कर अपने अंक में ले लेता है तथा आशीर्वचनों का उच्चारण करता है। इसके समाप्त होने पर ब्राह्मणों को दान एवं दक्षिणा दिया जाता है तथा भिखारियों में भिक्षान्त का वितरण किया जाता है जिससे सभी ओर से बालक को आशीर्वाद मिले।

समय निर्धारण के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि बालक जैसे ही जन्म ले वैसे ही इस संस्कार की परिपूर्ति कर देनी चाहिए। इसीलिए नाभी काटने का उल्लेख इसके बाद किया गया है। पीछे इतनी शीघ्रता से इस संस्कार की पूर्ति करना स्वीकार नहीं किया गया परन्तु कुछ समय बाद।

(४) **नामकरण**—बालक को एक विशिष्ट नाम से पुकारा जाता है। नाम निश्चित करने के इस संस्कार को नामकरण की संज्ञा दी जाती है। इसका महत्व

इसलिए विशेष रूप से है कि नाम से ही सम्पूर्ण व्यवहार होते हैं, इसी से भाग्य निर्णय किया जाता है तथा इसी के साथ कीर्ति जुटती है। इसलिए नाम का हमारे जीवन में विशेष महत्व है। इस संस्कार का प्रचलन वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो चुका था।

पुरातन काल में चार प्रकार के नामों का उल्लेख किया गया है जो प्रायः रखे जाते थे। कुछ नाम उन नक्षत्रों पर आधारित होते थे जिनमें बालक का जन्म होता था, कुछ मास के देवताओं को आधार मानकर रखे जाते थे, कुछ नाम कुल एवं ग्राम देवताओं के नाम पर रखे जाते थे और कुछ लौकिक नाम होते थे जो व्यावहारिक दृष्टि से बड़े ही महत्व के होते थे। परन्तु इनके साथ ही कभी-कभी भूत-प्रेतों को डराने वाले भयानक नामों की भी रखा जाता था। इस प्रकार अनेक नाम रखे जाते थे।

नामकरण की अवधि के सम्बन्ध में यह कहा गया कि जन्म के दसवें दिन अथवा बारहवें, सौवें दिन या वर्ष के अन्त होने पर नामकरण संस्कार होना चाहिए। परन्तु साधारणतया दसवें दिन ही नाम रख दिया जाता है।

इस दिन घर को गोबर से लीपते हैं, यज्ञ करते हैं और बालक को गोद में लेकर पिता जो नाम रखना चाहता है वह उसके दाहिने कर्ण में उच्चारित करता है।

(५) **निष्क्रमण**—बालक जन्म लेते ही माता द्वारा एक कमरे के भीतर कुछ निश्चित समय तक रखा जाता है। परन्तु जन्म के बारहवें दिन से चौथे मास के भीतर उसको बाहर आँगन से दरवाजे पर लाया जाता है जिससे वह धीरे-धीरे परिवार से बाहर होकर समाज के सम्पर्क में आ जाय। इसे ही निष्क्रमण कहते हैं।

कुछ विचारकों ने नामकरण के साथ ही इस संस्कार को भी सम्पन्न करने का विधान किया है परन्तु साधारणतया जन्म के तीसरे और चौथे मास में इस संस्कार को किया जाता है जिससे बालक इस योग्य बन जाय कि वह बाहर के वातावरण को भी सहन कर सके। इसका कर्ता पिता ही स्वीकार किया गया है।

पहले घर के आँगन में या बरामदे में कोई भाग गोबर से लीप दिया जाता है एवं धान के कण विकीर्ण कर दिए जाते हैं जिससे शुभ प्रभाव वहाँ आ जाय। उसके बाद पिता बालक को गोद में लेकर उसे सूर्य दर्शन कराता है। बाद में इस सम्बन्ध में विस्तृत विधान बना जिसमें पहले देवताओं को आमन्त्रित कर, उनकी आराधना कर उसे निष्क्रमण के समय किसी देवालय तक पिता बड़ी धूम धाम से ले जाता है।

(६) **अन्नप्राशन**—जन्म लेने के बाद बालक बहुत दिनों तक केवल माता के दूध पर ही जीवित रहता है। परन्तु जब माता का दूध धीरे-धीरे घटने लगता है तब उसे गौ का भी दूध दिया जाने लगता है। अवस्था के बढ़ने पर केवल गौ का दूध भी

बालक के लिए पर्याप्त नहीं रह जाता, अतएव उसे कुछ अन्न खिलाना आवश्यक हो जाता है। इसी को अन्नप्राशन संस्कार का नाम देते हैं।

प्रायः जब बालक कुछ अवस्था प्राप्त हो जाता है, उसका मेदा अन्न को पचाने के योग्य हो जाता है तभी यह संस्कार किया जाता है। इसलिए इसकी अवस्था जन्म के छठें महीने रखी गई। पर दुर्बल शिशुओं के लिए इसकी अवस्था और भी अधिक बढ़ा दी गई। इसे नवें, दसवें मास में भी मानी गई पर किसी भी प्रकार चौथे मास तक इसे मान्यता नहीं दी गई है।

इस समय अन्न में घी और मधु के साथ खीर खिलाने का विधान है। कहीं-कहीं दही, दूध, घी आदि का विधान है। किन्हीं स्थानों पर दूध-भात खिलाने का भी उल्लेख किया गया है। इस समय होम करना, देवताओं को आमन्त्रित करना तथा मन्त्रों का उच्चारण करना अनिवार्य होता है।

(७) **चूड़ाकरण**—बालक के जन्म के समय ही छोटे-छोटे कोमल बाल उसके सिर पर होते हैं। यह गर्भ से ही उसके सिर पर होते हैं, अतएव उसे काटना आवश्यक हो जाता है। इसी को चूडाकरण संस्कार की संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। इसको इस आशय से करते हैं कि इसके द्वारा आयु की वृद्धि हो, सौन्दर्य एवं कल्याण की श्री वृद्धि हो।

समय के सम्बन्ध में पारस्कर गृह सूत्र में कहा गया है कि जन्म के प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तीसरे, पाँचवें एवं सातवें वर्ष में इसे पूर्ण करना चाहिए। इसके लिए उपयुक्त तिथि निर्धारित करनी होती थी। पर किसी भी प्रकार जन्म के दसवें एवं ग्यारहवें वर्ष में इसे करने की मनाई की गई है। पहले यह संस्कार घर में ही होता था परन्तु पीछे घर के बाहर ही यह संस्कार किया जाने लगा। बाहर जाने का कारण इस संस्कार के लिए यह है कि गृह यज्ञ की व्यवस्था इस समय बन्द हो चुकी थी। इस संस्कार के उपरान्त मनुष्य कुछ निश्चित शिखाएँ अपने वर्ण के अनुसार रखनी होती हैं।

इसके लिए यज्ञ में आहुतियाँ दी जाती हैं। उसका बाल दधि के जल से धो दिया जाता है, फिर विभिन्न मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है और तब नाई आकर सुन्दर छूरे से उसका बाल साफ कर देता है।

(८) **उपनयन**—जितने भी संस्कारों का उल्लेख किया गया है उनमें केवल दो की ही विशेष महत्ता हमारे जीवन में है और वह हैं उपनयन और विवाह। विवाह का वर्णन पहले ही किया जा चुका है एक अलग संस्था के रूप में, अतएव यहाँ उपनयन का वर्णन पूर्ण समीचीन प्रतीत होता है।

उपनयन शिक्षा का प्रारम्भिक संस्कार है। परन्तु इसके भी पहले एक और संस्कार होता है जिसे विद्यारम्भ संस्कार कहते हैं। इसके द्वारा बालक केवल अक्षरों

के ज्ञान का शुभारम्भ करता है। सामान्य लिखने, पढ़ने एवं गणित की शिक्षा तो बालक पिता से घर में ही प्राप्त करता है, अतएव इसके प्रारम्भ का विद्यारम्भ संस्कार भी घर में ही होता है। परन्तु उसके बाद वह गुरु के घर व्यापक अध्ययन के लिए ले जाया जाता है और गुरु को समर्पित कर दिया जाता है। जिस संस्कार द्वारा बालक गुरु को समर्पित किया जाता है उसे उपनयन संस्कार कहते हैं। इसीलिए डा० अल्टेकर ने उपनयन का शाब्दिक अर्थ बताया है 'उपनीयमान' अर्थात् बालक को गुरु के गृह ले जाना इसलिए कि वह वहाँ शिक्षा प्राप्त करे।[1]

इसकी महत्ता प्राचीन काल में बहुत अधिक थी। यदि समय से इसका पालन नहीं होता था तो यह समझा जाता था कि वह बालक अथवा बालिका आर्यवर्ण में सम्मिलित होने के लिए पूर्ण अनुपयुक्त है। ऊपर के 'बालक अथवा बालिका' शब्द से कुछ आश्चर्य अवश्य हो रहा होगा पर वास्तव में यह संस्कार बालक एव बालिका दोनों के लिए समान महत्व का था। जो भी इसको छोड़ देता था उसे आर्यवर्ण वहिष्कृत घोषित कर दिया जाता था। उसका विवाह नहीं होता था। इसका कारण यह था कि हमारे यहाँ विचारकों ने जन्म से ही बालक को शूद्र माना है चाहे वह किसी भी वर्ण का हो। परन्तु उसकी शूद्रता के परिष्कार के लिए ही यह संस्कार किया जाता था जिससे वह आर्य वर्ण में सम्मिलित कर लिया जाय। चूँकि शूद्र द्विज वर्ण में सम्मिलित नहीं किए जा सकते थे इसलिए शूद्रों को इस संस्कार से वंचित कर दिया गया। इसी के बाद बालक का ब्रह्मचर्याश्रम प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार अब यह निश्चित हुआ कि केवल द्विज ही उपनयन संस्कार के लिए यथेष्ट माने जाते हैं। इसीलिए स्मृतियों में प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग प्रकार के विधान का मेखला, दण्ड, मन्त्र आदि के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। परन्तु धीरे-धीरे यह बाद में चल कर केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गया क्योंकि क्षत्रियों ने युद्ध को प्रधानता देना प्रारम्भ किया और वैश्यों ने व्यवसाय को। इस प्रकार वैदिक शिक्षा से यह विरत होते गए।

उपनयन की अवस्था साधारणतया आठ वर्ष से बारह वर्ष के बीच रखी गई। साधारणतया ब्राह्मणों के लिए आठ वर्ष की आयु निर्धारित की गई, क्षत्रियों के लिए ग्यारह वर्ष की और वैश्यों के लिए बारह वर्ष की। बौद्धायन के अनुसार आठ से सोलह वर्ष के बीच यह संस्कार होना चाहिए। परन्तु धीरे-धीरे इसकी अवस्था कम होती गई। हमारे यहाँ विचारकों ने यह सोचा कि जितना ही शिक्षित वर्ण होगा उतनी ही उसकी मेधा तीव्र होगी और वह उतनी ही शीघ्रता से अध्ययन प्रारम्भ कर सकता है। इसलिए यह विधान बनाया गया कि ब्राह्मण के बालक को पाँच वर्ष

१ एजुकेशन इन एनशेन्ट इण्डिया—अल्टेकर, पृ० २६९।

पर क्षत्रिय को आठ वर्ष पर और वैश्य को दस वर्ष पर शिक्षा प्रारम्भ करना चाहिए।

सर्व प्रथम उपनयन की कार्यवाही के लिए बालक को सबेरे बिना स्नान कराये ही एक ही पात्र में माता के साथ भोजन कराया जाता था। उसके बाद उसे स्नान कराया जाता था। स्नान के बाद वह मेखला तथा कौपीन धारण करता था। मेखला मूँज की बनी होती थी। इसमें तीन रस्सो होती थी जिसका प्रतीक आज जनेऊ में हम तीन धागे पाते हैं। यह तीनों धागे जीवन की तीन प्रतिज्ञाओं को बार-बार दुहराते हैं एवं तीन ऋणों को स्मरण कराते रहते हैं। उपनयन के समय बालक गुरु के सम्मुख लाया जाता था। गुरु उसको उत्तरीय देता था। इसके बाद अग्नि के सम्मुख ले आया जाता था और उसमें उसके द्वारा समिधि डाली जाती थी तथा गुरु द्वारा मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। उसमें दया एवं कोमलता का भाव भरने के लिए विभिन्न वैदिक देवताओं के सम्मुख उसे उपस्थित किया जाता था। पुनः उसे प्रस्तर पर खड़ा कराया जाता था जिससे वह यह प्रतिज्ञा करे कि गुरु के साथ उसका भी जीवन उसी प्रकार सम्बद्ध हो जाय जैसे पत्थर की दृढ़ता। इसके बाद आचार्य बालक से यह पूछता था कि 'कस्य त्वं ब्रह्मचार्यसि' अर्थात् तुम किसके ब्रह्मचारी हो। इस पर वह विद्यार्थी उत्तर देता था कि 'भवत' अर्थात् आप का। परन्तु गुरु पुनः उसे यह कह कर इसकी शुद्धि कराता था कि 'इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि अग्निराचायस्तव अहमाचार्यस्तव।'[1] इसके बाद बालक का हृदय गुरु स्पर्श करता था और यह उच्चारण करता था कि परस्पर हम लोगों की एकता बनी रहे। तब गुरु विभिन्न देवताओं की प्रार्थना का मन्त्र बालक द्वारा उच्चारित कराता था। अब उसे हाथ में दण्ड दिया जाता था जिससे वह इस जीवन में उसी प्रकार गुरु के सहारे आगे बढ़ता रहे जैसे वृद्ध और अशक्त हाथ में दण्ड लेकर। इसके बाद एकत्रित लोगों में बालक द्वारा भिक्षाटन कराया जाता था जो आगे के जीवन का एक प्रतीकात्मक पद होता था।

इसी के बाद बालक गुरु के पास रह जाता था। यही संस्कार उपनयन संस्कार के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

(९) **सावित्री**—उपनयन के बाद दूसरा संस्कार सावित्री का होता है। इसको उपनयन के तीसरे वर्ष मनाया जाता है। यह एक प्रकार के ब्रह्मचर्याश्रम का ही पद है। मनु के अनुसार ब्राह्मण वर्ण में सोलह वर्ष पर, क्षत्रिय में बाइस वर्ष पर और वैश्य में चौबीस वर्ष पर यह संस्कार कराना चाहिए।

(१०) **समावर्तन**—विद्यार्थी आश्रम का यह सब से अन्तिम संस्कार होता है।

---

१ पाराशर गृहसूत्र—२,३।

आज भी इसे मनाया जाता है। यह संस्कार शिक्षा समाप्त होने पर ही किया जाता है।

(११) **विवाह**--विवाह संस्कार को एक अलग संस्था के रूप में पहले ही एक अध्याय में वर्णन किया जा चुका है।

(१२) **अन्त्येष्टि**—ऊपर के जितने भी संस्कार हैं सभी मनुष्य के जीवन काल में ही होते हैं। पर यही एक ऐसा संस्कार है जो मृत्यु के बाद होता है, इसलिए कि मृतक की आत्मा को परितुष्टि हो।

इस प्रकार यह बारह संस्कार हमारे जीवन के अत्याज्य अंग हैं और इन्हें लगभग उसी सुचारुता के साथ आज भी मनाया जाता है।

——०——

अध्याय १२

दास प्रथा

मानव समाज का वर्तमान वर्ग भेद कोई आधुनिक देन नहीं है। यह चिर-अतीत से, सभ्यता के प्रारम्भिक काल से, ही विद्यमान था। यदि विश्व इतिहास का अवलोकन किया जाय तो ज्ञात हो जायगा कि लगभग समान रूप से सभी पुरातन सभ्यताओं में समाज तीन भागों में विभक्त था : उच्च, मध्यम और दास।[1] मिस्र की पुरातन सभ्यता में भी व्यापक रूप से इसी प्रकार का सामाजिक विभेद बना था। यह विभाजन ईसा से कई सहस्र वर्ष पूर्व दासों के एक स्वतन्त्र वर्ग की स्थिति का द्योतक है। परन्तु इससे भी पहले ताम्र एवं कांस्य कालीन सभ्यताओं में भी कुछ विद्वानों ने इनकी अलग स्थिति को माना है।[2] श्री रंगाचारी तो पूर्व पाषाण काल से ही इस प्रकार का सामाजिक संगठन स्वीकार करते हैं।[3] इस प्रकार दास प्रथा का इतिहास अत्यन्त ही पुरातन है। यह एक विकसित प्रथा थी क्योंकि इसके विभिन्न उपवर्ग बन चुके थे।[4] मिस्र, असीरिया, सुमेरिया, वैबिलोनिया आदि विश्व की पुरातन सभ्यताओं में इनके विभिन्न प्रकारों का उल्लेख मिलता है यथा,कृषक दास आदि। पर भारतीय सभ्यता में इस वर्ग का उद्‌भव इतना पुराना नहीं है। वैदिक काल अथवा आर्यों के पूर्व भारत में इस प्रकार की प्रथा का कोई ज्ञान नहीं मिलता है। अतएव विश्व की दूसरी सभ्यताओं की अपेक्षा यह प्रथा भारत में बहुत पीछे विकसित हुई। यदि अमेरिका, नेटाल, अफ्रीका, इंगलैण्ड आदि के सामाजिक इतिहास पर विचार किया जाय तो इस प्रथा की अनवरतता का ज्ञान होता है। १९वीं शताब्दी के मध्य तक यह प्रथा पूर्ण जीवित रही और निरन्तर नृशंस व्यवहार के लिए प्रसिद्ध थी। इसी से विभिन्न देशों में इस प्रथा के विरुद्ध सन् १८४३ में अधिनियम पारित किया गया[5] और लगभग इसे वन्द कर दिया गया।

दास शब्द का संस्कृत पर्यायवाची शब्द दाशः होता है।[6] इसका अर्थ है 'जिसके श्रम का पारितोषिक चुकाया जाय।' इसी को अंग्रेजी में 'स्लेवरी सिस्टम'

१ विश्व की सभ्यताएँ––विमलचन्द्र पाण्डेय।
२ एन इन्ट्रोडक्शन टू आर्केआलोजी, दीक्षित, पृ० २२४।
३ प्री मुसलमान इण्डिया––रंगाचारी।
४ दुनियाँ की कहानी––प्रो० राधाकृष्ण शर्मा, पृ० ३१।
५ एन साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज––खण्ड १४, पृ० ७४,
६ हलायुधकोशः, पृ० ३५३,

कहते हैं। पर भारतीय समाज में दास प्रथा का प्रादुर्भाव आर्यों के पश्चिमी भारत से पूर्व की ओर विस्तार करने के समय ही हुआ होगा। भारत के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में दो विभिन्न वर्गों का ज्ञान प्राप्त होता है एक आर्य तथा दूसरे दस्यु। दस्यु का प्रयोग उन आर्येतर जातियों के लिए किया गया जिन पर आर्यों ने युद्ध द्वारा अपने प्रसार काल में अधिकार प्राप्त किया। यही दस्यु दास की संज्ञा से भी संबोधित किए जाते थे क्योंकि ऋग्वेद की एक ऋचा में एक ही व्यक्ति के लिए दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है : दस्यु एवं दास।[१] इसमें पहले उसे दस्यु से संबोधित किया गया है फिर दास से। यह धारणा कि दास से अभिप्राय भारत में दस्यु से है एक दूसरी ऋचा से स्पष्ट हो जाती है जहाँ इन्द्र को आर्यों के शत्रु तथा दासों पर विजय करने वाला कहा गया है।[२] इस प्रकार दस्यु आर्यों से अलग वर्ग के थे जिन्हें उत्तर-वैदिक काल में आर्य वर्ण में सम्मिलित कर लिया गया। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि दास शब्द ऋग्वेद के बाद प्रचलित हुआ क्योंकि ऋग्वेद के अन्दर अनेक स्थानों पर दास शब्द का प्रयोग किया गया है।[३] दासों को ही पीछे चलकर सम्भवतः शूद्र कहा गया। यही दास शब्द पीछे व्यापक वर्ग भेद का बोधक बना तथा वर्णों का भी। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि शूद्रों के लिए जिन निम्न प्रकार के विशेषणों का प्रयोग होता रहा वही विशेषण दासों के सम्बन्ध में ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए हैं। एक स्थल पर इन्हें 'असुर' कहा गया है।[४] इन्हीं के लिए कई स्थानों पर 'अव्रत' शब्द का भी प्रयोग किया गया है।[५] इस प्रकार दासों की उत्पत्ति युद्ध विजय के परिणामस्वरूप ही हुई। इस बात की पुष्टि देवासुर संग्राम से होती है जिसका वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। आर्येतर जाति के इस राजा पर जब आर्यों ने विजय प्राप्त किया तो उन्हें असुर कहा। वहाँ के जीते गए लोगों को बाहर भगा दिया गया अथवा दास बना दिया गया। यह व्यवस्था जिसमें युद्ध के परिणामस्वरूप दास प्रथा का उद्भव हुआ, पीछे भी जीवित रही क्योंकि पुरातन समाजशास्त्री कौटिल्य, मनु, नारद आदि ने अपने ग्रंथों में समाज की जिस रूप-रेखा का उल्लेख किया है उसमें दासों का भी वर्णन मिलता है। दासों के प्रकारों का उल्लेख करते हुए सब ने युद्ध-दास को ही सर्वोपरि रखा है।

इतिहास—इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक काल से ही दासता

---

१ ऋग्वेद, १०,२२,८।
२ वही, ६,६०,६।
३ हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र—खण्ड २, भाग १, पृ० २६–२७।
४ ऋग्वेद, ६,३१,४; २६,५ आदि।
५ वही, १,५१,८।

एक जीवित प्रथा के रूप में समाज में विद्यमान थी। इस प्रथा के अन्तर्गत केवल पुरुषों को ही परिगणित नहीं किया जाता था परन्तु उनके साथ ही स्त्रियों को भी। ऋग्वेद में विभिन्न स्थलों पर दास के साथ ही 'दासी' शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] परन्तु वह पुरुष एवं स्त्री जिनका प्रयोग दास के अर्थ में किया गया है सम्भवतः युद्ध में विजित व्यक्ति एवं उनके परिवार को ही संबोधित करता है। इन पर विजेता का पूर्ण स्वामित्व होता था: वह इन्हें बेंच सकता था, दान दे सकता था आदि। ऋग्वेद की बहुत सी ऋचाओं में उपकृत होने के कारण ऋषियों को राजाओं द्वारा ही बड़ी संख्या में दास एवं दासियों के दान देने का उल्लेख है।[2] दान की यह प्रथा सुदीर्घ काल तक चलती रही। आगे हम दासों का अध्ययन करते हुए ब्राह्मण एवं आरण्यक काल में भी इस दान व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

ब्राह्मण काल में दास प्रथा सबल हो चुकी थी। दासों की संख्या बहुत बड़ी होती थी सम्भवतः इसीलिए इन ग्रंथों में ऋग्वेद की अपेक्षा कहीं बड़ी संख्या में इनके दान का वर्णन, राजाओं द्वारा पुरोहितों को, मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक राजा द्वारा १०,००० दासियों तथा इससे कहीं अधिक संख्या में हाथियों के दान का वर्णन मिलता है।[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि जब एक समय एक राजा इतनी बड़ी संख्या में दासियों को दान दे सकता था तो यह प्रथा कितनी बलवती रही होगी। आरण्यकों में भी इसी प्रकार इस प्रथा का ज्ञान मिलता है।

उपनिषदों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि दास शब्द का प्रयोग केवल वास्तविक अर्थ में ही नहीं किया जाता था पर लाक्षणिक अर्थ में भी। यह प्रयोग इसकी महत्ता का द्योतक है। उपकृत होने पर व्यक्ति स्वयं को दास रूप में इस समय अर्पित करने लगा। अतएव केवल युद्ध विजित व्यक्ति ही अब दास की कोटि में नहीं परिगणित किए जाते थे। बृहदारण्यक उपनिषद[4] में जनक का याज्ञवल्क से शिक्षा प्राप्त करने पर उनके प्रति अपना आभार प्रकट करने के लिए अपनी सम्पूर्ण प्रजा–विदेहों–के साथ अपने को उनके समक्ष दास रूप में समर्पित करने का वर्णन है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद में भी दासों का उल्लेख भूमि आदि सम्पदा के साथ किया गया तथा इन्हें 'महिमा' बताया गया है।

गृह-सूत्र और धर्म-सूत्र दोनों ही दासों की इसी विकसित स्थिति का वर्णन करते हैं। सूत्र साहित्य में दास और भृत्यों का प्रयोग समान अर्थ में किया गया है

---

१ वही, ८,१९,३६।

२ वही, ८,१९,३६।

३ **ऐतरेय ब्राह्मण, ३९,८।**

४ **बृहदारण्यक, उपनिषद—४,२३।**

क्योंकि दासभृत्यों का भी कार्य करते थे। एक गृह-सूत्र में अतिथियों के पैर धोने का कार्य इन्हें सौंपने का विवरण मिलता है। फिर भी दास और भृत्यों में अन्तर था क्योंकि आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में दासों और भृत्यों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है।[1]

महाकाव्यों में भी लाक्षणिक तथा वास्तविक दोनों ही अर्थों में दास शब्द का प्रयोग किया गया है। महाभारत के सभापर्व, वनपर्व आदि विभिन्न पर्वों में दास शब्द का उल्लेख है।[2] रामायण में भी इसी अर्थ में दास शब्द प्रयुक्त किया गया है।[3]

स्मृतिकारों ने भी दास प्रथा के विभिन्न समस्याओं पर विस्तृत विवेचन किया है। मनुस्मृति जिसे भारतीय समाजशास्त्र का वास्तविक प्रतीक माना जा सकता है दासों के विभिन्न प्रकार, उनके प्रति व्यवहार आदि का वर्णन करती है।[4] नारद तथा कात्यायन स्मृतियाँ भी इसी प्रकार का वर्णन प्रस्तुत करती हैं। अधिकार एवं मुक्ति के सम्बन्ध में भी इसमें विचार किया गया है तथा विभिन्न विधान बताया गया है।

परन्तु बड़ी विचित्र बात यह प्रतीत होती है कि विदेशी यात्री जो समय-समय से भारत में आते रहे, चाहे जिस किसी भी कारण से, अपने भारत के संस्मरण में कहीं भी इस प्रथा के प्रचलन का उल्लेख नहीं करते। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज जो मौर्य शासक चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में बहुत दिनों तक रहा तथा मौर्यकालीन भारत के विभिन्न अंगों का विस्तृत विवेचन किया, दासों के पूर्ण अभाव का वर्णन करता है।[5] यह विचित्रता इसलिए विशेष प्रभावक बनती है कि तत्कालीन भारतीय साक्ष्य जहाँ इस व्यवस्था के ऊपर विभिन्न प्रकार से विचार करते हैं वहीं एक निष्पक्ष विवरण देने वाला विदेशी पूर्ण मूक हो जाता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री कौटिल्य ने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में दासों की स्वतन्त्रता का विधान तथा उनके उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों का उल्लेख प्रसंगवत किया है।[6] चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक ने भी अपने अभिलेखों में 'दास भृतकसि' शब्द का प्रयोग किया है।[7] इससे यह ज्ञात

---

१ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २,४,९,११।
२ महाभारत सभापर्व, ५२,४५. वनपर्व--१८५,३४ आदि।
३ वाल्मीकि रामायण।
४ मनुस्मृति।
५ मेकेक्रण्डल, पृ० ७१।
६ अर्थशास्त्र--III, १३।
७ ९वाँ शिलालेख

होता है 'भृतक' '(नौकर) और दास यह दोनों ही दो अलग-अलग वर्ग थे। जब मौर्य काल के पूर्व और मौर्यों के बाद जैसा ऊपर के सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह प्रथा चलती रही, तो कोई कारण ज्ञात नहीं जिससे चन्द्रगुप्त मौर्य के समय यह बन्द हो गई हो। मेगस्थनीज के विवरण में सम्भवतः इसीलिए दासों का उल्लेख नहीं किया गया है कि जितना अत्याचार इनके साथ विदेशों में किया जाता था उसकी तुलना में भारत में दासों के साथ पूर्ण मानुषिक व्यवहार किया जाता था, अतएव विदेशी अमानुषिकता का अभ्यस्त राजदूत यहाँ मानुषिकता के आवरण में दासता को पहचान नहीं सका।

जातक कथाओं में भी इस प्रथा के ऊपर कुछ प्रकाश डाला गया है। विभिन्न जातकों में दासों के प्रति व्यवहार, उनके प्रकार आदि का उल्लेख है। अकाल पड़ने पर विभिन्न परिवारों के दास बन जाने का भी विवरण दिया गया है।[१]

ऊपर के सभी साक्ष्य उत्तरी भारत से ही सम्बद्ध हैं, अतएव इसी भाग की सामाजिक स्थिति का परिचय देते हैं। पर दक्षिणी भारत में भी यह व्यवस्था विद्यमान थी। विजयनगर से प्राप्त बहुत से अभिलेखों में इस प्रथा का उल्लेख किया गया है। इस भाग में भी अकाल के समय नीच परिवार के लोग दास बन जाते थे।

इस प्रकार ऋग्वैदिक काल से लेकर राजपूत काल तक किसी न किसी रूप में यह प्रथा बनी रही। मुसलमानों के शासन काल में इस प्रथा को 'गुलाम प्रथा' के नाम से संबोधित किया गया। मुसलमान बहुत से हिन्दुओं को विभिन्न कारणों से अपना गुलाम बना लेते थे। इस समय हिन्दू-काल की अपेक्षा इनके प्रति व्यवहार कटुता आ गई। यह अवस्था केवल भारत में ही नहीं थी विश्व की सभ्यताओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि दास वर्ग एक संगठित वर्ग के रूप में इस समय ही चला था।[२] अंग्रेजी भारत में भी यह व्यवस्था बहुत दिनों तक बनी रही। परन्तु सन् १८४३ ई० में भारत में ही केवल नहीं परन्तु विश्व की विभिन्न सभ्यताओं में इसके विरुद्ध अधिनियम पारित कर इसे रोक दिया गया।

प्रकार—ऊपर इतिहास पर विचार करते हुए जिन विभिन्न साहित्यिक साक्ष्यों का सहारा लिया गया उनमें अधिकांश ऐसे हैं जो दासों के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालते हैं। विदेशी सभ्यताओं में भी दासों के अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। लगभग नदी घाटी की प्रत्येक सभ्यता तथा भूमध्य सागरीय सभ्यताओं में

१ कटाहक जातक, उग्र जातक आदि।
२ एन आउटलाइन हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड—डेविस, पृ० २९२।

दासों के दो प्रकारों का ज्ञान—कृषक दास एवं युद्ध दास—बहुलता से होता है।[१] भारतवर्ष में भी पहले युद्ध दास की ही गणना दास के सम्बन्ध में की जाती थी क्योंकि आर्यों ने आर्येत्तर जातियों को अपने विस्तार में विजित किया और उन्हें दास बना लिया। परन्तु पीछे इसका व्यवहार लाक्षणिक रूप में होने लगा तथा परिस्थितिवश भी यदि कोई किसी को आत्मसमर्पण कर देता तो भी उसे दास की कोटि में ही परिगणित किया जाने लगा भले ही व्यवहार में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। इसी से अकाल के कारण उदर दासों की संख्या एवं अपराध के कारण दण्डप्रणीत दासों की संख्या में वृद्धि हुई। इसी प्रकार अनेक दासों के वर्ग का जन्म हुआ।[२]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दासों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है। प्रमुख रूप से ध्वजाहृत, आत्मविक्रयिन, उदर दास, अहितिक, दण्डप्र गीत आदि दासों का उल्लेख है।[३] ध्वजाहृत से अभिप्राय युद्ध में विजित व्यक्तियों से है जो दास बना लिए जाते हैं। ध्वज काटने का अथवा झुकाने का कार्य पराजय एवं समर्पण के समय ही किया जाता है। लगभग सभी विचारकों ने इस प्रकार के दासों को सदा दासों की कोटि में सर्वोपरि रखा है। आत्मविक्रयिन से अभिप्राय उस प्रकार के दासों से है जो धनाभाव के कारण अथवा अकाल पीड़ित होकर अपने को दूसरे के हाथ में बेंच देता है। अकाल के कारण दासों की संख्या में अभिवृद्धि का उल्लेख ऊपर नारद, कात्यायन आदि स्मृतियों एवं जातक कथाओं के प्रसंग में किया जा चुका है। दासी से उत्पन्न पुत्र भी दास ही होता था। चूंकि उसका जन्म दासी के उदर से होता था इसीलिए उसे उदर दास कहा गया है। यदि भारतीय न्यायविधान का अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात हो जायगा कि आदि काल से दण्ड का एक यह भी विधान रहा है कि अभियोगी को जिसके प्रति उसने अभियोग किया है उसे सौप दिया जाता था। यह व्यक्ति अभियोगी से अपनी हानि का बदला चुकाता था। इस प्रकार अभियोगी दास रूप में उस व्यक्ति के सम्मुख होता था। इसे दण्ड-प्रणीत दास की संज्ञा दी गई है।

मनुस्मृति में दासों के सात प्रकार का उल्लेख है।[४] इनमें सर्वप्रथम उल्लेख है युद्ध में विजित व्यक्तियों का जो दास बना लिए गए हैं। जो लोग पेट के लिए दास बनाए गए हैं उनका दूसरा स्थान है। तीसरे प्रकार के वह दास बताए गए हैं जो दासी के पेट से उत्पन्न हैं। इसी प्रकार शेष दास क्रम से क्रीत, दत्तक, परिग्रहीत तथा दण्डप्रणीत बताए गए हैं।

---

१ **ऑवर ओरिएन्टल हेरिटेज—विलड्यूरन्ट।**

२ **अर्थशास्त्र—कौटिल्य, III, १३।**

३ **वही**

४ **मनुस्मृति VIII, ४१५।**

दासों के प्रकारों में क्रमशः वृद्धि होती गई। नारद ने अपनी स्मृति में पन्द्रह प्रकार के दासों का उल्लेख किया है।[1] यह क्रमशः इस प्रकार हैं : दास गृह में जन्मा, लब्द्ध, उत्तराधिकार में प्राप्त, अकाल में रक्षित, मालिक से बचनबद्ध, ऋण के भुगतान के लिए प्रदत्त, युद्ध में बन्दी बनाया हुआ सैनिक तथा नागरिक, अपने को बेंचा हुआ, दासी के प्रेमपाश में बँधा हुआ, भोजन के लिए बना हुआ दास।

व्यवहारमयूख में कालिका-पुराण का एक उद्धरण अंकित है जिसमें दास के एक विचित्र प्रकार का वर्णन है। इसमें वह दत्तक पुत्र जो चूड़ा तथा उपनयन संस्कार से संस्कारित होने के बाद गोद लिया गया हो उसे भी दास की श्रेणी में ही परिगणित किया गया है।[2] यह प्रमाण स्पष्ट करता है कि दास से पुराणों के रचना काल में अभिप्राय उन सम्पूर्ण व्यक्तियों से लिया जाने लगा जो चाहे जिस किसी भी प्रकार अपनी जन्मजात स्वतन्त्रता से वास्तविक अथवा लाक्षणिक रूप से वंचित कर दिया गया हो।

पर एक मान्यता का ज्ञान दास बनाने के सम्बन्ध में हमें मिलता है। नारद तथा याज्ञवल्क ने समानरूप से कहा है कि अनुलोम वर्ण में ही दास बनाया जा सकता था प्रतिलोम में नहीं।[3] अर्थात् कोई भी उच्च वर्ण का व्यक्ति अपने से निम्न वर्ण वाले व्यक्ति को दास बना सकता है पर निम्नवर्ण का व्यक्ति उच्च वर्ण को नहीं (ब्राह्मण एक क्षत्री को अपना दास बना सकता था, इसी प्रकार क्षत्री और वैश्यों के भी सम्बन्ध में भी विधान था पर छत्री ब्राह्मण को तथा वैश्य क्षत्री को अपना दास नहीं बना सकता था।) इसी संदर्भ में कात्यायन की भी यह मान्यता अनुचित नहीं है कि सवर्ण में दास नहीं बनाया जा सकता है[4], अर्थात् एक ब्राह्मण, ब्राह्म को अथवा क्षत्री, क्षत्री को अपना दास नहीं बना सकता।

व्यवहार––प्राचीन काल में दासों के प्रति विश्व में बड़ा ही बुरा व्यवहार किया जाता था। श्री ब्रेस्टेड ने लिखा है कि 'दासों के प्रति बड़ा ही नृशंस व्यवहार किया जाता था तथा (इसके परिणामस्वरूप) समय-समय पर वह विद्रोही बन जाते थे जिससे सामान्य जनता का जीवन अरक्षित हो जाता था।'[5] ए गाइड टू दी डिपार्टमेन्ट आफ ग्रीक रोमन एण्टीक्वीटीज से इस बात का ज्ञान प्राप्त होता है कि दासों की भुजाओं पर उनके मालिकों के ठिकाने की मुहर लगी होती

---

१ नारदस्मृति, पृ० ७,२९।
२ व्यवहारमयूख।
३ नारद, ५,३१। याग० २,१८३।
४ कात्यायन ५,७२१।
५ एंशेन्ट टाइम्स––ब्रेस्टेड, पृ० ५६७–८।

थी।[१] यह दासों की दागने की प्रथा का परिचायक है। इनके साथ सम्पत्ति की तरह व्यवहार किया जाता था। यह किसी भी मन्दिर को दान में दिए जा सकते थे।[२] बाबुलोनिया के राजा हमूराबी ने अपनी विधान-संहिता में दासों के क्रय-विक्रय का वर्णन किया है।[३] इसी सभ्यता में 'दास तथा उसकी सम्पत्ति पर एकमात्र उसके स्वामी का अधिकार होता था जो इन्हें बेंच सकता था, ऋण के भुगतान में दे सकता था अथवा जब उनकी आवश्यकता नहीं समझता तो हत्या भी कर सकता था।[४] इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर संक्षेप में दासों के प्रति विश्व की विभिन्न सभ्यताओं में किस नृशंसता का व्यवहार किया जाता था, अनुमान लगाया जा सकता है।

परन्तु ठीक इसके विपरीत भारतीय समाज में जब दास थे उस समय भी विदेशी यात्री को इसका ज्ञान नहीं था यह सिद्ध करता है कि जितनी कटुता व्यवहार में इनके प्रति विदेशों में थी यहाँ उतनी ही सहृदयतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इससे परिचत हों कि विभिन्न समय में भारत में दासों के प्रति समाज में क्या व्यवहार किया जाता था।

वैदिक साहित्य में, विशेष रूप से ब्राह्मण तथा संहिता साहित्य के अध्ययन से दासों की स्थिति पर प्रकाश मिलता है[५]। संहिताओं के समय दासियाँ मन्दिरों में नर्तकी के रूप में दान दी जाती थीं। पुनः इसी साहित्य में जनक की एक कथा का वर्णन मिलता है जिसमें अपने गुरु याज्ञवल्क से ब्रह्मविद्या सीखने पर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए अपने को विदेहों के साथ दास रूप में उन्हें समर्पित किया।[६] इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि जहाँ विदेशों में दास एवं दासियों के प्रति कटु व्यवहार था वहाँ भारत में कितनी सहिष्णुता बर्ती जाती थी।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में यह उल्लिखित है कि यदि आकस्मिक मित्रों के आगमन के कारण घर में बना हुआ भोजन समाप्त हो जाय जिससे परिवार के लोगों को भोजन न मिल सके तो भी दासों को बिना भोजन कराए नहीं रहने देना

---

१ ए गाइड टू दि डिपार्टमेण्ट ऑफ ग्रीक रोमन एण्टीक्वीटिज, पृ० ११९।

२ वही, पृ० ७१।

३ हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑव दी वर्ल्ड, भाग १, पृ० ४९५।

४ आवर ओरिएण्टल हेरिटेज—विलडयूरेन्ट, पृ० २२९।

५ तैतरीय संहिता—VII, ५,१०,१।

६ वृहदारण्यक उपनिषद—II, ४,२३।

चाहिए। इसी गृह सूत्र के दूसरे स्थल पर यह बताया गया है कि दास एवं दासियों का कार्य था कि जब कोई अतिथि आवे तो वह उसका पैर धोवें।[1]

भारतवर्ष में सम्भवतः दासों को मत्यु-दण्ड नहीं दिया जाता था। मनुस्मृति में मृत्यु-दण्ड के सम्बन्ध में दासों की स्थिति पुत्रवत् बताई गई है।[2] जिस प्रकार साधारण अपराध पर पिता अपने पुत्र को दण्ड नहीं दे सकता उसी प्रकार स्वामी को भी अपने दास को सामान्यतया दण्ड नहीं देना चाहिए। इसी ग्रंथ में केवल कुछ परिस्थितियों में दासों को सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कम अधिकार प्राप्त होने का विवरण मिलता है। इसकी व्याख्या में हम धन एवं न्यायालय को ले सकते हैं। मनु तथा याज्ञवल्क ने समान रूप से कहा है कि दास, स्त्री तथा पुत्र को स्व-अर्जित धन पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं है।[3] पुनः दासों की गवाही का कोई महत्व नहीं दिया गया है। केवल विशिष्ट परिस्थिति में ही दासों की गवाही मानी जा सकती है।[4]

जातक ग्रन्थों में भी दासों के प्रति व्यवहार का वर्णन विभिन्न स्थलों पर किया गया है। कुछ स्थलों से दासों के प्रति निर्दयतापूर्ण व्यवहार का ज्ञान होता है। कट्टाहक जातक में 'ताड़ेत्वा, बंधेत्वा, लखणेन अंकेत्वा' आदि व्यवहार का वर्णन है।[5] पर सम्पूर्ण स्थल ऐसे ही नृशंस व्यवहारों का उल्लेख नहीं करते। उग्रजातक के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि एक मालिक के मरने पर उसके वियोग में उसकी दासियाँ विलाप करने लगीं। दूसरे जातकों में दासों की आवश्यकता पर स्वामियों का उनके घर जाने का विवरण है। एक दूसरे जातक में एक कथा आती है जिसमें एक पुरोहित एक यजमान से वरदान माँगने को कहता है। यजमान इस सम्बन्ध में अपने दास से सलाह करता है। दूसरे जातक में यह भी कहा गया है कि दास ही, परिवार के विषय में, अपने स्वामी का पूर्ण विवरण रखते थे। इस प्रकार यद्यपि कुछ स्थलों पर दासों के प्रति कटु व्यवहार का वर्णन जातक में मिलता है पर साधारणतया अनेक स्थल उनके प्रति पूर्ण समव्यवहार के द्योतक हैं। इनके प्रति जो कटुतापूर्ण व्यवहार का ज्ञान होता है वह भी विशेष रूप से परिस्थितिवश। इसीलिए सम्भवतः महाभारत के बकासुर कथा में यह विवरण दिया गया है कि स्वामी का दास पर पूर्ण अधिकार होता था। वह उसकी हत्या भी कर सकता था।

---

१ आपस्तम्ब गृहसूत्र ii, ४,९,११।

२ मनुस्मृति iii, २९९–३००।

३ वही, ४१५।

४ वही, १७०।

५ कट्टाहक जातक।

अशोक के अभिलेखों के आधार पर दासों के साथ बड़ा सहृदयपूर्ण व्यवहार का ज्ञान होता है। फिर भी अशोक इस व्यवहार को और भी अधिक सम बनाए रखने पर जोर देता था।[1] परन्तु अशोक के 'समपटपति दासभतकसि' की व्याख्या करते हुए श्री एस० के० दीक्षित ने लिखा है उस समय दासों के साथ सम्भवतः बड़ा ही दुर्व्यवहार होता होगा जिससे दूर करने के लिए अशोक ने 'समपटपति' (समान व्यवहार करना चाहिए) शब्द का प्रयोग किया है।[2] पर जातक साहित्य जिसके सम्बन्ध में ऊपर ही विवेचन किया जा चुका है कहीं भी उपर्युक्त कथन में निर्दिष्ट दुर्व्यवहार की ओर संकेत नहीं करता। इससे श्री दीक्षित का तर्क पूर्ण मान्य नहीं प्रतीत होता। पुनः इसके पूर्व ही इसके पितामह चन्द्रगुप्त के शासन काल का विदेशी राजदूत मेगस्थनीज का यह कहना कि यहाँ दास व्यवस्था नहीं थी यह सिद्ध करता है कि अशोक के पहले से ही दासों के प्रति पूर्ण मानवी व्यवहार होता था। यदि अशोक ने समता पर बल दिया तो इससे अन्यथा लेना समीचीन नहीं क्योंकि अशोक शासक था, राज्य की समृद्धि के लिए सदैव उचित गुणों पर बल देना उसका धर्म था।

इस प्रकार जहाँ अमेरिका तथा इंगलैण्ड के निवासी अफ्रीका के अर्ध-सभ्य लोगों को जहाजों में ठूँस-ठूँस कर बेंचते थे[3], दासों को कोड़े लगाए जाते थे, उनसे बेगार लिया जाता था तथा दोनों समय केवल जीवित रहने भर को अन्न दिया जाता था वहाँ भाई की तरह इनके प्रति व्यवहार वास्तव में मानवता की पराकाष्ठा है।

कार्य--विदेशों में दासों का प्रमुख कार्य कृषि करना था। इसी से सामाजिक विभाजन में कृषक दासों का एक अलग वर्ग ही बन गया था।[4] बाबुलोनिया में दासों को शारीरिक श्रम एवं व्यक्तिगत कार्य करना होता था।[5] पर भारत में दासों को सदा भृत्यों के साथ परिगणित किया गया, इसीलिए डा० भण्डारकर ने अपनी पुस्तक 'अशोक' में यह स्वीकार किया है कि दास उस समाज में नहीं थे बल्कि किराए के मजदूर थे।[6] इस प्रकार दासों का कार्य सम्भवतः वही था जो भृत्यों का। हाँ, इतना अवश्य है कि शूद्र एक अलग वर्ण था जो स्वतंत्र था और दास एक वर्ग था जिस पर स्वामी का अधिकार बहुत अधिक होता था। इस बात की पुष्टि ऋग्वेद से होती

१ १३वाँ शिलालेख।
२ एन इण्ट्रोडक्शन टु आर्किआलोजी, पृ० ८०।
३ हिस्ट्री ऑव हिन्दू धर्मशास्त्र, खण्ड २ भाग १, पृ० ८०।
४ विश्व की सभ्यताएँ--विमलचन्द्र पाण्डेय।
५ आवर ओरिएण्टल हेरिटेज, पृ० २२९।
६ अशोक (हिन्दू अनुवाद), भंडारकर, पृ० १८५।

है जहाँ यह वर्णन प्राप्य है कि दासों को दान दिया जाता था[१] पर शूद्रों के दान का कहीं वर्णन नहीं है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि शूद्र न दान दिए जा सकते हैं और न वेंचे ही जा सकते हैं।[२]

गृहसूत्रों में शूद्रों का कार्य अतिथियों का पादप्रक्षालन बताया गया है।[३] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में निम्न कार्यों के सम्बन्ध में दास एवं शूद्रों का समान वर्णन है।[४] सम्भवतः शूद्र एवं दासों की कार्य समता के कारण ही मेगस्थनीज शूद्र वर्ण एवं दास समुदाय के बीच कोई अन्तर नहीं स्थापित कर सका, इसीलिए दास-प्रथा के पूर्ण अभाव का उल्लेख किया है। अशोक ने भी सम्भवतः इसी समता के कारण दास एवं मृतक शब्दों का प्रयोग साथ-साथ किया है। नारद ने सेवकों की पांच श्रेणियाँ बताई हैं। इसमें दास एवं मृतक दोनों ही अलग-अलग रखे गए हैं। कुछ निम्न प्रकार के कार्य दासों को करने पड़ते थे यथा दरवाजा साफ करना, बदन दबाना, मलमूत्र साफ करना आदि।[५] नारद के इस विवरण को देखते हुए यह ज्ञात होता है कि दासों को व्यक्तिगत प्रत्येक कार्य करना होता था।

अधिकार—बाबुलोनियाँ में दास स्वतन्त्र स्त्रियों के साथ विवाह कर सकते थे और उनसे उत्पन्न सन्तानें पूर्ण स्वतन्त्र होती थीं।[६] भारत में शारीरिक दृष्टि से दास पूर्ण रूप से अपने स्वामी के अधीन होते थे पर आर्थिक दृष्टि से इनके अधिकारों का अध्ययन पूर्ण महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदानकी गई है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में यह उल्लेख किया है कि दासों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उनका सम्बन्धी होता है और उसके अभाव में मालिक हो सकता है।[७] इससे यह स्पष्ट है कि दास अपनी अलग सम्पत्ति रखते थे तथा उनके परिवार एवं सम्बन्धी स्वतन्त्र व्यक्तियों की तरह सम्पत्ति के अधिकारी होते थे। कात्यायन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि जब कोई व्यक्ति अपने को बेंच देता है तो वह कीमत एवं मूल्य जो दास रहने पर मालिक की कृपा से उसे मिलता है वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है।[८] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में दासों को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे।

---

१ ऋग्वेद, VII, ५६,३; VIII, १९,३६।
२ मनुस्मृति, I, ९१ ।
३ हिस्ट्री ऑव हिन्दू धर्मशास्त्र, खण्ड २ भाग १, पृ० १८२ ।
४ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, II, ११ ।
५ नारद, ६–७ ।
६ आवर ओरिएण्टल हेरिटेज, पृ० २२९ ।
७ कौटिल्य का अर्थशास्त्र ।
८ कात्यायन, पृ० ७२४ ।

मुक्ति—विश्व के इतिहास में दासों के मुक्ति का विधान कहीं नहीं है। पर यह बड़ी विचित्र बात है कि भारतीय इतिहास में दासों के मुक्ति का भी विधान है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को इस सम्बन्ध में हम सर्वप्रथम लेते हैं। इसके विधान के अन्दर जिस व्यक्ति ने धन के बंधक स्वरूप दासता को स्वीकार किया हो वह नियत रकम के भुगतान के पश्चात् स्वतन्त्र किया जा सकता है। जो व्यक्ति युद्ध में पराजित करके दास बनाया गया हो उसे उसके श्रम का आधा या पूरा रकम चुका देने पर स्वतन्त्र किया जा सकता है। यदि दासी के साथ स्वांमो का अनुचित सम्बन्ध स्थापित हो गया हो तो पुत्र उत्पन्न होने के वाद उसे भी स्वतन्त्र किया जा सकता है। नारद तथा याज्ञवल्य ने भी दासता से मुक्ति के सम्बन्ध में विचार किया है। दोनों इस बात पर एक मत हैं कि यदि दास स्वामी को किसी भीषण संकट से बचा दे तो वह दासता से मुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार विभिन्न विचारक दासों की मुक्ति के सम्बन्ध में सदा विचार करते रहे हैं। यह भारतीय विचारधारा बड़ी श्लाघनीय है जो प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल देती है।

दासों को मुक्त करने के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों में एक विशेष प्रकार की क्रिया का उल्लेख किया गया है जिसके बाद समाज के दासों को मुक्ति मिलती थी। मालिक जब अपने दास को मुक्त करना चाहता था तब एक बड़ा जन समुदाय एकत्रित करता था। उसके समक्ष जल पूर्ण एक घड़ा सिर पर लेकर वह दास जाता था तथा उसका मालिक एक डण्डे के प्रहार से उसे तोड़ देता था जिससे वह दास उस घड़े के जल से नहा जाता था। इस प्रकार के कार्य के बाद उसे सामाजिक रूप से मुक्ति मिल जाती थी और अब वह दास नहीं रह जाता था।

इस प्रकार पश्चिमो देशों की तरह भारतीय दासता के इतिहास में कहीं भी रक्तरंजक क्रान्ति का संदेश नहीं है। यह एक व्यवस्था थी जो पूर्ण उदार थी तथा बहुत दिनों तक चलती रही। अंग्रेजी भारत तक यह किसी न किसी रूप में बनी रही पर जनमत के विरोध के कारण १८४३ में इस व्वस्था के विरुद्ध कानून बनाकर इसे तोड़ दिया गया।

---o---

अध्याय १३

असपृश्यता

आज का भारतीय समाज कुछ विशिष्ट कुव्यवस्थाओं का दास बना है जो धीरे-धीरे चिर अतीत से अपना उग्र रूप धारण करती रहीं और इसकी दृढ़ता में बाधा होती गई। इन कुव्यवस्थाओं के दुष्परिणाम ने आधुनिक काल के पूर्व कोई इतना भीषण स्वरूप धारण नहीं कर लिया था कि इसकी ओर ध्यान आकृष्ट हो। पर जब अंग्रेज भारत में व्यापारी बन कर आए और शासक बन कर अपना अधिकार दृढ़ करने लगे तो उन्होंने सबसे पहले अपना ध्यान भारतीय परम्परा में व्याप्त उन दोषों की ओर केन्द्रित किया जिसके उभाड़ देने से भारतीय सदा अपनी संगठन खो बैठे और उनके हाथ की कठपुतली बन गये। अंग्रेजों की इसी क्रिया का परिणाम यह हुआ कि सामाजिक अव्यवस्थाएँ जो सुषुप्त स्थिति में पड़ी थी वह उमड़ पड़ी और भारतीय समाजशास्त्री, समाज सुधारक आदि का ध्यान तभी से इसकी ओर आकृष्ट हो गया। इन अव्यवस्थाओं में सबसे पहले जाति को हम ले सकते हैं जिसने संगठग की परम्परा में विभेद उत्पन्न कर दिया। इसी व्यवस्था में पीछे चलकर 'अस्पृश्यता' का जन्म हुआ जिसे हम 'अछूत' की संज्ञा भी देते हैं। यद्यपि वह जातियाँ अथवा वह सामाजिक वर्ग जिन्हें हम अछूतों के अन्दर गिनते हैं वैदिक काल से ही विद्यमान थे पर न उनको यह संज्ञा ही दी गई थी और न इस प्रकार का व्यवहार ही उनके साथ किया जाता था जो स्मृतियों के समय किया जाने लगा। अंग्रेजों ने इस परम्परा का स्वरूप उग्र बना दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि इन्हें पुनः हिन्दू समाज में अपनी पुरानी स्थिति में लाने के लिए महात्मा गांधी आदि समाज सुधारकों ने अथक परिश्रम किया। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी का नाम उल्लेखनीय है क्योंकि उन्होंने ही वह पहला कदम उठाया जिससे इनका उद्धार हो सके।

'अछूत' शब्द से ही जैसा स्पष्ट है उस व्यक्ति का बोध अफ्रीका में है जिसे छुआ न जा सके, यह भावना या व्यवस्था भारतीय विचारों या समाज की ही देन नहीं है पर पश्चिमी संस्कृति में भी अत्यन्त पुरातन काल से लेकर आज तक व्याप्त है। नीगरों (हब्शियों) और रेड इण्डियन्स (लाल भारतीयों) के प्रति अमेरिका के दक्षिणी भाग में और हब्शियों और भारतीयों के प्रति दक्षिणी अफ्रीका, नेटाल एवं ब्रिटिश अफ्रीका में यह व्यवस्था फैली थी। तो इसका स्वरूप वास्तव में अति उग्र बन गया था, क्योंकि इनके साथ यात्रा करना, इनकी सुविधा देना, इनको सहायता देना आदि सभी विवर्जित था जब कि भारत में इतना अमानु-

षिक व्यवहार नहीं किया जाता था। इसीलिए इसकी विभीषिका का ज्ञान महात्मा जी को सबसे पहले विदेशों में ही हुआ और वहीं से इसको तोड़ने का आन्दोलन भी उन्होंने प्रारम्भ किया जो भारत में भी चलता रहा।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि यह व्यवस्था दो नामों से संबोधित की जाती है अस्पृष्यता अथवा अंछूत। दोनों के आदि में 'अ' लगा है। 'अ' का अर्थ नहीं का होता है, अतएव शब्दार्थ से ही स्पष्ट है कि इस व्यवस्था से अभिप्रान्न है छू जाने के भेद से। इस प्रकार के छूत का अभिप्राय विशेष स्पष्ट रूप से, १९५५ से अस्पृश्यता निरोध विधेयक में अपने तत्कालीन प्रचलित स्वरूप में वर्णित है। इस विधेयक के अनुसार— "अस्पृश्यता के आधार पर किसी भी व्यक्ति को निम्नांकित आधार पर यदि रोका जाय तो वह दोषपूर्ण है: (अ) किसी सार्वजनिक धार्मिक स्थान पर प्रवेश में रोक-टोक करना, (ब) किसी पवित्र तड़ाग, कुआँ, झरना या जल-स्रोत को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करने से रोकना, (स) दूकान, होटल, जलपानगृह, मनोरञ्जन स्थल, आवागमन के साधन, औषधालय, शिक्षण संस्थाओं अथवा दातव्य संस्थाओं में जाने से रोकना।" इस प्रकार छूत अथवा अस्पृश्यता का अर्थ इस व्यापक व्याख्या द्वारा स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने अस्पृश्यता का अर्थ बताते हुए कहा है—

"अस्पृश्यता समाज की वह व्यवस्था है जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, या एक समाज दूसरे समाज को परम्परा के आधार पर छू नहीं सकता, अगर छूता है तो स्वयं अपवित्र हो जाता है, और इस अपवित्रता से छूटने के लिए उसे कोई छूता है तो स्वयं अपवित्र हो जाता है और इस अपवित्रता से छूटने के लिए उसे कई प्रकार का प्रायश्चित करना पड़ता है"[1]

अब दोनों ही परिभाषाओं के द्वारा अछूत अथवा अस्पृश्यता से क्या अभिप्राय आधुनिक समाज में लिया जाता है स्पष्ट हो जाता है। पुरातन काल में भी इसी प्रकार की मान्यताएँ इनके सम्बन्ध में थीं। अन्तर केवल अतीत एवं आज के युग में इतना ही मात्र रहा कि कठोरताएँ तो आज व्यावहारिक रूप तनी उग्रता पा गई वह अतीत में नहीं थीं, इनका स्वरूप केवल सैद्धान्तिक था।

ऐतिहासिक सर्वेक्षण—ऐतिहासिक सर्वेक्षण के क्रम में जब सम इस व्यवस्था की चिरपुरातनता का अध्ययन करते हैं तो सर्व प्रथम हमारा ध्यान अपने अपौरुषेय एवं आदि ग्रंथ वेद पर जाता है। पूरे वैदिक साहित्य में कहीं भी अन्त्यज, अस्पृश्य, अछूत आदि शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रकार के उल्लेख का अभाव

---

१. **भारत की जनजातियाँ तथा संस्थाएँ, प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार।** पृ० ३५८,

यह प्रकट करता है कि इस प्रकार की व्यवस्था का इन्हें ज्ञान नहीं था। पर इस साहित्य में ऐसे व्यावसायिक वर्गों का कुछ नामोल्लेख है जिन्हें स्मृतिकारों ने अस्पृश्य बताया है। यह कथन केवल यही अर्थ रखता है कि वैदिक साहित्य में ही इस व्यवस्था के स्वरूप का बीजारोपण हो चुका था जो पीछे मुखरित हुई परन्तु वैदिक युग इससे फिर भी अनभिज्ञ रहा। 'चर्मन' शब्द जिसका प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है तथा जिसका अर्थ चमार होता है तथा 'वप्ता' जिसका भी प्रयोग ऋग्वेद में आया है इसका अर्थ नाई होता है यह सिद्ध करता है कि अन्त्यज जातियाँ इस समय विद्यमान थीं पर इन्हें अन्त्यज नाम से सम्बोधित नहीं किया जाता था। इसी प्रकार चाण्डाल, पुल्कस तथा वासःपलपुली शब्दों का प्रयोग वाजस्नेय संहिता में किया गया है जिन्हें स्मृतिकारों नें अन्त्यज बताया। वासःपलपुली का अर्थ धोबी से है। तैतरीय ब्राह्मण भी इसी प्रकार विदलकार का उल्लेख करता है जिसे स्मृतिकारों ने अन्त्यज माना है। उपर्युक्त कथन की सार्थकता इन प्रमाणों से पूर्ण स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। छान्दोग्य उपनिषद में यह कहा गया है कि जो महान पाप के भागी बनते हैं वह दूसरे जन्म में सूअर, कुत्ता अथवा चाण्डाल का जन्म धारण करते हैं।

महाकाव्यों के ऊपर जब हम ध्यान देते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अन्त्यज' प्रथा इस समय समाज में प्रचलित हो गई थी। रामायण में जहाँ गुह का विवरण मिलता है वहाँ अछूत का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है क्योंकि राम ने गुह का भोजन नहीं किया पर उसका आलिंगन मात्र ही केवल किया। आलिंगन करने का भी एक विशेष कारण था क्योंकि गुह ने जो उनके प्रति उपकार किया था उसके कृतज्ञता के ज्ञापनार्थ इतना करना आवश्यक था। गुह का भोजन राम ने नहीं किया यह गुह की अस्पृश्यता का द्योतक है। पुनः यदि हम महाभारत के शान्ति पर्व का अध्ययन करें तो उससे भी अन्त्यज व्यवस्था का ज्ञान हो जाता है क्योंकि इसमें उल्लिखित है कि चाण्डालत्व से इस जीवन में मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती।

जातक कथाएँ जो तत्कालीन समाज की स्थिति का चित्रण करती हैं अन्त्यज व्यवस्था का उल्लेख करती हैं। इनके विवरण से यह ज्ञात होता है कि इस समय यह व्यवस्था अपने पूर्ण विकसित स्वरूप में विद्यमान थी। चाण्डालों की स्थिति मानव समाज में सबसे निम्न प्रकार की बताई गई है। इनके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध अपवित्र माना जाता था। यह नगर से बाहर, आर्य बस्ती से दूर अपनी निज की एक बस्ती बसाते थे। इनकी जीविका शिकार करने, झाड़ू लगाने तथा शौच साफ करने पर चलती थी। यह केवल अन्त्यज ही नहीं थे पर इन्हें देखना भी घृणित माना जाता था। एक जातक कथा में एक सेठ की कन्या का उल्लेख मिलता है जो भोजन ला रही थी। उस भोजन को चाण्डाल ने देख लिया था, इसलिए सेठ की कन्या ने भोजन को फेंक दिया तथा उसके दर्शन से पवित्रता प्राप्त करने के कारण उसने अपनी आँखें

धो लीं। यह क्या चाण्डालों अथवा दूसरे शब्दों में अन्त्यजों की स्थिति और उनके प्रति किए जाने वाले सामाजिक व्यवहार को व्यक्त करती है।

राजतरंगिणी के अनुसार अछूतों को राज दरबार में प्रवेश निषिद्ध था। राजा को छोड़ कर उसे दूसरे व्यक्तियों से बात करने का अधिकार भी नहीं था। साधारणतया राजा सभाभवन के बाहर से ही अछूतों की कठिनाइयाँ सुनता था। इसके जिम्मे वही काम था जिनका वर्णन जातकों में किया गया है। फिर भी निर्दय राजा अपने महलों में अछूत कन्याओं को रखते थे। इसका स्पष्ट प्रमाण राजा चक्रवर्मन है जिसने अपने राज्यमहल में एक डोम की कन्या को रखा था जिसके साथ वह प्रेम में फँस गया था। पर इस प्रकार का वर्णन बहुत ही कम प्राप्य है। मन्दिर में यह बिलकुल ही प्रविष्ट नहीं हो सकते थे। उनके द्वारा प्रयुक्त पात्र दूसरा कोई भी प्रयोग में नहीं ला सकता था। इस प्रकार ऊपर जो अर्थ निर्देशित करते हुए अछूत शब्द की व्याख्या इसके निरोधक अधिनियम में की गई है उसका स्वरूप इसी समय पूर्णरूपेण विद्यमान हो चुका था।

पाणिनी के अष्टाध्यायी एवं पातंजलि के महाभाष्य के अध्ययन से दो प्रकार के शूद्रों की स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है: एक को निर्वासित तथा दूसरे को अनिर्वासित की संज्ञा दी गई है। सम्भवतः निर्वासित ही अन्त्यज थे क्योंकि अन्त्यज, जैसा ऊपर बताया जा चुका है नगर के बाहर रहते थे। इसीलिए सम्भवतः निर्वासित की संज्ञा दी गई।

स्मृतिकारों के अनुसार केवल चार वर्ण ही संसार में हैं पाँचवाँ वर्ण नहीं। मनु के अनुसार प्रतिलोम विवाह के कारण जिस संतति का जन्म होता है वह शूद्र के समान होता है, उसे शूद्र वर्ण में ही परिगणित करते हैं। यही अवैध सम्बन्ध अन्त्यज व्यवस्था को जन्म दिया। स्मृति ग्रंथों में अन्त्यजों की जातियाँ, इनके प्रति विधान, इनके मुक्ति के उपाय, उद्भव के कारण आदि पर विचार किया गया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण हिन्दू भारत में यह व्यवस्था अपनी दृढ़ स्थिति में बनी रही। मुसलमानी काल तथा अंग्रेजों के समय इसने विशेष उग्र रूप धारण कर लिया था क्योंकि इनकी नीति थी हिन्दुओं में भेद डाल कर शासन करना। हिन्दू धीरे-धीरे इनके सांस्कृतिक व्याघातों से बचने के लिए अपने धर्म में कट्टर होते गए और इसी के परिणामस्वरूप यह व्यवस्था इतनी उग्र बन गई कि महात्मा गांधी को इसके लिए हरिजन आन्दोलन छेड़ना पड़ा एवं सुधारवादी आन्दोलन के नेताओं को विभिन्न व्यवस्थाओं द्वारा इसके बहिष्कार का प्रयास करना पड़ा। इस सम्बन्ध में स्मरणीय है हरिजन मन्दिर प्रवेश।

वर्ण निर्णय—जब हम अन्त्यजों के विषय में यह निश्चित करने लगते हैं कि यह किस वर्ण के हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह शूद्रों की कोटि में ही परिगणित

किए जा सकते हैं क्योंकि अंगिरस स्मृति स्पष्ट रूप से कहती है कि चाण्डाल शूद्र वर्ण के थे। पुनः इसके सन्दर्भ में जहाँ मनुस्मृति अन्त्यज पर विचार करती है वहाँ स्पष्ट कहती है कि प्रतिलोम विवाह से आविर्भूत संतति भी शूद्र में परिगणित की जाती है और वही अन्त्यज कहलाती है। यह पीछे विभिन्न व्यवसाय करने लगे जो इनके वंशजों ने भी अपनाया और उस आधार पर आधारित इनका नाम परम्परागत रूप में अन्त्यज कहलाने लगा। चूँकि अन्त्यज नगर से बाहर रहते थे इसलिए पाणिनी एवं पातंजलि ने शूद्रों की दो श्रेणियों का उल्लेख किया है, निर्वासित एवं अनिर्वासित। इन सभी विवरणों से यही स्पष्ट होता है कि अन्त्यज शूद्र वर्ण के थे।

अन्त्यज जातियाँ—स्मृतियों में मछुआ, रजक, चर्मकार, बुरुड, अधार्मिक जन्मजात, लाल वस्त्र के बुनने वाले, वढ़ई, भिल्ल, आभीर, म्लेक्ष आदि जातियों को अन्त्यज बताया गया है। कुछ विशिष्ट स्मृतियों में मूर्ख, असन्तुष्ट, दीर्घ घृणित, कृतघ्न आदि का भी इनमें उल्लेख है। किन्हीं स्मृतियों में पितृहन्ता एवं मातृहन्ता को भी अन्त्यज बताया गया है। अत्री (१९९) ने रजक, कर्मकार, नट, बुरुड (बंसफोर), कैवर्त (मछुआ), मेद, भीलआदि का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति (III, २६०) पर टीका करते हुए मिताक्षरा में दो प्रकार के अन्त्यजों का उल्लेख किया है। एक श्रेणी में अत्री द्वारा वर्णित अन्त्यजों का नाम है तथा दूसरी श्रेणी में चाण्डाल, स्वपच (स्वान का मांस खाने वाला), शत्रू, सूत, वैदेहिक, मागध और आपोगव। इसी प्रकार वेदव्यास स्मृति में वारह प्रकार के अन्त्यजों का वर्णन है और सभी गोमांस भक्षी बताए गए हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (१०१, १९) में अन्त्यज सैनिकों का वर्णन है। इसकी व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ ने बताया है कि अन्त्यज सैनिक सीमाप्रदेश के कैवर्त एवं भील जाति के थे।

उद्‌भव के कारण—यदि समाज में अछूतों के सम्बन्ध में अध्ययन किया जाय तो केवल वही लोग इस कोटि में परिगणित नहीं किए जा सकते जो वंशानुगत अछूत हैं, पर गाँवों में प्रायः यह होता है कि कुछ विशेष कारण से किसी व्यक्ति के साथ वहाँ के लोग खाना, पीना, हुक्का, पानी आदि बन्द कर देते हैं और उन्हें अन्त्यज मानने लगते हैं। पुनः दैनिक जीवन में अपने ही घरों में जहाँ धर्म के प्रति व्यक्ति के मन में थोड़ी भी आस्था होती है वहाँ मासिक धर्म से युक्त स्त्री को एवं उसके छूने वाले को अशौच मान कर उसको शुचि होने तक अछूत ही माना जाता है। इसी प्रकार व्यावहारिक जीवन में अछूत की भावना केवल जन्मजात अछूतों तक ही सीमित नहीं रहती। यदि गृह-सूत्र एवं स्मृतियों का अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि निम्नांकित कारणों से कोई भी व्यक्ति अछूत माना जाता है—

(१) जिन परिवारों को समाज अछूत मानता है उनमें जन्म लेने वाला अछूत की श्रेणी में परिगणित किया जाता है।

(२) कुछ महान पातकी अपराध, जैसे ब्रह्महत्या, ब्राह्मण अथवा हिरण्य की चोरी आदि, करने पर अपराधी को नगर बहिष्कृत होने का दण्ड दिया जाता था। ऐसे लोग अछूत माने जाते थे। (मनुस्मृति IX, २३५-९)।

(३) जब दो धर्म वालों का परस्पर विरोध होता है तो एक धर्माव-लम्बी दूसरे को अछूत मानता है जैसे बौद्ध धर्मावलम्बी जैनियों को तथा जैन धर्माव-लम्बी बौद्धों को। (स्मृतिचन्द्रिका I, पृ० ११८, ब्रह्माण्ड पुराण के आधार पर)

(४) कुछ विशिष्ट व्यवसाय करने वालों को अछूत माना जाता है जैसे रक्त वर्ण के वस्त्र बनाने वाले को। इस प्रकार की बात किसी सीमा तक ही वर्तमान समाज में भी प्राप्त है।

(५) कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में जब कोई व्यक्ति अशौच हो जाता है तो उसे शुचि होने तक अछूत ही मानते हैं। इस सम्बन्ध में हम देखते हैं कि मासिक धर्म से संयुक्त स्त्री को छूने वाला व्यक्ति अथवा लड़का होने के दस दिन के अन्दर स्त्री को छूने वाला व्यक्ति अशुचि माना जाता है जो कुछ निश्चित क्रियाएँ करने के बाद ही शुचि होता है। अतएव अशुचि की अवधि में उसे अछूत माना जाता है।

(६) ऐसे मुहल्लों में रहने वाले व्यक्ति भी अछूत माने जाते हैं जिनमें केवल अछूतों की ही बस्ती हो।

(७) अपरार्क ने पृ० ११९६ में संवर्त का उद्धरण उद्धृत करते हुए बताया है कि कुछ निम्न प्रकार के व्यवसाय करने वाले व्यक्ति यथा मछुआ, पासी, कसाई आदि अछूत माने जाते हैं।

(८) मनु, याज्ञ०, आप० आदि के आधार पर जब एक द्विज किसी भी निम्न वर्ण के सम्पर्क में आता है तो वह अछूत बन जाता है। पानी छिड़कने के बाद ही वह शुद्ध बनता है।

(९) ऊपर व्याख्या करते हुए हमने देखा है कि छान्दोग्य उपनिषद में बताया गया है कि कुत्ता, सूकर एवं चाण्डाल सभी समान हैं। इसलिए एक के ऊपर जो बात सिद्ध होती है वह लाक्षणिक रूप से दूसरे के ऊपर भी लगती है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (I.५,१५–१६) में यह कहा गया है कि कुत्ते द्वारा छू जाने पर व्यक्ति अछूत हो जाता है। स्नान करने के बाद ही वह स्पृश्य बन पाता है। इससे यह अभिप्रेत है कि अछूतों के सम्पर्क से भी व्यक्ति अछूत होता है और स्नान करने के बाद ही छूत बनता है।

इस प्रकार ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यह एक जन्म सम्बद्ध व्यवस्था नहीं है, पर नैतिक बन्धन है जो नैतिकता की दृष्टि से मानव के उत्पादन के लिए धर्म निरूपित करती है। अल्बेरूनी (अनु० सचन खण्ड १ पाठ ९) ने अन्त्यजों

को दो श्रेणियों में विभक्त किया है : एक उच्च, दूसरे निम्न। उच्च अन्त्यजों में आठ प्रकार के लोगों को परिगणित करता है, यथा: चर्मकार, रजक, नट, मछुआ। निम्न प्रकार को कोटि में चार प्रकार के लोगों को परिगणित करता है : डोम, चाण्डाल, हाडी, भदतो।

व्यवहार—ऊपर हमने यह स्पष्ट किया है कि शूद्रों के ही एक वर्ग को अछूत माना जाता था। मनुस्मृति VIII, २७९ में शूद्रों के ही सन्दर्भ में अछूत का प्रयोग करता है। इसलिए इनके प्रति जो व्यवहार किया जाता था वह शूद्रों से भी निम्न प्रकार का होता था। मनुस्मृति IV, १३८ के अनुसार जानते हुए किसी भी अछूत को देवता, गुरु, स्नातक, उपाध्याय, याज्ञिक एवं राजा की परछाहीं नहीं छूनी चाहिए। इस कथन से यह अभिप्रेत है कि अछूतों को उच्चकुल जन्मना एवं समादृत व्यक्तियों के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए। अपरार्क ने (पृ० २७५) यह बताया है कि गौ की पूँछ की दूरी पर यदि चाण्डाल रहे तो कोई रास्ता चलने वाला द्विज अपवित्र नहीं होता है पर इससे कम दूरी होने पर अपवित्रता आ जाती है। सड़क पर चलने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में याज्ञवल्क ने बताया है कि जब चाण्डाल किसी सड़क पर चला जाता है तो सड़क अपवित्र हो जाती है पर पञ्चक्षितियों की कृपा से ही वह पुनः पवित्र होती है (याज्ञ० I, १९४)। इसी प्रकार याग० (I, १९७) ने कहा है कि जन-पथ पर पानी तथा घरों का ईंट जब चाण्डाल द्वारा छू लिया जाता है तो अपवित्र हो जाता है पर यह पुनः हवा लगने से पवित्र हो जाता है। गौतम तथा याज्ञवल्क के अनुसार चाण्डाल चारों वर्णों से इतर हैं, इसलिए वैदिक संस्कार से सस्कारित नहीं हो सकते। मनु०(IX, २३५–९) के अनुसार किसी को भी अछूत के साथ भोजन नहीं करना चाहिए और न उसे पढ़ाना चाहिए अथवा न उसका पुरोहित होना चाहिए, अथवा न उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। इसीलिए गौतम (IV, २०) ने प्रायश्चित का उल्लेख उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में किया है जो अछूत के साथ खाते-पीते हैं, उठते-बैठते हैं एवं भोगविलास करते हैं। अपरार्क ने (पृ० ९२३) बृद्ध याज्ञवल्क के आधार पर यह कहा है कि जो कोई भी अछूत को छू लेता है वह महापातकी हो जाता है तथा गीले कपड़े से शरीर पोंछने के बाद हो शुद्ध होता है। इसी प्रकार आपस्तम्ब धर्म-सूत्र (II, १,२,८) के अनुसार चाण्डाल को छू लेने पर छूने वाले को जल में स्नान करने पर, उससे बात करने वाले को तत्काल बाद ब्राह्मण से बात करने पर, उसे देखने वाले को तत्काल नक्षत्रों को देखने पर पवित्रता मिलती है। इसलिए मनु ने कहा है कि आन्ध्र, मेड़, चाण्डाल, स्वपच को नगर के बाहर रहना चाहिए। यदि गुप्तकालीन संस्कृति का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त काल में अन्त्यजों की अलग बस्तियाँ थीं और वह नगर के बाहर रहते थे। जब नगर के सड़क पर चलते थे तो घंटी बजाते चलते थे जिससे यात्री दूर हट जायँ। पुनः हारीति के आधार पर अपरार्क

(पृ० २७९) ने कहा है कि यदि अछूत से किसी का कोई अंग छू जाय तो जल छिड़कने के बाद ही उसे पवित्र किया जा सकता है। विष्णु धर्मसूत्र के (v, १०४) अनुसार यदि एक अछूत जानबूझ कर किसी द्विज को छू लेता है तो उसे द्विज को अधिकार है कि उसको पीटे। याज्ञवल्क (II, २३४) ने इसी अपराध पर १०० पण का दण्ड बताया है। जब अन्त्यज किसी भी प्रकार के धार्मिक कार्य से वंचित थे तब यह विधान था कि यह भैरव का मन्दिर बना सकते हैं तथा अवतारों की उपासना कर सकते हैं। भागवत महापुराण (x, ७०,४३) ने हरी के नाम लेने का इन्हें अधिकार दिया है। परन्तु भगवत यास्क ने यह बताया है कि विष्णु की मूर्ति का दर्शन तथा विष्णु के मन्दिर में प्रवेश अन्त्यजों के लिए निषिद्ध था।

यह व्यवस्था पीछे तक चलती रही। यदि हम डा० घुर्ये का 'कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया' का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि अछूतों को किसी विशिष्ट प्रकार का चिन्ह अपने गले अथवा कलाई पर लगाना पड़ता था, अधिकतर काला डोरा, जिससे सामान्य जनता उन्हें आसानी से पहचान ले कि यह अछूत हैं। यह व्यवस्था पेशवाओं के राज्य में प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी इस समय आज्ञा दी गई थी कि अधिकतर सड़क पर चलते समय कमर में झाड़ बाँध कर ही चलें और अपने पीछे जो पद चिन्ह छोड़ते जायँ उसे झाड़ से मिटाते चलें जिससे उनके पद चिन्हों को छू कर कोई द्विज अपवित्र न हो जाय। इसी प्रकार पूना में यह व्यवस्था थी कि अछूत सड़कों पर चलते समय गले में हाँड़ी बाँध कर चलें जिससे उसी में थूकें। इसका कारण यह था कि उनका थूक सामान्य जन समुदाय को न छू जाय। इसीलिए श्री पाणिक्कर ने लिखा है कि अस्पृश्यता के साथ जातिगत दासता सम्बद्ध थी क्योंकि अछूतों की बस्तियाँ किसी न किसी गाँव से सम्बद्ध कर दी जाती थीं।

छूट एवं अछूतोद्धार—ऊपर हमने अस्पृश्यता के उद्भव के सम्बन्ध में विचार करते हुए देखा है कि कारण विशेष से समय विशेष के लिए कोई व्यक्ति अस्पृश्य हो जाता था। उससे छुटकारा पाने के सम्बन्ध में भी हमने विचार किया है कि साधारणतया जल छिड़कने से, स्नान से तथा प्रायश्चित से तात्कालिक प्राप्त अस्पृश्यता दूर की जा सकती है। यह एक प्रकार की अस्पृश्यता का स्वरूप है।

दूसरे वह जातियाँ तथा परिवार जो व्यवसाय एवं जन्म के कारण अस्पृश्य मान लिए गए हैं उनके सम्बन्ध में हमारे यहाँ शास्त्रकारों ने यह बताया है कि यदि कुछ विशेष परिस्थितियों में द्विज से उनका सम्पर्क हो जाय तो वह द्विज अपवित्र नहीं हो सकता। अत्री (v, २४९) के अनुसार यदि कोई द्विज देवयात्रा, विवाह, यज्ञ अथवा उत्सव में किसी अछूत से छू जाय तो द्विज अस्पृश्य नहीं हो जाता। इसी प्रकार स्मतिचन्द्रिका में (I, पृ० ११९) शतातप को उद्धृत कर यह कहा गया है

कि घर के जलते समय, शत्रुओं द्वारा नगर के घेरे जाने पर, सैन्य शिविर में, जलयान में तथा विषम परिस्थिति में यदि कोई द्विज अन्त्यज के सम्पर्क में आ जाय तो वह अछूत नहीं बनता। यही बात पुनः वृहस्पति ने भी दुहरायी है। इनके अनुसार पवित्र स्थान पर, वैवाहिक यात्रा में, धार्मिक यात्रा में, युद्ध काल में, विदेशियों के नगर पर आक्रमण करते समय अथवा जब आग लग गई है तो अछूत द्वारा छू जाने में कोई दोष नहीं है।

यह हुई अस्पृश्यों के सम्पर्क में छूट की बात। पर साथ ही दूसरी ओर इस व्यवस्था के विरुद्ध उद्धार आन्दोलन चल रहा है। सर्वप्रथम इस आन्दोलन का प्रादुर्भाव बौद्ध काल से हुआ। भगवान बुद्ध ने कहा था कि जाति-पाँत एवं वर्ण किसी को भी मोक्ष प्राप्त करने में बाधा नहा उपस्थित कर सकते। इसकी पुष्टि उपाली से होती है। उपाली नाई था, जिस जाति को हम अछूत मानते हैं, पर वह भगवान् बुद्ध का प्रिय शिष्य था। फिर पीछे संतों ने, जैसा कि रामानुजाचार्य, रैदास, कबीर आदि के काव्यों से ज्ञात होता है, इस व्यवस्था पर बल दिया। इसके बाद आर्यसमाज, महात्मा गांधी, ईसाई धर्म प्रचारक एव सरकार ने भी समय-समय पर बल देना इस कार्य में प्रारम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि केवल भारत में ही नहा बल्कि विश्व में इस व्यवस्था का उन्मूलन होने लगा। आशा है शीघ्र ही यह व्यवस्था समाप्त हो जायगी।

यह सुधारवादा आन्दोलनों का क्रम इसलिए चालू रहा और इसके अन्त तक चालू रहेगा कि इस व्यवस्था में बहुत अधिक दोष हैं। इसके द्वारा पारस्परिक विरोध, वर्ग भेद की भावना, आपसी फूट के द्वारा राजनीतिक असहयोग, हिन्दू धर्म के विनाश की जड़, विदेशा अधिकारों के स्वागत की सम्भावना, उन्नतिशील भविष्य में बाधा प्रत्येक दृष्टि से सम्भव हो सका है। भारतीय संस्कृति पर विदेशी संस्कृतियों का संघात भी इन्हीं के कारण सफलता प्राप्त कर सका क्योंकि दबा हुआ यह वर्ग किसी भी विकास के मार्ग को तत्काल स्वीकार कर लेता था।

—o—

अध्याय १४

वेश्या

(पुरातन विश्व में)

आज वेश्यावृत्ति पर जो इतनी आलोचना हो रही है वह वर्तमान युग की कोई अपनी देन नहीं है। परन्तु सभ्यता के चिरपुरातन काल से ही यह व्यवस्था समाज में अपने विभिन्न स्वरूपों में, भारत में ही केवल नहीं परन्तु विश्व के विभिन्न भागों में व्याप्त थी। वेश्या शब्द से हमें केवल वारांगना तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए परन्तु इस प्रकार के कार्य करने वाली विभिन्न नारियों को भी इसी व्यवस्था के अन्तरगत समझना चाहिए जैसा कि नारद ने (७२, ७९) इस कोटि में रण्डी, दासी, वह स्त्री जिसे पति से कोई अधिकृत सम्बन्ध न रह गया हो, रखेलिन तथा विलासी स्त्री आदि की गणना किया है।

संसार में सभ्यताओं का उद्भव नदी घाटियों में ही सबसे पहले हुआ। भारत की बात छोड़ कर यदि विश्व की पुरानी सभ्यताओं का अध्ययन करें अर्थात् मिस्र की सभ्यता का तो यह ज्ञात होता है कि इस समय दास प्रथा बड़ी विकसित स्थिति में थी और दास के साथ दासी भी होती थीं जो अधिकतर मालिकों से ही सम्बन्धित होती थी। इसी से इतिहासकारों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि पुरातन मिश्र में वेश्यावृत्ति प्रतिष्ठित थी।[1] इसी प्रकार बाबुलोनिया की सभ्यता, जिसका अभ्युदय दजला-फरात की घाटी में हुआ, धर्म के क्षेत्र में अथवा धर्म के नाम पर इस व्यवस्था के प्रचलन को बल देती है। उस समय जिन स्त्रियों को संतान नहीं होती थी वह अपने को इशतर के मन्दिर में दान कर देती थीं तथा वहाँ पुरोहित दूसरे व्यक्ति से धन लेकर इनका सम्बन्ध सीधा उससे करा देते थे और इस प्रकार जिस संतान का जन्म होता था वह दैव कृपा के परिणामस्वरूप माना जाता था। इसके अतिरिक्त मन्दिर वेश्याएँ भी इस समय रखी जाती थीं तथा मन्दिर के आय के जितने भी केन्द्र होते थे यथा दूकान आदि उन सभी का संचालन इन्हीं के हाथों सौंप दिया जाता था। इस प्रकार बाबुलोनियाँ की सभ्यता में यह सामाजिक प्रथा अपने विविध विकसित स्वरूप में विद्यमान थी।[2] इसीलिए हेरोडोटस ने लिखा है कि प्रत्येक निर्धन पिता अपनी पुत्री

१, विश्व की सभ्यताएँ---विमलचन्द्र पाण्डेय, पृ० ५३।

२ वही, पृ० ७६–७७।

को द्रव्य के लिए वेश्या बना सकता था। फिनीशिया की सभ्यता में भी धार्मिक कार्यों में विलासिता और कामुकता का समावेश था।[१] इसी प्रकार का ज्ञान एशिया, इजराइल, सीरिया आदि देशों से मिलता है। यदि रोम की सभ्यता का अध्ययन करें तो पुरातन काल में वहाँ भी यह व्यवस्था विद्यमान थी।[२]

अर्थ—वेश्या शब्द से साधारणतया अभिप्राय उन स्त्रियों से है जिनका उपयोग पैसा देकर स्वच्छन्दता पूर्वक कोई भी व्यक्ति कर सके। इसी प्रकार ऋग्वेद में विश शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों पर किया गया है। प्रत्येक स्थान पर इससे अभिप्राय है सामान्य पुरुष से। अतएव वेश्या शब्द जिसका अभिप्राय ऊपर ही हमने देखा है कि सार्वजनिक स्त्री से है अवश्य ही 'विश' से बना होगा। याज्ञवल्क ने स्कन्दपुराण के आधार पर यह कहा है कि वेश्या प्रथा का आविर्भाव अप्सराओं से हुआ जिन्हें पञ्चचूड़ा कहते थे।[3] इससे भी यही सिद्ध होता है कि यह सार्वजनिक स्त्रियाँ होती थीं जैसे अप्सराएँ।

ऐतिहासिक विकास—यह व्यवस्था भले ही अपने वास्तविक रूप में भारत में चिरपुरातन काल में न जानी-पहचानी जाती हो पर इसका स्वरूप नहीं था ऐसा हम किसी भी आधार पर स्वीकार ही नहीं कर सकते। ऋग्वेद में इस प्रकार के अनेक स्थल हैं जहाँ यह विवरण मिलता है कि स्पष्ट एवं गुप्त रूप से पुरुष परस्त्री से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करते थे जो समाज को विदित होता था। इस सम्बन्ध में मरुत का उदाहरण हम ले सकते हैं जिसने शुभ्र वर्ण की कन्या (तड़िता) के साथ प्रेम व्यापार स्थापित कर लिया था।[४] इस प्रकार के अनेक ऋग्वैदिक विवरण हमें काणें के हिन्दू धर्म शास्त्र से मिलता है।[५] इस प्रकार का ज्ञान एक दूसरी ऋग्वैदिक ऋचा से भी होता है जिसमें एक स्त्री का वर्णन मिलता है जो बालक को एकान्त में प्रजनित कर फेंकती है।[६]

महाभारत में इस प्रकार के अनेक वर्णन प्राप्य हैं जिससे इस व्यवस्था को बल मिलता है। आदि पर्व में एक स्थल पर यह वर्णित है कि गांधारी के गर्भवती होने पर धृतराष्ट्र ने अपनी वासना की तुष्टि के लिए एक वेश्या रख लिया था।[७]

---

१ विश्व सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास—त्रिपाठी, मालवीय, पृ० ५५।
२ सीजर एण्ड क्राइस्ट—डा० डयूरेण्ट।
३ याग्यवल्क स्मृति—II, २२०।
४ ऋग्वेद II, १६७,४।
५ हिस्ट्री ऑफ हिन्दू धर्मशास्त्र—काणें।
६ ऋग्वेद—1, १९,१।
७ आदिपर्व—११५, ३९।

पुनः उद्योग पर्व में एक स्थान पर कौरवों की वेश्याओं को युधिष्ठिर के नमस्कार करने का वर्णन मिलता है।[१] इसी प्रकार इसी पर्व के एक दूसरे स्थल पर यह वर्णन मिलता है कि कृष्ण जब कौरवों के यहाँ आ रहे थे तो रखेलिनों द्वारा उनका स्वागत किया गया। पुनः यही पर्व यह भी बताता है कि कौरवों की सेना के साथ युद्ध क्षेत्र में उनकी रखेलिनें भी जाती थीं।

वाल्मीकि रामायण में भी इस प्रकार की स्त्रियों का वर्णन मिलता है। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि स्वेच्छाचारी होना अत्यन्त गर्हित कार्य माना जाता था।[२]

इसके बाद यदि हम शाक्यों के इतिहास का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होता है कि शाक्य परिवार में राजा रखेलिन रखा करते थे और उनसे भी उद्भूत लड़कियों का विवाह उच्च परिवार में करा दिया करते थे। इस सम्बन्ध में हम कोशल के राजा प्रसेनजित को ले सकते हैं जिनका विवाह शाक्य परिवार की रखेलिन की लड़की से यह कह कर किया गया था कि यह राज्य-कन्या है। इसी का यह भयंकर परिणाम हुआ कि विड़ूडम ने जो इस कन्या का लड़का था अपने पिता को छलने के प्रयास के लिए शाक्यों को समूल विनष्ट कर दिया।[3]

यह क्रम समाप्त नहीं हुआ परन्तु व्यापक रूप में चलता रहा क्योंकि नवीं और दसवीं शताब्दी के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि मन्दिर में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नर्तकियाँ दान की जाती थीं। इस सम्बन्ध में हम सोमदेव के मन्दिर का विवरण ले सकते हैं। इसलिए यहाँ कुट्टनी माताएँ भी होती थीं जिन्हें आजकल हम देहातों में कुटनी कहते हैं जो आज की तरह पहले भी दलाली करके पर-पुरुषों के साथ इन नर्तकियों का सम्बन्ध स्थापित कराती थीं।[४]

इसकी पुष्टि स्मृतियों से भी होती है। मनु तथा गौतम ने अपने ग्रन्थों में वेश्याओं पर विचार किया है तथा इनके प्रकार, इनके प्रति किए जाने वाले व्यवहार के प्रति अपना अनुशासन देते हैं। अतः यह सिद्ध करता है कि स्मृतियों के समय भी इस व्यवस्था का स्वरूप पूर्ण रूप से जोवित तथा विकसित था।

तत्पश्चात् मुगल काल में भी यह व्यवस्था चलती रही। इस युग में मुसलमानों का यह व्यसन था कि ये रखेलिन और कई स्त्रियाँ रखते थे। आज भी भारत के जिस भाग में मुसलमानी रियासतें थीं वहाँ यह प्रथा अन्य भागों की

---

१ उद्योगपर्व—३०,३८।

२ वाल्मीकि रामायण, ३३,३।

३ पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—चौधरी।

४ पोजीशन ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन—अल्टेकर।

अपेक्षा विशेष बलवती थी। अंग्रेजी राज्य में यह जीवित रही पर आजकल नगर निगमों ने अपने यहाँ अधिनियम पारित कर इसे रोकने का प्रयास किया है।

उत्पत्ति के कारण—आज की तरह प्राचीन काल में भी यह एक व्यवस्थित एवं पूर्ण विकसित परम्परा थी जैसा कि ऊपर के विवेचन से सिद्ध हुआ। पर इस व्यवस्था का जन्म क्यों हुआ इस विषय पर विचार करने पर हम निम्नांकित तथ्वों पर आधारित कारण बड़ी सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।

सिन्धु घाटी की सभ्यता में भी यह व्यवस्था अवश्य रही होगी क्योंकि वहाँ से प्राप्त नर्तकी की एक कांस्य मूर्ति इस बात को सिद्ध करती है। इसके अतिरिक्त नृत्य के प्रति लोगों को विशेष रुचि थी ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि विभिन्न धार्मिक अवसरों पर नारियाँ नाचती हुई दिखाई गई हैं। यदि नृत्य वहाँ का व्यसन था तो पुरुषों को भी इसमें रुचि लेनी चाहिए थी पर ऐसा प्रमाण प्राप्य नहीं है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्त्रियों के संबंध में सामाजिक परम्पराएँ, जिनका हमें कुछ ज्ञान नहीं, ऐसी जटिल बनी होंगी कि उनके विरोध में बहुत सी स्त्रियाँ सामाजिक स्त्री बन गई।

ऋग्वेद के जो विवरण ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में उद्धृत किए गए हैं[1] उनसे सिद्ध होता है कि कामवासना से ही प्रेमियों के पाश में पड़ कर कुछ स्त्रियाँ कुमार्ग पर उतर जाती थीं और पीछे उन्हें वेश्या वृत्ति अपनानी पड़ती थी।

महाकाव्यों में, विशेष रूप से महाभारत में, जो भी उद्धरण इस सम्बन्ध में प्राप्त हुए हैं तथा जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है[2] सिद्ध करते हैं कि राजा अपनी वासना की तुष्टि के लिए कुछ स्त्रियों को, जो उनके अधीन होती थीं, इस कुकृत्य की ओर बलात आकृष्ट करते थे। साथ ही राज्यकुल के शौर्य बढ़ाने के लिए बहुत ही स्त्रियाँ रखी जाती थीं।[3] यही पुरुषों के सम्पर्क में आकर वेश्या का स्वरूप धारण कर लेती थी जैसा उपर्यांकित उद्योग पर्व में उद्धरण से ज्ञात होता है।[4]

बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय सास तथा श्वसुर और कभी-कभी पतियों के दुर्व्यवहार से[5] त्रस्त होकर विवाहित स्त्रियाँ वेश्या बनने की ओर बढ़ती हैं। यहाँ भिक्षुणियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि उपर्युक्त लोगों के दुराचारपूर्ण व्यवहार से वह भिक्षुणी बनने को सदा तैयार रहती थीं।[6]

---

१ ऋग्वेद I. १६७,४; II, २९.१ ।
२ आदि पर्व, ११५,३९ ।
३ पोजीशन ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन—अल्टेकर, पृ० १२३ ।
४ उद्योगपर्व, ३०,३८ ।
५ पोजीशन ऑववीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन—अल्टेकर, पृ०, १०७–८ ।
६ वही ।

इसी प्रकार जब बाल विवाह का प्रचलन समाज में हुआ तब अल्पकाल में लड़कों का विवाह कर दिया जाता था। यदि उनकी मृत्यु अल्पकाल में ही हो जाती थी तो उनकी स्त्रियों को अपना जीवन यापन किसी प्रकार संयत रूप से करना पड़ता था। बहुत सी स्त्रियों के लिए यह कठिन होता था और वह अपने ऊपर नियंत्रण पाने में असमर्थ होकर इस दुर्वृत्ति को अपना लेती थीं।[1]

पुनः पौराणिक धर्म के प्रचलन से देवताओं के सामूहिक अर्चना पर बल दिया जाने लगा। इसका परिणाम यह होने लगा कि जहाँ उनको सामान्य जनता की ओर से सामग्रियाँ चढ़ाई जाती थीं वहीं राज्य परिवार की ओर से किसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए नर्तकियाँ भी। यही नर्तकियाँ भ्रष्टाचार के कारण बनी और कुट्टनियों के द्वारा दूसरे से सम्बन्धित कराकर द्रव्य उपार्जन की सामग्रियाँ बन गईं। इससे भी इस प्रथा को बल मिला।[2]

इसी प्रकार विधवा विवाह का प्रचलन उठा लेना भी दूसरा कारण बना। अतएव उपर्युक्त मूल कारण हैं जिनसे वेश्या वृत्ति का विशेष प्रचलन समाज में विकसित रूप में सम्भव हो सका।

प्रकार—राजा और सामान्य जनता दोनों ही सामाजिक स्त्री का उपयोग और उपभोग करते थे। पर ऊपर के विवरण में हमने देखा कि राजा की रखेलिन, उसकी वेश्या आदि सामाजिक स्त्रियों (पब्लिक वीमेन) से पूर्ण अलग रखी जाती थीं। पर राजा की वेश्याएँ भी दो प्रकार की होती थी, एक वह जो रखेलिन के रूप में राज्य महल में रखी जाती थीं तथा दूसरी वह जो राजा के ही उपभोग की सामग्री होती थीं पर महल के बाहर नगर में रहती थीं। याज्ञवल्क ने इन्हें क्रमशः अवरुद्धा और भुजिस्या दो प्रकार का बताया है और भुजिस्या जो राजा के ही उपभोग के लिए होती थीं पर नगर में रहती थीं उनके सम्बन्ध में यह नियम था कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति इनका उपभोग कर लेता था तो उसे पचास पण का दण्ड दिया जाता था।[3] पुनः कामसूत्र के लेखक वात्स्यायन ने गणिका को भी वेश्या माना है।

व्यवहार—यद्यपि समान रूप से मनु, याज्ञवल्क आदि कोई भी ऐसा धर्म प्रणेता नहीं जिसने इनकी कुत्सा न की हो तथा इस प्रथा को गर्हित न बताया हो फिर भी समाज में यह एक व्यवस्था के रूप में प्रचलित थी। अतएव इसके प्रति अधिनियम बनाना आवश्यक था। इसीलिए धर्मशास्त्रकारों ने इस सम्बन्ध में अधिनियम पारित किया है।

---

१ साउथ इण्डियन इपीग्राफिकल रिपोर्ट, १९०७, पृ० ७७।

२ मेघदूत I, ३५; पद्मपुराण सृष्टि खण्ड ५२,९७।

३ याज्ञवल्क II, २९०।

मनु ने चतुर वेश्याओं को दण्ड देने का विधान बनाया।[१] सम्भवतः चतुर से इनका अभिप्राय है उन वेश्याओं से जो जनता का शोषण करती हों। पुनः उन्होंने ब्राह्मण को वेश्या के घर भोजन करने से विवर्जित किया।[२] गौतम के अनुसार यदि एक ब्राह्मणी न वेश्या वृत्ति अपना ली हो तो उसे मार देना धर्म नहीं है परन्तु उसके जीवित रहने के लिए आठ मुट्ठी भोजन ही उसे देना चाहिए।[३] नारद ने कहा है कि पुरुष को अधिकार है कि वेश्या, दासी, स्वामी से परित्यक्त स्त्री तथा व्यभिचारिणी के साथ गमन करे पर ब्राह्मणी के उपभोग से उन्हें वंचित किया गया है।[४] इसके साथ यह भी विधान किया गया कि जिसका उपभोग किया जाय वह उपभोक्ता की अपेक्षा निम्न वर्ण की होनी चाहिए। रखेलिन के साथ बाहरी का गमन करना जघन्य अपराध माना गया है। नारद के अनुसार यदि वेश्या अपना किराया लेकर भी अपने को उपभोग न करने दे तो उसे उसका दूना लौटाना चाहिए और यदि पुरुष भी इसी प्रकार का कार्य करे अर्थात् उपभोग करके पैसा न चुकावे तो उसे भी यही दण्ड देना पड़ता है। स्मृतियों ने स्वीकार किया है कि रखेलिन को भी जीवित रहने का अधिकार है, इसलिए उनको जीवन यापन भर के लिए धन मिलना चाहिए। रखेलिन को जिसने रखा है उसके जीवन काल में भागने का धर्म नहीं है। इसीलिए यह अधिनियम बनाया गया कि राजा जिसने रखेलिन रखा है अथवा व्यक्ति जिसने रखेलिन रखा है उसके मरने पर राजा को अधिकार है कि अन्य स्वजनों की भाँति उस व्यक्ति के रखेलिन को भी थोड़ी सी सम्पत्ति दे दी जाय।[५]

इस प्रकार वेश्या प्रथा यद्यपि एक कुत्सित परम्परा थी फिर भी समाज में चिर पुरातन काल से चलती रही और इस सम्बन्ध में समय-समय पर धर्मशास्त्रकारों ने अधिनियम बना कर इनको स्थिति को बनाए रखने का प्रयास किया। यद्यपि आधुनिक काल में इसका बहिष्कार हो रहा है।

---

१ IX, २५९।
२ IX, २०९।
३ XII, २७।
४ ना० ७८, ७९।
५ वही १८।

अध्याय १५

धर्म परिवर्तन एवं पुनरागमन

भारतवर्ष एक धर्म-प्रधान देश है। यहाँ के प्रत्येक निवासी जो अपने को भारतीय कहने का दावा करते हैं किसी न किसी धर्म का अवश्य ही सहारा रखते हैं। इसकी ख्याति विदेशों में बहुत अधिक प्राचीन काल में थी। इसलिए पुरातन काल में समय-समय पर भारत विदेशियों के आक्रमण का परिणामभाजन बनता रहा। प्रारम्भ में भारत के अधिकांश में द्रविड़ वस्तियाँ थीं। अधिकांश से अभिप्राय पश्चिमी भारत को छोड़ कर शेष भारत से है। परन्तु आर्यों के विस्तार ने यहाँ आर्य धर्म अथवा हिन्दू धर्म को जन्म दिया। सभी द्रविड़ जो आर्य वर्ण में सम्मिलित हो गए वह आर्य धर्म में परिवर्तित हो गए। इसके बाद भारत में ईरानी, यूनानी, बैक्ट्रियन, सीथियन, पार्थियन, शक, कुषाण, हूण, मुसलमान और अंग्रेज आदि आक्रमण करते रहे। इनमें से कुछ आक्रमणकारी यहाँ केवल बस ही नहीं गए परन्तु अपने धर्म और संस्कृति का प्रसार उन्होंने अपने भुजबल से करने का प्रयास किया तथा हमारी सामाजिक कमजोरियों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर उभाड़ा। इसके अतिरिक्त कुछ दूसरे ऐसे भी आक्रमणकारी थे जिनका कदम भारत की पृथ्वी पर शासक के रूप में जम नहीं सका पर वह यहाँ आक्रमणकारी बन कर आए और यहाँ के निवासी बन कर बस गए। पहले प्रकार के आक्रमणकारियों में हम मुसलमान और अंग्रेजों की गणना कर सकते हैं तथा दूसरे प्रकार में शेष आक्रमणकारियों को। दूसरे प्रकार के आक्रमणकारी इस प्रकार हमारी संस्कृति में समा गए कि उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर सबकुछ भारतीय अपना लिया और वह अपनी अलग पहचान खो बैठे। यही दूसरे शब्दों में वह स्थिति है जिसे धर्म परिवर्तन कहते हैं। परिवर्तन का अर्थ है बदलना। भारतीय संस्कृति में अपने को बदलना ही धर्म परिवर्तन से अभिप्रेत है। अब दूसरी ओर अगर ध्यान दिया जाय जिसमें पहले प्रकार के शासक आक्रमणकारी आते हैं उनका उद्देश्य शासन व्यवस्था के संस्थापन के साथ ही अपनी संस्कृति की छाप छोड़ना था। उन्होंने दलित वर्गों को उकसाया और उन्हें अपने धर्म पालन के लिए प्रलोभन से एवं भय से बाधित किया। परन्तु जन्मजात प्रवृत्तियाँ हठात मोड़ी नहीं जा सकतीं। जैसे ही उनका अत्याचारपूर्ण कदम डगमगाने लगता अथवा हिन्दू सुधारवादी अपनी कट्टरता को दूर करने का प्रयास करने लगते वैसे ही वह भारतीय जो विभिन्न कारणों से दूसरे धर्म को स्वीकार किए रहते थे पुनः हिन्दू

धर्म को स्वीकार करने के लिए हाथ बढ़ा देते थे। धर्म में पुनः आगमन की इसी प्रवृत्ति को हम पुनरागमन की संज्ञा देते हैं। इसलाम धर्म के आक्रमण के समय से ही यह व्यवस्था चल पड़ी और अंग्रेजों के समय तक चलती रही। यही अभिप्राय है धर्म परिवर्तन एवं पुनरागमन से। पर इस सम्बन्ध में विशिष्ट स्मरणीय है कि धर्म से अभिप्राय भारतीय धर्म से है।

धर्म परिवर्तन—ऋग्वैदिकाल में आर्य धर्म परिवर्तन पर विश्वास करते थे। ऋग्वेद के विभिन्न स्थलों पर इस प्रकार का वर्णन है कि अनार्य आर्य वर्ण में आने की कामना कर रहे हैं। जिस समय आर्यों का प्रसार भारत में हुआ उस समय जैसा ऊपर बताया जा चुका है भारत में द्रविण बस्तियाँ थीं जिनकी संस्कृति आर्यों से भिन्न थी। इन द्रविणों को आर्यों ने जीत लिया और इन्हें अपने वर्ण में सम्मिलित किया और जो न सम्मिलित हो सके उन्हें बाहर भगा दिया। इस प्रकार द्रविड़ों ने ही सबसे पहले अपना धर्म परिवर्तन कर वैदिक धर्म स्वीकार किया।

इसके बाद छठीं शताब्दी ई० पू० से भारत विदेशियों से आक्रान्त होता रहा। पर यह आततायी आक्रमणकारी यहाँ से न तो पूर्णतया स्वदेश ही लौटे और न अपनी अलग बस्तियाँ बना कर ही अपनी संस्कृति को जीवित रख सके। बल्कि यह भारतीयों के साथ घुलमिलकर इस प्रकार बस गए कि अपना इनका क्या था यह स्वयं भूल बैठे और अपने को भारतीय बना लिया। इसी से इन आक्रमणकारियों का जो वर्ग भारत में आया उनके नाम के पहले विदेशी इतिहासकारों ने विशेषण 'भारतीय' लगा दिया है। इसलिए 'इण्डो पार्थिय, इण्डो सीथियन, इण्डो बैक्ट्रियन, इण्डो कुशाण आदि नामों से इन्हें सम्बोधित करते हैं। इन्होंने भारतीय धर्म को पूर्णतया स्वीकार कर लिया। इसमें शादी विवाह करने लगे, इसकी परम्परा को अपनाने लगे तथा आज भी वह विद्यमान हैं पर इतना अधिक रक्त सामञ्जस्य तथा व्यवहारऐक्य हो गया है कि कोई चिन्ह पहचान के लिए अवशिष्ट नहीं रह गया है। इस प्रकार के धार्मिक एवं सामाजिक समन्वय के अनेकों प्रमाण उपलब्ध हैं।

भारतीय बौद्ध तथा जैन भिक्षु गुफाओं में रहते थे। यदि पश्चिमी एशिया की हम यात्रा करें अथवा उसका पुरातन इतिहास पढ़ें तो ज्ञात होगा कि बहुत बड़ी संख्या में पश्चिमी एशिया में गुफाएँ खोद कर इन्हीं भिक्षुओं को दान किया गया।[१] पुनः बेसनगर के गरुड़ध्वज अभिलेख से जो प्रथम शताब्दी ई० पू० का माना गया है यह सिद्ध होता है कि अन्टीअल्काइड्स का यवन राजदूत हेल्योडोरस भागवत धर्म से इतना अधिक प्रभावित था कि तक्षशिला से आकर विदिशा में विष्णु मन्दिर के समक्ष उसने एक गरुड़ ध्वज स्थापित किया तथा भागवत धर्म से सम्बद्ध एक लेख भी उस ध्वज पर

---

१ मिलिन्दपन्हो

उत्कीर्ण कराया।[1] दूसरे साक्षों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि लगभग इसी समय बहुत से यूनानियों बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिा था।[2] इसी प्रकार हिन्दू धर्म एक बड़ी संख्या में यूनानियों द्वारा स्वीकार किया गया। लगभग ५० हजार विदेशी राजा यहाँ आए, भारत में बसे तथा हिन्दू धर्म को स्वीकार कर लिया।

सीथियन एवं शकों के सम्बन्ध में भी अध्ययन करते हुए हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। मथुरा से प्राप्त एक सीथियन अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि एक सीथियन सम्राट जिसका नाम सोडास था उसने भारतीय ब्राह्मण को, जिसका नाम गजवर था, अपना पुरोहित नियुक्त किया। शक क्षत्रप नहपान के पौत्र उशवदत्त ने हिन्दुओं तथा बौद्धों को दान किया था। इन क्षत्रपों के सम्बन्ध में यदि नहपान के अभिलेखों का अध्ययन किया जाय तो उसके नासिक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि इन विदेशियों में भी विभिन्न तीर्थ स्थानों की यात्रा, दान, यज्ञ आदि के प्रति रुचि थी। इस समय अन्तरविवाह पाप नहीं माना जाता था। इक्ष्वाकु परिवार के एक राजा ने अपनी लड़की का विवाह जयदामन के पुत्र शक क्षत्रप रुद्रदामन से कर दिया था। पुनः रुद्रदामन ने अपनी लड़की का विवाह वाशिष्ट पुत्र पुलमावी से कर दिया था। इस विवाह संस्कार को यथावत सम्पन्न करने के लिए ब्राह्मण पुरोहित नियुक्त किया गया था। मनु ने इसी से कहा है कि क्षत्रिय परिवार इस समय आधे शूद्र हो गए थे क्योंकि वह न ब्राह्मणों का ही आदर करते थे और न अपनी शुद्धता पर ही ध्यान रखते थे। कुषाण भी दो पीढ़ियों में ही पूर्णतया भारतीय बन गए। विमकदफिसिस अपने को 'परम माहेश्वर' की उपाधि से विभूषित किया तथा अपनी मुद्रा पर शिव का चिन्ह अंकित कराया। नहपान के बाद एक पार्थियन राजा ने अपना एक भारतीय नाम धारण किया। उसने अपना नाम ऋषभदेव रखा। इस समय हिन्दू धार्मिकों ने अपने धर्म के प्रचारार्थ जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया आदि देशों में प्रचारकों को भेजना प्रारम्भ किया था।

इसके बाद हूणों का भारत में आगमन हुआ। हूण परिवार के केवल दो राजाओं का ही नाम हमें ज्ञात है एक तोरमाण तथा दूसरा मिहिर कुल। इन राजाओं के विषय में अध्ययन करते हुए यह ज्ञात होता है कि तोरमाण के शत्रुओं ने भी यह कहा है कि शिव को छोड़ कर उसने किसी दूसरे के सामने कभी सिर नहीं झुकाया। मिहिरकुल के सिक्के पर यह अंकित है कि 'जयतु वृषभ ध्वजः'। इसी प्रकार चेदि तथा चन्देलों ने हूण के साथ विवाह किया था। ६वीं शताब्दी ईस्वी में जावा तथा सुमात्रा में भी इसी तरह धर्म परिवर्तन की लहर चलती रही।

---

१ बेसनगर का गरुड़ध्वज अभिलेख।

२ मिलिन्दपन्हो।

इस धर्म परिवर्तन की गति में मुसलमानी आक्रमण के परिणाम स्वरूप बाधा उत्पन्न हुई। इसका कारण था कि मुसलमान जहाँ हिन्दुओं को इसलाम धर्म में सम्मिलित करने लगे वहीं हिन्दुओं ने अपनी रक्त शुद्धता को स्थायी बनाए रखने के लिए इस विषय में कठोर प्रतिबंध लगा दिया कि कोई भी विधर्मी हिन्दू धर्म में स्वीकार नहीं किया जाय। पुनः जाति व्यवस्था के बंधन इतने कठोर होते गए तथा हिन्दुओं का विचार इतना अधिक संकुचित होता गया कि इस प्रकार का धर्म परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका। अन्त में हिन्दू इस समय पूर्ण रूप से शाकाहारी हो गए थे, अतएव वह मांसाहारी विधर्मियों को कभी भी अपने धर्म में सम्मिलित करने के लिए तैय्यार नहीं थे। इसी से बर्नियर यद्यपि १७वीं शताब्दी में हिन्दू धर्म में प्रविष्ट होना चाहता था पर धार्मिक कठोरता एवं ऊपर के बंधनों के कारण प्रविष्ट नहीं हो सका।

पुनरागमन—पुनरागमन का अभिप्राय हमने ऊपर ही स्पष्ट किया है। भारत में यह व्यवस्था आठवीं शताब्दी ई० से ही प्रारम्भ हुई। इसके जन्मदाता महर्षि देवल हैं। एक बार महर्षि देवल ध्यानावस्थित होकर सिंधु नदी के किनारे बैठे थे। उस समय ब्राह्मणों ने उनसे प्रार्थना की कि बहुत से हिन्दू मुसलमान होते जा रहे हैं, इसलिए इस धर्म के रक्षार्थ आप कोई ऐसा मार्ग बतावें जिससे जो हिन्दू मुसलमान बन गए हों वह पुनः हिन्दू धर्म में स्वीकार किए जा सकें। इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि देवल ने बताया कि जो हिन्दू किसी कारणवश मुसलमान बन गए हैं उन्हें हिन्दू धर्म में पुनः स्वीकार किया जा सकता यदि उनके मुसलमान होने की अवधि बीस वर्ष से कम है। पर इस अवधि के बाद इस प्रकार की समस्या पर विचार ही नहीं किया जा सकता।[1] यह सिद्धान्त पुरुष एवं स्त्री दोनों के लिए समान रूप से लागू था। देवल ने आगे इस सम्बन्ध में यहाँ तक कहा कि जो हिन्दू महिला मुसलमान बन चुकी हो और उसे सन्तान हो गयी हो वह पुत्र के साथ इस अवधि के अन्दर हिन्दू धर्म में स्वीकार की जा सकती है।

देवल की इस व्यवस्था का प्रभाव यह पड़ा कि जब बारहवीं शताब्दी में इसलाम धर्म के प्रसार को धक्का लगा तब सहस्रों की संख्या में वह हिन्दू जो किसी कारणवश इसलाम धर्म को स्वीकार कर चुके थे पुनः मूर्तिपूजक बन गए और हिन्दू धर्म को स्वीकार कर लिए। यह परिवर्तन किस प्रकार सम्भव था इस सम्बन्ध में मुसलमानी इतिहासकार अल्बरूनी ने विवरण प्रस्तुत किया है। उसके विवरण के अनुसार यह ज्ञान प्राप्त होता है कि हिन्दू धर्म में पुनरागमन के लिए परिवर्तित हिन्दू को एक निश्चित अवधि के लिए उपवास करना पड़ता था, उसके सिर पर दुग्ध गिराया जाता था और तब धर्म में उसे स्वीकार कर लिया जाता था। दूसरे विवरण के आधार पर यह

---

१ देवलस्मृति

ज्ञात होता है ब्राह्मण इस सम्बन्ध में बड़े कट्टर हो गए थे और किसी भी विधर्मी को चाहे वह जिस किसी भी प्रकार का विधर्मी हो अपने धर्म में पुनः स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। यहाँ तक यह कट्टरता जोर पकड़ चुकी थी कि जो शूद्र के साथ बैठ कर भोजन करते थे वह जाति बहिष्कृत माने जाते थे।[1] अल्बरूनी का यह विवरण द्विविध है। पर इसका प्रथम पक्ष देवल के विचार से साम्य रखता है जब कि पीछे का उसके विरोध में है। सम्भवतः पीछे का विवरण कट्टर ब्राह्मणों के कथन के आधार पर ही इस विदेशी यात्री ने प्रस्तुत किया है। इसलिए हम पीछे के विवरण पर विशेष बल नहीं दे सकते।

इस सम्बन्ध में बारहवीं शताब्दी में जयपाल की बहन के पुत्र सुखपाल के विधर्म से हिन्दू धर्म में आगमन का विवरण मिलता है। जयपाल की बहन का लड़का सुखपाल मुहम्मद गजनी द्वारा पकड़ लिया गया तथा उसके साथ भीषण दुर्व्यवहार किया गया जिससे उसे इसलाम धर्म स्वीकार करना पड़ा। परन्तु इसके बाद वह हिन्दू धर्म में आने के लिए प्रयास करने लगा। ब्राह्मणों ने उसे पुनः धर्म में स्वीकार कर लिया। यह प्रमाण सिद्ध करता है कि पुनरागमन की भावना इस समय समांज में विद्यमान थी। यद्यपि इसलाम धर्म के अधिनियम के अनुसार धर्म में पुनरागमन एक महान अपराध माना जाता था। बंगाल में सातवीं पीढ़ी तक के लोगों का पुनरागमन बहुत अधिक प्रचलित था। इसी प्रकार दक्षिणी भारत में कम्पिल का राजा जो हिन्दू था उसे मुसलमानों ने जीतकर मुसलमान बना लिया था। परन्तु पुनः जब उस राज्य को हिन्दुओं ने जीता तो वह हिन्दू धर्म में स्वीकार कर लिया गया। पञ्जाब में इस व्यवस्था को जहाँगीर ने हटाने का यथासम्भव प्रयास किया। तंजोर के एक राजा ने एक बड़ी संख्या में उन हिन्दुओं को पुनः अपने धर्म में स्वीकार किया जो किसी कारणवश ईसाई बन गए थे। शिवाजी जब औरंगजेब द्वारा काराकार में बन्दी बनाए गए थे उस समय उनके साथ नेताजी पालकर भी बन्दी बनाए गए थे। शिवाजी मुक्त होकर कारागार से छूट निकले पर नेताजी पालकर भागने में असमर्थ रहे। इससे वह मराठा नायक मुसलमान बना दिया गया और काबुल भेज दिया गया। वहाँ उसने पठान की स्त्री से विवाह कर लिया और उससे पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह ६ या ७ वर्ष के बाद पुनः वापस आया तो शिवाजी ने उसको उसकी मुसलमान स्त्री और बच्चे के साथ हिन्दू धर्म में स्वीकार कर लिया।

यह व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल सकी। इसका कारण यह था कि हिन्दू संकुचित विचार के होते गए। इसका स्पष्ट प्रमाण है कि पेशवाओं ने जो शिवाजी के बाद हिन्दू शासक थे, रहाड़कर को जो मुसलमान हो गया था पुनः हिन्दू परिवार

---

१ अल्बरूनीस एकाउण्ट ऑफ इण्डिया।

में स्वीकार तो किया पर जनसमुदाय उसका विरोध करने लगा। इसी प्रकार जेलिया राजपूत मुसलमान धर्म से पुनः हिन्दू धर्म में आने के लिए प्रतिबंधित कर दिए गए थे। यदि यह प्रतिबंध न लगा होता तो कश्मीर के सभी मुसलमान जो कभी हिन्दू थे वह पुनः हिन्दू बना दिए गए होते। ऐसी परिस्थिति में कश्मीर की समस्या जो आज विषाक्त हो गई है कभी भी विषाक्त नहीं होती। पुनः आज जो अहमदनगर के निजाम की समस्या है वह कभी की हल हो गयी होती यदि उसके धर्म के पुनरागमन में कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया होता।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह ज्ञात होता है कि बारहवीं शताब्दी तक धर्मपरिवर्तन होता रहा और उसके बाद पुनः पुनरागमन की समस्या उठ खड़ी हो गई। पहले यद्यपि इसे स्वीकृति मिली परन्तु पीछे इस पर भी सामाजिक प्रतिबंध लगा दिया गया।

——०——

अध्याय १६

प्राचीन भारत में सामुदायिक जीवन

वर्तमान युग योजना का युग है। इसकी सफलता केवल तभी सम्भव है जब हम सामुदायिक चेतना से इसकी ओर जुट जायँ। यह सामुदायिक चेतना है क्या जिसकी ओर आज सरकार का इतना अधिक ध्यान लगा है। जब इस समस्या पर हम विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि अकेला व्यक्ति किसी भी कार्य को करने पर एक बड़े पैमाने में सफल नहीं हो सकता फिर भी जहाँ योजना का राष्ट्रीय स्वरूप है। अतएव सभी लोगों का मिला-जुला प्रयास ही इसकी सफलता की कुन्जी है। इसी मिला-जुला भावना को ही सामुदायिक जीवन का नाम देते हैं।

किसी भी देशवासियों के जीवन का दो पक्ष होता है: वाह्य एवं आन्तरिक। भारत का आन्तरिक एवं वाह्य दोनों ही समान हैं ज़बकि दूसरे देश में दोनों ही भिन्न हैं। भारतवासी भौतिकतावाद का कोई महत्व जीवन में नहीं देते। इसके ठीक विपरीत प्रत्येक छोटे से छोटे विचार और क्रिया को आध्यात्मवादी प्रवृत्ति से ही आँकते हैं। इसका परिणाम यह है प्रत्येक व्यक्ति जो अपने को सच्चा भारतीय कहने का दावा करता है वह व्यक्ति और 'स्व' का कोई महत्व अपने जीवन में नहीं रखता परन्तु समष्टि का ही महत्व उसके लिए होता है। उसी के साथ वह मरता-जीता है, उसी के अनुरूप वह सारी क्रियाएँ करता है। समष्टि की भावना ही एकांगी जीवन से परे ले जाकर सामूहिक अथवा सामुदायिक जीवन का बीजारोपण करती है। वह प्रत्येक में चूँकि एक ही सत्ता का आभास करता है और एक ही केन्द्र की ओर उसे लक्षित पाता है, इसलिए सदा भेद भाव से दूर यही धारणा रखता है कि 'सर्वे भवन्ति सुखिना सर्वे सन्तु निरामया....'। यह हुआ सैद्धान्तिक पक्ष जिसमें समुदाय की भावना का जागरण स्वाभाविक है। पर व्यावहारिक पक्ष पर यदि विचार किया जाय तो आज का भारत इससे कहीं बदला है। यहाँ पर पश्चिमी संस्कृति की छाप अब दिखाई पड़ने लगी है। 'स्व' की भावना का जागरण हो गया है। भौतिकतावाद का नग्न नृत्य होने को तैय्यार खड़ा है। क्या यह सब हमारे पुरातन आदर्शों के तादात्म्य स्वरूप हैं? ऐसी बात नहीं। परन्तु अब जरा पीछे की ओर हम मुड़ें तो ज्ञात होगा कि क्या कभी यह आदर्श यथार्थ था अथवा सदैव सिद्धान्त मात्र ही बना रहा। इस दिशा में प्रयास करने के लिए जब हम अंग्रेजों द्वारा शासित भारत तथा मुगलकालीन भारत पर दृष्टिपात करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि इस समय भी भारतीय जीवन समुदाय की भावना

से दूर व्यक्तिवादी भावना से ओतप्रोत था। यदि व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का भूत खुल कर सिर पर नहीं चढ़ा सका था परन्तु फिर भी उसके आगमन का संदेश व्याप्त ही हो चुका था। इसके पहले के युग अर्थात् प्राचीन भारतीय परम्परा पर जब हमारा ध्यान जाता है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि जब तक भारत ने अपनी सत्ता में परवशता की अनुभूति नहीं किया तब तक पूर्ण सामुदायिक भावना समाज में प्रचलित थी। आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, कलात्मक, साहित्यिक, राजनीतिक आदि जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में समुदायपरक व्यवस्था का ही बोलबाला था।

प्राचीन भारत में सामुदायिक जीवन का व्यवस्थित विवरण प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक क्षेत्रों में प्रचलित सामुदायिक भावना का अध्ययन किया जाय। इस अध्ययन के लिए हमारे पास तत्कालीन साहित्य एवं विदेशी यात्रियों का विवरण मात्र ही प्राप्त है। यही हमारे अध्ययन के मूल साधन हैं। यह बात अन्यथा है कि कुछ छिट-पुट साधन कभी-कभी हमारी सहायता कर दें।

आर्थिक क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार करने पर यह ज्ञात होता है जिस प्रकार आज व्यावसायिक संघ बने हैं और उनके द्वारा व्यवसायों का नियन्त्रण किया जा रहा है ठीक उसी प्रकार का संगठन, इससे कहीं अधिक दृढ़ प्राचीन काल में बना था। उसे श्रेणी की संज्ञा दी जाती थी। श्रेणी की परिभाषा देते हुए याज्ञवल्क्य स्मृति में यह कहा गया है कि--

'एकेन शिल्पेन ये जीवते तेषाम् समूहः श्रेणी'

—अर्थात् एक प्रकार के व्यवसाय से जिनकी जीविका चलती हो उन्हीं लोगों का संगठन श्रेणी कहलाता है। अतएव प्रत्येक प्रकार के व्यवसायियों की श्रेणियाँ इस समय बनी होंगी। इस बात की पुष्टि बौद्ध साहित्य से होती है जिसमें १८ श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। जातकों में बढ़ई, चर्मकार, लोहार, जौहरी आदि की श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। इसका प्रमुख श्रेष्ठिन होता था। श्रेष्ठिन शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही मिलता है। इससे यह अनुमान लगाया का सकता है कि भले ही वैदिक काल में श्रेणियों का क्रियात्मक स्वरूप न स्थापित हुआ हो पर उसकी कल्पना तो लोगों ने कर ही लिया था। इन श्रेणियों के जिम्मे तीन कार्य सौंपा गया था : (१) व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करना, (२) बैंकों का कार्य करना, (३) व्यावसायिक समस्याओं का निपटारा करना। कार्यों से सिद्ध होता है कि यह आर्थिक जीवन में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं। कभी-कभी श्रेणियाँ सिक्कों का भी निर्माण करती थीं। इसीलिए विविध प्रकार के पञ्च आहत सिक्के हमें अतीत काल में मिलते हैं। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में श्रेणियों का उल्लेख किया है। ये श्रेणियाँ बहुत दिनों तक जीवित रहीं क्योंकि दसवीं शताब्दी के सम्राट् भोज के ग्वालियर अभिलेख में तैलक श्रेणी, मालाकार श्रेणी आदि का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार कामान

के एक लेख में कुम्हार एवं थवई श्रेणी का उल्लेख मिलता है। इसे देखकर डा० बैजनाथ पुरी ने यह अनुमान लगाया है कि 'इन श्रेणियों का लगभग ३५०० वर्ष से ऊपर का इतिहास है।'[१]

पुनः आर्थिक जीवन में सर्वत्र आज सहकारिता को स्थान दिया जा रहा है। सहकारिता का अर्थ है 'सहयोग'। इस प्रकार की भावना का भारतीय कृषि के सम्बन्ध में जहाँ आज प्रयोग किया जा रहा है वहीं प्राचीन काल में सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व ही इसका प्रयोग हो चुका था। सातवीं शताब्दी ई० पू० के लगभग सिकन्दर के साथ आए हुए यूनानी इतिहासकारों के वर्णन से ज्ञात होता है कि सिन्धु नदी के पेटे में सहकारी खेती प्रचलित थी। उन्होंने यह विवरण दिया है कि यहाँ कृषक मिल-जुल कर खेती करते थे और कृषि द्वारा उत्पादित अनाज को आपस में श्रम के अनुसार पर बाँट लेते थे। अकर्मण्य व्यक्ति को कोई भाग कृषि उत्पादन का नहीं दिया जाता था। कृषि सहकारिता सामुदायिक जीवन में प्राचीन भारत की एक अनुपम देन है।

प्राचीन काल के सामुदायिक जीवन के आर्थिक क्षेत्र में दूसरा स्थान साझेदारी का आता है। स्मृतियों, जातकों आदि के आधार पर ज्ञात होता है कि आज की तरह प्राचीन काल में भी कई व्यक्ति अपनी-अपनी पूँजी लगाकर किसी व्यवसाय को चलाते थे जिसका लाभ उनमें उनके द्वारा दिए गए पूँजी के अनु रूप विभक्त कर दिया जाता था। यही स्थिति साझेदारी की कही जाती है।

व्यवसायियों में इतनी अधिक मेल और सामुदायिकता थी जब देश के किसी दूसरे भाग में वे व्यापार करने के लिए जाते थे अथवा इसी कार्य के लिए जब देश के बाहर जाते थे तो एक बड़ी संख्या में जाते थे। इस प्रकार का एक प्रसंग बलाहस्स जातक में मिलता है। इसमें एक कथा आती है कि ५०० व्यापारियों ने परस्पर एक नेता चुना और उसी की अध्यक्षता में उन्होंने लंका की यात्रा की।

आर्थिक जीवन में इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्ण रूप से सामुदायिक भावना चिर अतीत से विद्यमान थी।

पुनः राजनीतिक क्षेत्र में जब हम सामुदायिक भावना का अध्ययन करने लगते हैं तो ज्ञात होता है कि प्रत्येक राजनीतिक इकाई चाहे वह ग्राम हो अथवा नगर इसी भावना से शासित होती थी। केन्द्रित शासन प्रणाली में भी यह भावना विद्यमान थी। प्राचीन काल में देश में दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं, एक गणतन्त्रीय शासन व्यवस्था तथा दूसरे राजतन्त्रीय शासन व्यवस्था। गणतन्त्र में तो, जैसा नाम से ही स्पष्ट होता है, जन सहयोग द्वारा शासन होता था। एक गण राज्य के सभी निवासी गणराज्य की सामान्य सभा के सदस्य होते थे। यह

---

१ भारतीय संस्कृति के मूल तथ्य—डा० पुरी, पृ० ४० ।

अपने प्रधान चुनते थे जो व्यवस्था पर सामूहिक रूप से बैठ कर विचार करते और उसका प्रारूप निर्धारित करते थे। जब किसी विषय पर मतभेद हो जाता था तो दूसरे गणराज्यों को भी सुलझाने के लिए आमन्त्रित किया जाता था। इस प्रकार सामुदायिक भावना केवल एक गणराज्य तक ही सीमित नहीं होती थी पर पूरे राष्ट्र तक। इसका स्पष्ट प्रमाण वृज्जि संघ है जिसमें ३६ गण राज्य सम्मिलित थे जो मिलकर युद्ध करते थे तथा संधि का निर्णय करते थे। अब दूसरे प्रकार की शासन व्यवस्था पर यदि ध्यान दें जिसे राजतन्त्रीय प्रणाली कहते हैं तो ज्ञात होता है कि राजा प्राचीन काल में पूर्ण निरंकुश नहीं होता था। उसे भी शासन में जनता का सहयोग आपेक्षित होता था। इसलिए दो प्रकार की सभाओं की व्यवस्था की गई थी—सभा, एवं समिति। इन सभाओं की सदस्यता के लिए निर्वाचन होता था। सदस्यता ही क्या राजा के पद के भा निर्वाचन का वर्णन ऋग्वेद, अथर्ववेद, रामायण आदि ग्रंथों में मिलता है। इस प्रकार केन्द्राय शासन व्यवस्था पूर्णतया सामुदायिक स्वरूप से व्यवस्थित थी।

जब स्थानाय शासन व्यवस्थाओं पर विचार करते हैं तो वहाँ भी सहयोग और सामूहिकता का ही ज्ञान प्राप्त होता है। यह स्थानोय संस्थाएँ दो कोटियों में विभाजित का जा सकती हैं: ग्राम एव नगर। ग्राम का अर्थ होता है समूह। कुछ लाग समूह मे जहाँ एक साथ बस जाते हैं उसे ग्राम कहते हैं। प्राचीन काल में इन ग्रामों का शासन ग्राम संघों द्वारा होता था। ग्राम के सभा निवासी इसके लिए सदस्य चुनते थ। यहा सदस्य ग्राम को समस्याओं का निर्णय करते थे। ग्रामीणों के मामले का न्याय भा इन्हीं संस्थाओं द्वारा होता था। इसी प्रकार नगर शासन के किए 'निगम' नामक एक संस्था बनती थो जिसके सदस्य परस्पर मिलकर नगर की समस्याओं को सुलझाते थे। अतएव ग्राम तथा नगर इन दोनों में स्वायत्त शासन का रूप विद्यमान था। इस प्रकार राजनीतिक जोवन में पूर्ण सामुदायिक संगठन का ज्ञान होता है।

शिक्षा के क्षेत्र में इसी प्रकार का सामुदायिक भावना का ज्ञान मिलता है। प्रत्येक वर्ण के विद्यार्थी पढ़ने लिए गुरुकुल में जाते थे। गुरु कुल में जाति और वर्ण का भेद छोड़ कर सभी विद्यार्थी मिल-जुल कर पढ़ते थे। वह एक साथ रहते थे, भिक्षाटन करते थे, एक ही चूल्हे की बनी रसोई एक ही पंक्ति में बैठकर खाते थे भी। वहाँ उनका एक परिवार ही बन जाता था। इसीलिए इसे गुरुकुल की संज्ञा दो गई है। यहाँ का एक विशिष्ट वातावरण होता था। सभी एक साथ एक संगठित जीवन व्यतीत करते थे जैसे उनकी एक अपनी इकाई हो। एक साथ विद्याभ्यास करना, सामूहिक रूप से शास्त्रार्थ करना आदि सिद्ध करता है कि शिक्षा की अवधि में सभो विद्यार्थी पूर्ण सामूहिकता की प्रवृत्ति से ओतप्रोत होते थे। वह परस्पर अपना पाठ एक दूसरे की सहायता से याद करते थे। वहाँ वर्गाध्यक्ष की भी व्यवस्था थो जो सभी विद्यार्थियों की देख-रेख रखता था।

सामाजिक क्षेत्र में भी इसी प्रकार की सामूहिक प्रवृत्ति का ज्ञान मिलता है। समाज में सम्मिलित परिवार प्रणाली थी। सभी सदस्य एक साथ मिल-जुल कर रहते थे। उनके कुटुम्बियों की तथा वर्णों की एक सभा होती थी, जिसे परिषद की संज्ञा देते थे। इस सभा का कार्य था परिवार की अछूत समस्याओं का अध्ययन करना और उस पर उचित निर्णय देना। विवाह आदि संस्कारों में मित्रों एवं सजातियों को आमन्त्रित करना पड़ता था, उत्सव मनाया जाता था। सामाजिक जीवन में सामूहिकता का तो इतना बोलबाला था। जो व्यक्ति समूह विरुद्ध कोई कार्य करता था उसे समाज-बहिष्कृत कर दिया जाता था। उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता था। उसे कुल में कोई स्थान नहीं दिया जाता। यह सभी इस बात का परिचायक है कि सामाजिक जीवन पूर्णतया सामुदायिक भावना से भरा था।

धार्मिक जीवन का यदि अध्ययन किया जाय तो ज्ञान होता है कि उस समय धार्मिक कार्य भी मिल-जुल कर किया जाता था। वैदिक काल में यज्ञ की परम्परा थी। यज्ञों में सभी लोग सम्मिलित होते थे। पुरुष तथा स्त्री दोनों का ही याज्ञिक क्रिया में स्थान होता था। सामूहिक उपासना को महत्व दिया जाता था। इसके बाद बौद्ध तथा जैन धर्म के आगमन के परिणामस्वरूप भी धर्म में सामूहिकता को बल मिला। इन धर्मों के उपासकों की दो श्रेणियाँ होती थीं : एक गृहस्थ तथा दूसरे भिक्षु। भिक्षुओं का निवास मठ था। यहाँ वे सामूहिक रूप से मिल-जुल कर रहते थे। एक स्थान का भोजन करते थे। धार्मिक संकटों के समय परस्पर धार्मिक समस्या पर विचार के लिए संगठनों का आयोजन करते थे। इसके बाद पौराणिक काल आने पर हम देखते हैं कि उत्सव, तीर्थ आदि को महत्ता दी जाने लगी। सामाजिक उत्सवों में आज भी पुरातन परम्परा व्याप्त है। इसमें बहुत अधिक लोगों को एकत्रित किया जाता है और आनन्द मनाया जाता है। तीर्थ में भी महात्म्य इसी का दिया गया है कि बहुत से लोग एक साथ मिल कर तीर्थ किया करें। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी हिन्दू धर्म सामूहिकता पर बल देता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि अतीत काल में जीवन पूर्ण सामूहिक था। पर मुसलमानों के आगमन के समय इस सामूहिक भावना को धक्का लगा यद्यपि इसमें पूर्ण विघटन तो अंग्रेजों के भारत में आगमन के बाद ही हुआ। मुसलमानों के युग में सामूहिकता को धक्का लगने का प्रमुख कारण था कि प्रारम्भ से ही गुरुकुल व्यवस्था के द्वारा जहाँ इस भावना का बीजारोपण हो जाता था वह व्यवस्था ही अब समाप्त हो गई। बहुत से लोग चाहे धन के लालच से हो अथवा ऐश्वर्य की कामना से हिन्दू धर्म और परिवार को छोड़कर मुसलमान होने लगे। परन्तु जब अंग्रेज भारत में आए तो उन्होंने प्रत्येक प्रकार के संगठनों को तोड़ने की नीति अपनाई क्योंकि उनका उद्देश्य भारत को प्रत्येक दृष्टि से अशक्त बना कर इस पर

अपना पूर्ण एकाधिकार स्थापित करना था। यह अशक्ति की स्थिति तब तक सम्भव नहीं थी जब तक भारतीयों के बीच पड़ा हुआ संगठन तोड़ न दिया जाय। इसके लिए विभिन्न प्रकार के वैधानिक प्रतिबंध लगा कर इन संगठनों को तोड़ने का सफल प्रयास किया गया जैसे दक्षिणी भारत में जुलाहों का अँगूठा कटवा लिया गया। परिवार के लिए व्यक्तिवादी आधार पर बँटवारे का सिद्धान्त बनाया गया। धर्म में नास्तिकवाद को, पूजा पाठ आदि कर्मकाण्डों के विरोध को प्राथमिकता दी जाने लगी। शिक्षा के क्षेत्र में भी छन्ना प्रणाली (इनफिल्टरेशन थियरी) का सहारा लिया गया। इस प्रकार अनेक रीतियों का प्रयोग कर सामूहिकता की भावना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से तोड़ दी गई।

इसके विघटन के दुष्परिणामों को देखते हुए पुनः स्वतन्त्र भारत में सरकार सामूहिक प्रणाली को जन्म देने की ओर कदम उठा रही है।

———

अध्याय १७

सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर

हिन्दू विवाह में रक्त सम्बन्ध को अशुद्धता से सदा बचाने का प्रयास किया जाता है। इसी प्रयास की तीन मान्यताएँ बताई गई हैं : सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर। विवाह के साथ ही जीवन की दूसरी संस्थाओं में भी इनका कुछ हाथ होता है। इसलिए यह अध्ययन करना आवश्यक है कि सामाजिक जीवन में सपिण्ड, सगोत्र एवं सप्रवर से क्या अभिप्राय है तथा इनकी कहाँ और कितनी मान्यता है।

१. सपिण्ड

सापिण्ड में दो शब्द हैं स+पिण्ड। स का अर्थ होता है साथ पर पिण्ड का अर्थ बताना आसान नहीं क्योंकि विभिन्न विचारकों ने इस शब्द का अर्थ अपने विचार के अनुसार भिन्न-भिन्न बताया है। हिन्दू कानून में इस के तीन अर्थ बताए गए हैं। पहला अर्थ मिताक्षरा प्रणाली का है जिसका प्रवर्तन याज्ञवल्क स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने किया है। इनके अनुसार पिण्ड का अर्थ होता है 'रक्त के कण'।[1] ऋग्वेद में भी सपिण्ड शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इसकी एक ऋचा में कहा गया है कि बालक पिता का इसलिए सपिण्ड होता है कि जन्म के समय मातृ पक्ष और पितृ पक्ष दोनों का ही वीर्य गर्भ में मिलता है (ऋग्वेद १,१,६२)। इस प्रकार विज्ञानेश्वर, ऋग्वेद एवं याज्ञवल्क स्मृति तीनों का यह आशय प्रतीत होता है कि सपिण्ड से अभिप्राय है समान रक्त के पिण्डों से बना हुआ। दूसरे विचारक हैं जीमूतवाहन, जिन्होंने दायभाग के सिद्धान्त का प्रणयन किया है। इन्होंने पिण्ड का अर्थ पिण्डा से लिया है।[2] जब कोई मरता है तो श्राद्ध के समय उसके पुत्र अथवा अभाव में परिवार के समीपस्थ व्यक्ति चावल का छोटा-छोटा गोल-गोल गेंद जिसे पिण्डा कहा जाता है बना कर मृतक को चढ़ाते हैं। अन्त में श्री दफ्तरी ने एक तीसरा मत पिण्ड के सम्बन्ध में स्थापित किया है। इन्होंने भोजन करने के अर्थ में पिण्ड शब्द को लिया है। सपिण्ड का अर्थ साथ बैठ कर भोजन करना बताया है। इस प्रकार सपिण्डता के यह तीन अर्थ साधारणतया प्रचलित हैं परन्तु विशेष प्रचलित

---

१ हिन्दू परिवार मीमांसा—हरदत्तवेदालंकार, पृ० ३१२।
२ वही, पृ० ३१४।
३ भारत की जन जातियाँ तथा संस्थाएँ—सत्यव्रतसिद्धान्तालंकार, पृ० ४६६।

ह प्रथम दो अर्थ ही। श्री दफ्तरी के अर्थ को न कोई मान्यता मिली है और न इसका सामाजिक जीवन पर कोई महत्व ही है।

मिताक्षरा और दायभाग ने सपिण्ड शब्द का जो प्रयोग अपनाया है उसी प्रयोग और अर्थ को आधार मान कर इन्होंने अपने सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार के सिद्धान्तों में उत्तराधिकारियों का क्रम निश्चित किया है। इसकी विस्तृत व्याख्या 'हिन्दू परिवार' अध्याय में की जा चुकी है।

पुन: विवाह का वर्णन करते हुए हमने विवाह की मान्यता में एक मान्यता सपिण्ड को भी माना है। ये सभी वर्णों के विवाह में समान महत्व की मानी जाती है जैसा नारद ने स्वयं कहा है—

सपिण्डता निवर्तेत सर्ववर्णेष्वयं विधिः ।

इस प्रकार के विवाह का सदा विरोध किया गया है। दोनों ही सैद्धान्तिकों के अनुसार असपिण्ड विवाह ही होना चाहिए। याज्ञवल्क के अनुसार माता को ओर से पाँचवां पोढ़ी के बाद तथा पिता को ओर से सातवों पोढ़ी के बाद हो विवाह करना चाहिए। परन्तु कुछ लोगों ने याज्ञवल्क को स्वीकार करते हुए यहाँ तक कहा है कि अन्तिम संख्या में भी विवाह हो सकता है। याज्ञवल्क की हो मान्यता को अक्षरशः मिताक्षरा ने स्वीकार किया है। परन्तु यदि किसी पूर्वज ने दो जाति को स्त्रियों से विवाह कर लिया हो तो दोनों के परिवार से सपिण्डता किस सीमा तक रहे इसके लिए यह अधिनियम बनाया गया—

एतच्चसमानजातीये द्रष्टव्यम् । बिजातीये तु विशेषतः।....

त्रिपुरुषमेव सापिण्डयमिति । (मिता०)

मिताक्षरा का यही सिद्धान्त अल्प परिवर्तन के साथ लगभग सर्वत्र समान रूप से स्वीकार किया गया। फिर भी विवर्जन में पोढ़ियों की सीमा अलग-अलग रखी गई। मामा की लड़की से विवाह करने के प्रश्न पर धर्मशास्त्रों में मतभेद है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में इसे 'पतनीय' बताया गया है। मनु ने कहा है कि इस प्रकार समीपस्थ सम्बन्धी से विवाह करने पर पुरुष को दोष लगता है। उससे बचने के लिए यह आवश्यक है कि वह चान्द्रायण व्रत करे। आपस्तम्ब ने भी यही दण्ड बताया है। फिर भी साधारणतया यही नियम है कि जो तीन पोढ़ी से दूर का सम्बन्धी है उससे विवाह किया जा सकता है। पराशर, मनु, स्मृतिचन्द्रिका आदि ने इसकी मान्यता स्वीकार करते हुए यह उल्लेख किया है कि वैदिक काल में यह मान्यता प्रचलित नहीं थी। इस परिस्थिति में जो स्त्री विवाह करती है वह पुरुष के गोत्र में प्रविष्ट हो जाती है। पर यह परिवर्तन स्त्री के वर्ण में तभी होता है जब विवाह मान्य प्रकार का हो। यदि यह अमान्य प्रकार का विवाह हो तो स्त्री का वर्ण परिवर्तित नहीं होता।

मनु, याज्ञवल्क तथा दूसरे विचारकों ने कहा है कि किसी भी व्यक्ति

को उसी लड़की से विवाह करना चाहिए जो पुरुष से चार या पाँच पीढ़ी की दूरी की हो। परन्तु पराशर ने कहा है कि पाँचवीं पीढ़ी के पुरुष का विवाह पाँचवीं पीढ़ी की स्त्री से नहीं होना चाहिए। धर्मसिन्धु के अनुसार केवल विषम परिस्थिति में जब असपिण्ड विवाह किसी भी पुरुष का सम्भव न हो सके तो सपिण्ड विवाह करना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में सपिण्ड की सीमाएँ संकुचित हो जाती हैं। पर जो असपिण्ड विवाह सम्पादित कर सकते हों उन्हें सपिण्ड विवाह किसी भी परिस्थिति में नहीं करना चाहिए। आश्वल्यायन ने कहा है कि विवाह के एक वर्ष की अवधि के बाद पुरुष और स्त्री दोनों ही एक गोत्र के हो जाते हैं। यम तथा शंखलिखित ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि विवाह के चार दिन के अन्दर ही पुरुष और स्त्री का गोत्र तथा पिण्ड एक हो जाता है।

दूसरी समस्या इस सम्बन्ध में यह उठती है कि विमाता की सन्तति के साथ किस प्रकार सपिण्डता रखी जाय। सौतेली माँ के साथ सपिण्डता केवल उसके समीपी सम्बन्धियों तक ही रखना चाहिए। दूसरा विचार इस सम्बन्ध में यह है कि सौतेली माँ के पितृ पक्ष की ओर से चार पीढ़ी तक सपिण्डता मानना चाहिए। गृहपरिशिष्ट के अनुसार किसी भी पुरुष को यही उचित है कि वह ऐसी लड़की के साथ विवाह करे जिसके साथ कोई विरुद्ध सम्बन्ध न हो।

जहाँ तक गोद लिए हुए पुत्र के साथ सपिण्डता का प्रश्न है, इस विषय में बहुत अधिक मतभेद है। वह पुत्र जो गोद दे दिया जाता है अपने वास्तविक पिता के साथ सात पीढ़ी तक तथा गोद लिए हुए पिता के साथ तीन पीढ़ी तक सपिण्ड रहता है। फिर यह भी कहा गया है यदि जातकर्म से उपनयन संस्कार तक के सभी संस्कार, गोद लेने वाले परिवार में ही बालक का हुआ हो तो गोद लेने वाले परिवार के साथ सात पीढ़ी तक उसकी सपिण्डता बनी रहती है और केवल गोद लेने वाले परिवार में उसका उपनयन संस्कार ही हुआ हो तो सपिण्डता केवल पाँच पीढ़ी तक ही बनी रहती है।

जीमूतवाहन तथा रघुनन्दन ने तो समान रूप से स्वीकार किया है कि भूल से विवर्जन किसी भी पक्ष से, चाहे वह मातृ पक्ष से हो अथवा पितृ पक्ष से हो, तीन पीढ़ी तक ही होना चाहिए। इस विवर्जन का कारण यह है कि जो रक्त दोष किसी भी परिवार में विद्यमान हो वह पुनर्जीवन न प्राप्त करता रहे। डा० काणे ने कहा है कि समीपस्थ विवाह से प्रेम कम हो जाता है।

२ सगोत्र

ऋग्वेद में गोत्र का अर्थ है 'गोशला।' परन्तु लाक्षणिक अथ में गोत्र से अभिप्राय है बादल, राक्षस, पर्वतश्रेणी आदि। कोई भी ऐसा उदाहरण ऋग्वेद में प्राप्य नहीं जिसके आधार पर गोत्र का अर्थ एक ही पूर्वज के अधिकारियों से लिया जाय। अर्थववेद

में भी इस प्रकार का कोई वर्णन प्राप्य नहीं। एक स्थान पर इस पुस्तक में 'विश्व-गोत्रैः' शब्द प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय है सम्पूर्ण विश्व के लोगों का संगठन। इस प्रकार के वैदिक प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि गोत्र अथवा सगोत्र शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में पीछे हुआ कभी भी वैदिक काल में प्रचलित नहीं था।

वैदिक साहित्य में अवश्य ही गोत्र शब्द का प्रयोग हुआ है पर दूसरे अर्थ में। हमारा यहाँ गोत्र से अभिप्राय है एक परिवार से जिसके सभी सदस्य तथा उनके उत्तराधिकारी जो पीढ़ियों से चले आ रहे हैं अपने को एक ऋषि की संतान बताते हैं। प्रायः आज के प्रचलन में जब किसी का गोत्र पूछा जाता है तो वह किसी भी ऋषि का नाम लेकर कहता है कि मैं अमुक गोत्र हूँ। इस प्रकार का प्रयोग तैतरीय संहिता में हुआ है। डा० काणे के मतानुसार गोत्र में कोई भी अपने किसी गुरु के साथ सम्पूर्ण परिवार को सम्बन्धित करता है जिस प्रकार सामान्य जीवन में हम अपना परिवार अपने पिता से सम्बन्धित करते हैं। तैतरीय संहिता के बहुत पहले जमदग्नि एक पुराने साधु थे। उनकी कई वंशावलियाँ संहिता की रचना के समय तक व्यतीत हो चुकी थीं फिर भी वह वर्ग जो अपनी परम्परा जमदग्नि से बताता था उसके लिए इसमें जमदग्नेय शब्द प्रयुक्त है। इस प्रकार के ऋषि परम्परा पर बहुत से परिवारों के नामों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है पर वहाँ गोत्र शब्द का वर्णन इस अर्थ में नहीं किया गया है।

ब्राह्मण साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि संन्यासियों के नाम पर विभिन्न परिवारों का उल्लेख किया गया है जो अपनी पूजा की रीति नीति में एक दूसरे से पूर्ण भिन्न थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मण के समय गोत्र सम्बन्ध जन्मजात था।

उपनिषदों के समय गोत्र का प्रचलन व्यापक रूप से समाज में व्याप्त हो गया था। इस समय जब गुरु अपने शिष्यों को अध्यापन के समय सम्बोधित करते थे तो उनके गोत्र नाम का ही उच्चारण करते थे जैसे भारद्वाज, गार्ग, आश्वलायन, कात्यायन, भार्गव आदि। परन्तु इस समय गोत्र का कोई भी सम्बन्ध विवाह से हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता।

इस प्रकार ऊपर के अध्ययन के आधार पर दो बातों का ज्ञान मिलता है। पहला यह कि ऋग्वेद के समय से ही गोत्र शब्द का प्रचलन था पर भिन्न-भिन्न अर्थों में परन्तु परिवार और समाज की एक व्यवस्था के रूप में इसका प्रचलन ब्राह्मण एवं उपनिषदों के समय से बहुत ही व्यापक रूप से हुआ। दूसरा यह कि गोत्र से अभिप्राय, समाज के संदर्भ में, स्त्री अथवा पुरुष के समूह के एक ऐसे नाम से है जिससे उनकी पूर्व परम्परा निर्धारित होती है जो किसी न किसी पुरातन ऋषि के नाम से सम्बद्ध

होता है। इस प्रकार गोत्र से हमारा अभिप्राय उस नाम से है जिसके द्वारा किसी भी परिवार का उद्भव उसके अतीत में निर्धारित किया जा सकता है। यह उद्भव किसी न किसी ऋषि परम्परा से ही सम्बद्ध होता है। उसी ऋषि का नाम गोत्र नाम कहलाता है।

प्रारम्भ में भारतवर्ष में इस प्रकार के आठ गोत्र थे जिनके प्रवर्तक ऋषियों के नाम हैं[१]—विश्वामित्र, जमदाग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्री, वशिष्ठ, कश्यप इन सात के अतिरिक्त एक अगस्त को भी स्वीकार किया जाता है। परन्तु धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती गई। समय के बीतने के साथ क्रमशः इनकी संख्या चौबीस, उन्चास, सौ तथा सहस्रों हो गई।[२] महाभारत में चार गोत्रों का उल्लेख है, बौद्धायन ने आठ, बाणभट्ट ने अट्ठारह एवं प्रवराध्याय ने पाँच सौ गोत्रों का उल्लेख किया है।

परन्तु जहाँ तक गोत्र अथवा सगोत्र का सम्बन्ध विवाह से है वहाँ कात्यायन श्रौत सूत्र से यह ज्ञात होता है कि इसके बहुत पहले से सगोत्र विवाह समाज में विवर्जित था। ब्राह्मण साहित्य तथा गृह सूत्रों में विवाह, उत्तराधिकार, स्त्री धन के अधिकार एवं श्राद्ध के सम्बन्ध में इसका प्रयोग किया गया है। एक ही गोत्र के लोगों में परस्पर विवाह विवर्जित है। लड़के और लड़की यद्यपि एक गोत्र के होने के कारण परस्पर भाई बहन तो नहीं होते परन्तु भाई-बहन मानने लगते हैं। यह सम्बन्ध को इतना दूर तक बढ़ा दिया जाता है कि जिनका हमसे व्यक्तिगत रूप से कोई सम्बन्ध नहीं होता वह भी किसी न किसी रूप से सम्बन्धित मान लिए जाते हैं। श्री करन्दीकर के अनुसार यह प्रतिबन्ध एक हिन्दू को २१२१ लड़कियों से विवाह करने से विवर्जित करता है। इस प्रकार यह एक वहिर्विवाह निर्धारित संस्था है। कुछ लोगों की ऐसी भी धारणा है कि एक स्थान पर रहने वाले एवं एक ही वंश चिन्ह को अपना आधार मानने वाले एक गोत्र के कहे जाते हैं। पर यह विचार गलत है क्योंकि एक स्थान पर बसने वाले एवं एक ही चिन्ह को पैतृक चिन्ह मानने वाले यद्यपि व्यक्त रूप से एक ही ऋषि की संतान हैं परन्तु सटीक रूप से नहीं कहा जा सकता। इसलिए सगोत्र विवाह का विवर्जन इनके साथ नहीं लागू होता। मनु ने कहा है कि सपिण्डता तो पिता की ओर से होता है और सगोत्रता माता की ओर से इसलिए दोनों का ही विवाह में निषेध होना चाहिए।[३]

---

१ विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।
अत्रिः वसिष्ठः कश्यप इत्येते गोत्रकारकाः॥

२ चतुर्विंशति गोत्राणि। ऊनपंचाशद् गोत्र भेदाः। गोत्राणि तुशतानि अनन्तानि।

३ असपिण्डा च या मातुः असगोत्रा च या पितुः
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने।

इस सम्बन्ध में यह विधान बनाया गया है कि जो सगोत्र विवाह करेगा उसे इसके लिए दण्ड भोगना पड़ेगा। परन्तु इसके बाद उसे उस स्त्री को छोड़ना नहीं पड़ेगा पर भरण-पोषण भर देकर उसे माता अथवा बहन के समान साथ ही रखना होगा। यदि यह जानने के पूर्व कि वह स्त्री पुरुष की सगोत्र है यदि पुरुष द्वारा उसे कोई संतति उत्पन्न हो गई हो तो वह संतति काश्यप गोत्र की होगी। परन्तु जान-बूझ कर यदि कोई सगोत्र स्त्री से विवाह कर ले तो उसके लिए यह मान्यता दी गई है कि वह व्यक्ति तथा उसकी संतान चाण्डाल होंगी। पराशर ने तो यहाँ तक कहा है कि पता लग जाने पर कि पुरुष और स्त्री सगोत्र हैं ऐसी स्त्रियों का पुनः दूसरा विवाह कर देना चाहिए। आगे उन्होंने यह भी कहा है कि फिर भी यह कलि विवर्जित है।

आजकल सगोत्र विवाह का निषेध एक आवश्यक तत्व नहीं रह गया है। कभी बहुत पहले यह ऐसा रहा होगा। इसीलिए गोत्र नाम को कुछ लोगों ने अल्ल मान लिया है। प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार के अल्ल समाज में प्रचलित थे जैसे शारीरिक दोष के आधार पर काणे आदि नाम, आदत के आधार पर जैसे जै विश्वम्भर आदि, आवास के आधार पर जैसे गांधार, कौशाम्बेय आदि, ऋषियों के आधार पर जैसे अत्री, वशिष्ठ आदि, व्यवसायों के आधार पर जैसे भेषय, हस्तिप आदि। इसी प्रकार किसी भी परिवार में जब कोई भी विशिष्ट सम्मान का व्यक्ति हो जाता है तो वह परिवार उसी के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है तथा उस परिवार की शाखा अपने पूर्व गोत्र को छोड़ कर उसी व्यक्ति के नाम को अपना गोत्र मान लेती है। यही कारण है कि आज गोत्र की संख्या लाखों है तथा इसका विवाह में कोई विशेष निषेध नहीं है।

३. सप्रवर

हिन्दू परिवार में गोत्र और पिण्ड की तरह प्रवर शब्द का भी प्रयोग एक सामाजिक संस्था के रूप में किया जाता है। प्रवर शब्द की निष्पत्ति 'वृञ' धातु से हुई है। इसका अर्थ है चुनना। परन्तु प्र शब्द का अर्थ है प्रमुख रूप से। इस प्रकार प्रवर से हमारा अभिप्राय है उन ऋषियों से जो प्रमुख रूप से परम्परागत रूप में यज्ञ के लिए चुने जायँ। साधारण परिवार में इस प्रकार का चुनाव यजमान के लिए पुरोहित ही करता है। अतएव सामान्य रूप से पुरोहित के ही प्रवर ऋषि को यजमान अपना प्रवर ऋषि मान लेता है।

प्रवर शब्द का प्रयोग पूरे ऋग्वेद में नहीं मिलता परन्तु इसी का समानार्थी एक दूसरा शब्द आर्शेय यहाँ प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त प्रवर सम्बन्धी आदर्शों का भी प्रतिपादन इसमें किया गया है। इसमें एक ऋचा प्रयुक्त है जिसका अभि-अभिप्राय है कि, हे अग्नि मैं आपकी आराधना ठीक उसी प्रकार करता हूँ जैसे औरस भृगु एवं आश्वल्यायन ने किया था। अथववेद में इसका प्रयोग ऋषियों के सम्बन्ध में किया

गया है। तैतरीय संहिता में आर्शेय तथा प्रवर यह दोनों ही शब्द प्रयुक्त हैं में। बौद्धायन धर्मसूत्र के अनुसार तथा क्षत्रियों के सम्बन्ध में पुरोहित का यजमान अपना प्रवर निर्धारित कर लेता है। प्रवर का सम्बन्ध हमारे सामाजि में चूड़ा, विवाह और उपनयन से है।

यह सामान्य धारणा है कि सगोत्र एवं सप्रवर दोनों ही प्रकार के विवर्जित हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों अथवा इनमें से एक भी बंधन के लिए विवर्जित है। इसका स्पष्ट प्रमाण है कि यद्यपि यास्क, वादुल अ गोत्र यद्यपि परस्पर भिन्न हैं फिर भी इनमें परस्पर विवाह नहीं हो सकता क्योंकि प्रवर ऋषि एक ही हैं भार्गव, वशिष्ठ आदि। पुनः एक गोत्र के कई प्रव हो सकते हैं। यदि किसी गोत्र में कोई भी ऐसा प्रवर ऋषि हो जो अन्य अ प्रवर ऋषियों को छोड़कर दूसरे गोत्र में भी विद्यमान हो तो भी वह दोनों सप्रवर माने जाते है और उनमें विवाह हो ही नहीं सकता। पर अंगिरस के समुदाय के प्रवर ऋषियों में केवल यदि एक ऋषि में समता हो तो वह नहीं माने जा सकते जब तक कि दो अथवा दो से अधिक प्रवर ऋषि इस दूसरे गोत्र में समान नहीं हों। यह हुई ब्राह्मणों की बात। जब हम क्षत्रियों त पर उतर आते हैं तो इसमें भिन्नता हो जाती है। इन वर्णों का कोई अपना प्रवर नहीं होता। यह अपने प्रवर के अभाव में अपने पुरोहित के ही प्रवर को प्रवर मान लेते हैं। इस प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्यों का व्यक्तिगत कोई प्रवर नहीं होता। मनुस्मृति के श्लोक की व्याख्या करते हुए मेधातिथि ने कि गोत्र और प्रवर केवल ब्राह्मणों के लिए ही है। अन्य वर्णों का इससे कोई नहीं होता। मिताक्षरा भी इनके सम्बन्ध में पुरोहित के ही गोत्र को मानता है पुरातन साहित्य एवं अभिलेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि राजाओं का तथा का अपना अलग प्रवर और गोत्र होता था। इस सम्बन्ध में यह भी कहा ग जो अपना गोत्र भूल जाय तो वह पुरोहित का गोत्र अपना सकता है। ऐसा पर केवल पुरोहित की लड़की के साथ ही विवाह विवर्जित बताया गया है साथ नहीं। कुछ स्मृतिकार यह छूट देते हैं कि जब अपना गोत्र भूल जाय तो गोत्र उसे अपना लेना चाहिए।

इस प्रकार सप्रवर विवाह समाज में आज भी पुरातन काल की त र्जित है। अन्तर केवल इतना ही है कि पुरातन काल में जहाँ इसके स पूर्ण कठोरता बर्ती जाती थी वहाँ आज उतना कठोर सामाजिक बंधन नहीं

सपिण्ड, सगोत्र एवं सप्रवर यह तीनों ही पारिवारिक जीवन से सम्ब प्रमुख रूप से विवाह, उपनयन, श्राद्ध और उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी अप रखते हैं। इनमें सबसे अधिक सम्बन्ध इनका विवाह से ही होता है। इनकी मान्यता सर्वत्र स्वीकार की जाती है।